Downloaded from https:// www.studiestoday.com

समाजशास्त्र का परिचय

कक्षा–11

माध्यमिक शिक्षा बोर्ड राजस्थान, अजमेर

राजकीय विद्यालयों में निःशुल्क वितरण हेतु

प्रकाशक
राजस्थान राज्य पाठ्यपुस्तक मण्डल, जयपुर

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

संस्करण : 2016

© माध्यमिक शिक्षा बोर्ड राजस्थान, अजमेर
© राजस्थान राज्य पाठ्यपुस्तक मण्डल, जयपुर

मूल्य :

पेपर उपयोग : 80 जी.एस.एम. मैफलीथो पेपर आर.एस.टी.बी. वाटरमार्क

कवर पेपर : 220 जी.एस.एम. इण्डियन आर्ट कार्ड कवर पेपर

प्रकाशक : राजस्थान राज्य पाठ्यपुस्तक मण्डल 2–2 ए, झालाना डूंगरी, जयपुर

मुद्रक :

मुद्रण संख्या :

सर्वाधिकार सुरक्षित

- प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना इस प्रकाशन के किसी भाग को छापना तथा इलैक्ट्रानिकी, मशीनी, फोटोप्रतिलिपि, रिकॉर्डिंग अथवा किसी अन्य विधि से पुनः प्रयोग पद्धति द्वारा उसका संग्रहण अथवा प्रसारण वर्जित है।
- इस पुस्तक की बिक्री इस शर्त के साथ की गई है कि प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना यह पुस्तक अपने मूल आवरण अथवा जिल्द के अलावा किसी अन्य प्रकार से व्यापार द्वारा उधारी पर, पुनर्विक्रय या किराए पर न दी जाएगी, न बेची जाऐगी।
- इस प्रकाशन का सही मूल्य इस पृष्ठ पर मुद्रित है। रबड की मुहर अथवा चिपकाई गई पर्ची (स्टिकर) या किसी अन्य विधि द्वारा अंकित कोई भी संशोधित मूल्य गलत है तथा मान्य नहीं होगा।
- किसी भी प्रकार का कोई परिवर्तन केवल प्रकाशक द्वारा ही किया जा सकेगा।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

पाठ्य पुस्तक निर्माण समिति

पुस्तक–समाजशास्त्र का परिचय कक्षा–11

संयोजक :– प्रो. सुरेश चन्द्र राजोरा (संयोजक)
कोटा विश्वविद्यालय, कोटा

लेखकगण :–

1. डॉ. प्रताप पिंजानी
राजकीय महाविद्यालय, अजमेर

2. डॉ. पीयूष शर्मा
महाराणा प्रताप राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, चित्तौड़गढ

3. गजेन्द्र कुमार मालवीय
राजकीय महाविद्यालय, झालावाड़

4. डॉ. लीलाधर सोनी
राजकीय महाविद्यालय, अजमेर

5. श्रीमती राधा शर्मा व्याख्याता
राजकीय उच्च माध्यमिक विद्यालय, श्योपुर, सांगानेर जयपुर

नि:शुल्क वितरण हेतु

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

दो शब्द

विद्यार्थी के लिए पाठ्यपुस्तक क्रमबद्ध अध्ययन, पुष्टिकरण, समीक्षा और आगामी अध्ययन का आधार होती है। विषय–वस्तु और शिक्षण–विधि की दृष्टि से विद्यालयीय पाठ्यपुस्तक का स्तर अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाता है। पाठ्य पुस्तकों को कभी जड़ या महिमामण्डित करने वाली नहीं बनने दी जानी चाहिए। पाठ्यपुस्तक आज भी शिक्षण–अधिगम–प्रक्रिया का एक अनिवार्य उपकरण बनी हुई है, जिसकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते।

पिछले कुछ वर्षों में माध्यमिक शिक्षा बोर्ड के पाठ्यक्रम में राजस्थान की भाषागत एवं सांस्कृतिक स्थितियों का प्रतिनिधित्व का अभाव महसूस किया जा रहा था, इसे दृष्टिगत रखते हुए राज्य सरकार द्वारा कक्षा–9 से 12 के विद्यार्थियों के लिए माध्यमिक शिक्षा बोर्ड राजस्थान द्वारा अपना पाठ्यक्रम लागू करने का निर्णय लिया गया है। इसी के अनुरूप बोर्ड द्वारा शिक्षण सत्र 2016–17 से कक्षा–9 व 11 की पाठ्यपुस्तकें बोर्ड के निर्धारित पाठ्यक्रम के आधार पर ही तैयार कराई गई हैं। आशा है कि ये पुस्तकें विद्यार्थियों में मौलिक सोच, चिंतन एवं अभिव्यक्ति के अवसर प्रदान करेंगी।

प्रो. बी.एल. चौधरी
अध्यक्ष
माध्यमिक शिक्षा बोर्ड राजस्थान, अजमेर

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

भूमिका

हमारे देश में समाजशास्त्र को एक औपचारिक विधा के रुप में 1919 में स्थापित किया गया। इस प्रकार यह विधा अपने शताब्दी वर्ष की ओर अग्रसर है। उल्लेखनीय है कि प्रारम्भ से ही यह विषय समावेशी प्रगति का रहा है तथा समाज की संरचना को निर्मित करने वाले घटकों एवं उन्हें प्रभावित करने वाले कारकों का अध्ययन अध्यापन इस विषय के अन्तर्गत होता आया है लेकिन विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी ने जितनी तेजी से मानवीय जीवन शैली को प्रभावित एवं परिवर्तित किया है, उसी गति से समाजशास्त्र के विविध आयाम भी विकसित हुए है। समाजशास्त्र की मौलिक सैद्धांतिक पृष्ठभूमि को आज की अवधारणाओं के सन्दर्भ में देखे तो हमें भी कुछ नवीनता का अनुभव होता है।

प्रस्तुत पुस्तक 'समाजशास्त्र का परिचय' कक्षा–11 के विद्यार्थियों के लिए तैयार की गई है। ज्ञातव्य है कि कक्षा–11 से पूर्व की कक्षाओं में समाजशास्त्र नाम से कोई विषय नहीं है अतः यह पुस्तक उन सभी विद्यार्थियों एवं शिक्षकों को केन्द्रित करके लिखी गई है जोकि अपने अध्ययन–अध्यापन के प्रारम्भिक काल में प्रथम बार इस विषय के बारे में समझने एवं समझाने का प्रयास करेंगे। सभी लेखकों ने माध्यमिक शिक्षा बोर्ड राजस्थान द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम के अनुसार ही पुस्तक में विभिन्न आधारभूत अवधारणाओं, सामाजिक समस्याओं, सामाजिक प्रक्रियाओं एवं प्रमुख पाश्चात्य एवं भारतीय सामाजिक विचारकों के बारे में समझ विकसित करने के उद्देश्य से सामग्री को प्रस्तुत किया है।

पुस्तक को अपेक्षित स्तर का बनाये रखने का पूरा प्रयास रहा है फिर भी इसका वास्तविक उपयोग करने वाले शिक्षकों एवं विद्यार्थियों द्वारा प्राप्त सुझाव स्वागत योग्य रहेगे।

–संयोजक एवं लेखकगण

निःशुल्क वितरण हेतु

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

अनुक्रमणिका

1.	समाजशास्त्र का परिचय	1–9
2.	मूलभूत अवधारणाएँ–I	10–43
3.	मूलभूत अवधारणाएँ–II	44–64
4.	सामाजिक संस्थाएँ	65–94
5.	संस्कृति एवं समाजीकरण	95–107
6.	संरचना, स्तरीकरण और प्रक्रियाएँ	108–128
7.	सामाजिक परिवर्तन एवं सामाजिक नियंत्रण	129–138
8.	पारिस्थितिकी एवं समाज	139–147
9.	पश्चिमी सामाजिक विचारक	148–160
10.	भारतीय समाजशास्त्री	161–172

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

1. समाजशास्त्र का परिचय

समाजशास्त्र का उद्भव
(Emergence of Sociology)

आप एक नवीन विषय समाजशास्त्र को पढ़ने की शुरूआत कर रहे हैं। हम इस विषय के सन्दर्भ में वह सब जानेंगे जो इस स्तर पर आवश्यक है और इसकी शुरुआत हम समाजशास्त्र की एक विषय के रूप में उत्पत्ति से करेंगे। समाज में बनने वाले एवं विकसित होने वाले साधन, तकनीक, यन्त्र, परम्पराएँ, सामाजिक मूल्य इत्यादि तात्कालिक समाज की आवश्यकता के कारण ही जन्म लेते हैं इसी प्रकार किसी विषय की उत्पत्ति भी समाज में तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होती है। जब मनुष्य की रुचि अन्तरिक्ष में बढ़ी तो खगोल विज्ञान (Astronomy) का विकास हुआ, समुद्र की गहराईयों को जानने के लिये समुद्र विज्ञान (Oceanography) का विकास हुआ, बीमारियों से लड़ने के लिये आयुर्वेद एवं चिकित्सा विज्ञान (Medical Science) इत्यादि का विकास हुआ उसी प्रकार हमने समाज की गतिविधियों को समझने के लिये अर्थशास्त्र (आर्थिक गतिविधियाँ) राजनीतिशास्त्र (राजनीतिक गतिविधियाँ) इत्यादि का विकास किया। 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक किसी ऐसे विज्ञान का विकास नहीं हुआ था जो सम्पूर्ण समाज का अध्ययन करता हो। किन्तु वैश्विक सामाजिक व्यवस्थाओं में बहुत तेजी से परिवर्तन हो रहा था। इनमें से कुछ ऐसी सामाजिक स्थितियाँ जिन्हें समाजशास्त्र के उद्भव के लिए जिम्मेदार माना जाता है, निम्न हैः— सन् 1450 से 1800 के बीच के समय में यूरोप में वाणिज्यिक क्रान्ति (Commercial Revolution) हुई। पुर्तगाल, इंग्लैण्ड, हालैण्ड और स्पेन जैसे देशों में एशिया के देशों से व्यापार को बढ़ाने की होड़ शुरू हो गई, भारत और अमेरिका जैसे देशों की खोज हुई। इससे यूरोप का व्यापार एक वैश्विक व्यापार में बदलने लगा। कागज की मुद्रा का विकास हुआ। बैकिंग व्यवस्था का विकास हुआ, मध्यमवर्ग का उदय हुआ, मध्यकालीन यूरोप में पुनर्जागरण (Renaissance) हुआ इसे वैज्ञानिक क्रान्ति की शुरूआत माना जाता है, चिकित्सा के क्षेत्र में मानव शरीर विच्छेदन (Dissection of Human Body) को स्वीकार किया गया, रसायन शास्त्र, भौतिक शास्त्र, गणित व खगोल विज्ञान इत्यादि का विकास हुआ।

फ्रांसीसी क्रान्ति (The French Revolution)— सन् 1789 में फ्रांस में क्रान्ति हुई। इस क्रान्ति द्वारा स्वतन्त्रता, समानता एवं बंधुत्व का विचार उभर कर सामने आया, अब लोग अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो गये। क्रान्ति से पूर्व फ्रांस में राजशाही थी व धार्मिक आडम्बर भी बहुत अधिक थे, आम जनता अकाल, कुपोषण, सामाजिक असमानता व शासन के अत्याचारों से पीड़ित थी। क्रान्ति द्वारा व्यवस्था बदल गई व लोकतन्त्र की स्थापना हुई। फ्रांसीसी क्रान्ति में मान्टेस्क्यु (Montesquieu) वाल्टेयर (Voltaire) व रूसो (Rousseau) जैसे दार्शनिक विचारकों के विचारों का महत्वपूर्ण योगदान माना जाता है, इनके विचारों से तार्किकता का विकास हुआ।

औद्योगिक क्रान्ति (The Industrial Revolution)— अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध व उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में यूरोप के कुछ देशों की तकनीक और सामाजिक—सांस्कृतिक व आर्थिक स्थितियों में बड़ा बदलाव आया। इसे औद्योगिक क्रान्ति नाम दिया गया। औद्योगिक क्रान्ति की शुरूआत इंग्लैण्ड से मानी जाती है। इस क्रान्ति ने यूरोप व अन्य देशों के नागरिकों के सामाजिक व आर्थिक जीवन में अनेक बदलाव किये। उद्योगों का मशीनीकरण हुआ, उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि हुई, पूँजीवाद का विकास हुआ, औद्योगिक श्रमिकों के रूप में नये वर्ग का उदय हुआ, लोग कृषि व कुटीर उद्योगों को छोड़कर बड़े उद्योगों में मजदूरी करने लगे। नये नये शहरों का विकास होने लगा किन्तु इस व्यवस्था में श्रमिकों का शोषण बड़े पैमाने पर हो रहा था।

इस प्रकार यूरोप में होने वाले सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक व आर्थिक बदलावों ने एक ऐसे विषय की आवश्यकता को उत्पन्न किया जो सामाजिक व्यवस्था का वैज्ञानिक तरीके से अध्ययन कर सके अतः सन् 1838 में फ्रांसीसी दार्शनिक आगस्ट काम्टे (Auguste Comte) ने एक विषय के रूप में समाजशास्त्र की शुरूआत की। उन्होंने पहले इसे सामाजिक भौतिकी (Social Physics) नाम दिया जिसे बाद में समाजशास्त्र (Sociology) कर दिया।

भारत में समाजशास्त्र का विकास
(Development of Sociology in India)

भारत में समाजशास्त्र की एक विषय के रूप में शुरूआत बहुत देर से हुई। किन्तु सामाजिक जीवन के विषय में अध्ययन प्राचीन काल से ही होता रहा है। 'रामायण' व 'महाभारत' जैसे ग्रन्थ, कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' व मनु द्वारा लिखित 'मनुस्मृति' तथा ऐसे ही अनेक ग्रन्थों में हमें तात्कालिक सामाजिक व्यवस्था के विषय में पता चलता है किन्तु यह ग्रन्थ किसी विषय के परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखकर नहीं लिखे गये थे। यूरोप में समाजशास्त्र के उद्भव के प्रमुख कारण फ्रांसीसी क्रान्ति व औद्योगिक क्रान्ति माने जाते हैं किन्तु भारत में समाजशास्त्र बहुत बाद में आया तथा उस समय भारत ब्रिटिश अधीनता में था इस कारण यहाँ प्रारम्भिक समाजशास्त्रीय अध्ययन अधिकांशतः यूरोपियन विद्वानों द्वारा किये गये।

भारत में समाजशास्त्र की वास्तविक शुरूआत बम्बई

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

विश्वविद्यालय से मानी जाती है। जहाँ सन् 1919 में पैट्रिक गेडिस (Petric Geddes) की अध्यक्षता में समाजशास्त्र विभाग की शुरूआत हुई हालांकि ऐच्छिक विषय के रूप में यह सन् 1914 से पढ़ाया जाने लगा था। इसी तरह 1917 में ऐच्छिक विषय के रूप में कलकत्ता विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र की शुरूआत हुई। 1921 में लखनऊ विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र की शुरूआत हुई तथा 1923 में आन्ध्र व मैसूर विश्वविद्यालयों में भी इसकी शुरूआत हुई। 1952 में 'Indian Sociological Society' की स्थापना की गई। जिससे सभी समाजशास्त्रियों को जुड़ने का आधार मिला। प्रारम्भ में समाजशास्त्र को अन्य विषयों के साथ पढ़ाया जाता था। जिनमें मानवशास्त्र एवं अर्थशास्त्र प्रमुख थे। स्वतन्त्रता से पूर्वकाल में समाजशास्त्र का अधिक विस्तार नहीं हो पाया। भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति के कुछ ही वर्षों बाद समाजशास्त्र का विकास तेजी से हुआ तथा अनेक राज्यों के विश्वविद्यालयों व महाविद्यालयों में इसे पढ़ाया जाने लगा और समाजशास्त्र की लोकप्रियता बढ़ने लगी। 'टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल वर्क' लखनऊ तथा 'इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल साईन्स' आगरा जैसे अनुसंधान केन्द्रों की भी स्थापना हुई, जहाँ समाजशास्त्रीय अनुसंधान होने लगे। भारत के प्रमुख समाजशास्त्रियों में से कुछ निम्न है– एस.सी. दूबे, एम.एन. श्रीनिवास, ए.के. सरन, डी.एन. मजुमदार, जी.एस. घुरिये, के.एम. कपाड़िया, पी.एच. प्रभु, ए.आर. देसाई, इरावती कर्वे, राधाकमल मुकर्जी, योगेन्द्र सिंह इत्यादि। भारतीय समाजशास्त्रियों में एम. एन. श्रीनिवास द्वारा दी गई 'संस्कृतिकरण' 'पश्चिमीकरण' व 'प्रभुत्व जाति' की अवधारणाओं व राधाकमल मुकर्जी द्वारा दी गई 'सामाजिक मूल्य' की अवधारणा के अलावा वैश्विक स्तर पर कोई उल्लेखनीय सिद्धान्त व अवधारणाओं का विकास भारतीय समाजशास्त्रियों द्वारा नहीं हुआ हो जो चिन्ता के साथ–साथ सुधार का विषय भी है। वर्तमान में आवश्यकता इस बात की है कि समाजशास्त्र को केवल कक्षाओं में पढ़ाने वाले विषय तक सीमित न रखकर इसमें प्रायोगिक कार्य व अनुसंधान को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए, ताकि समाज को इससे वास्तविक अर्थों में लाभ हो सके।

समाजशास्त्र की प्रकृति
(Nature of Sociology)

समाजशास्त्र के विषय क्षेत्र को समझने के पश्चात् हमें समाजशास्त्र की प्रकृति को समझना चाहिए। यहाँ हमें यह ध्यान रखना होगा कि विषय की प्रकृति से तात्पर्य यह पता लगाना होता है कि यह विषय विज्ञान है अथवा कला है या कुछ और है। विज्ञान शब्द सुनते ही हमारी कल्पना में प्रयोगशाला और उसमें काम में ली जानी वाली वस्तुएँ ध्यान में आती है। लेकिन हमें यह समझना जरूरी है कि विज्ञान कहते किसे हैं? स्टूअर्ट चेस (Stuart Chase) विज्ञान का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहते हैं "विज्ञान का सम्बंध पद्धति से है न कि विषय सामग्री से।" इस प्रकार चेस विषय सामग्री की तुलना में ज्ञान प्राप्त करने की पद्धति को विज्ञान मानते हैं। इसी प्रकार कार्ल पियर्सन (Carl Pearson) लिखते हैं कि "सभी विज्ञानों की एकता उसकी पद्धति में है न कि विषयवस्तु में।"

उपरोक्त कथनों से स्पष्ट है कि विज्ञान का सम्बंध ज्ञान प्राप्त करने की पद्धति से है अर्थात् एक विशेष प्रकार के तरीके से प्राप्त ज्ञान को हम विज्ञान कहते हैं और यह ज्ञान वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर प्राप्त किया जा सकता है जिसके प्रमुख चरण (Steps) निम्न हैं–

1. समस्या/अध्ययन विषय का चयन
2. उपकल्पना का निर्माण
3. तथ्यों का संकलन
4. तथ्यों का वर्गीकरण एवं विश्लेषण
5. सामान्यीकरण/सिद्धान्त निर्माण

अब तक हम यह तो समझ गये हैं कि वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर प्राप्त ज्ञान ही विज्ञान होता है अतः अब विज्ञान की प्रमुख विशेषताओं को भी जानना चाहिए जो निम्न प्रकार है–

1. **वस्तुनिष्ठता (Objectivity)**– वस्तुनिष्ठता का अर्थ अध्ययनकर्ता द्वारा निष्पक्ष अध्ययन करने से है। अध्ययनकर्ता अपने विचारों, मनोवृत्तियों एवं पूर्वधारणाओं को अध्ययन में सम्मिलित नहीं करके तथ्यों के आधार पर अध्ययन करता है।
2. **सत्यापनीय (Verifiability)**– विज्ञान में संकलित ज्ञान एवं तथ्यों पर सन्देह होने पर उनका सत्यापन किया जा सकता है।
3. **निश्चितता (Definiteness)**– वैज्ञानिक ज्ञान वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर ही प्राप्त किया जा सकता है जिसके निश्चित चरण (Steps) होते हैं।
4. **कार्यकारण सम्बन्ध (Cause-effect relationship)**– विज्ञान कार्यकारण सम्बन्धों को जानने का प्रयास करता है अर्थात घटनाओं के पीछे छिपे कारणों को जानने का प्रयास करता है।
5. **सामान्यीकरण (Generalization)**– विज्ञान में अध्ययन के द्वारा प्राप्त तथ्यों के आधार पर किसी सामान्य नियम को ज्ञात किया जाता है।
6. **पूर्वानुमान (Predictability)**– विज्ञान में तथ्यों के अध्ययन के आधार पर घटनाओं के भविष्य का पूर्वानुमान लगाया जाता है।
7. **आनुभाविकता (Empiricism)**– विज्ञान में अध्ययनकर्ता इन्द्रियों की सहायता से तथ्यों को एकत्र एवं अवलोकन करता है अर्थात यह ज्ञान कोरी कल्पना पर आधारित नहीं होता है।
8. **सार्वभौमिकता (Universality)**– वैज्ञानिक ज्ञान के आधार पर बनाए गये नियम सार्वभौमिक होते हैं अर्थात् यह समय व स्थान के साथ बदलते नहीं है।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति
(Scientific Nature of Sociology)

अब तक हम यह जान चुके हैं कि विज्ञान किसे कहते हैं इसलिए अब हम समाजशास्त्र की प्रकृति को समझेंगे। समाजशास्त्र के जनक आगस्ट काम्टे सहित, इमाईल दुर्खीम, मेक्सवेबर इत्यादि विद्वानों ने समाजशास्त्र को आरम्भ से ही विज्ञान माना है। हम निम्न आधार पर समाजशास्त्र को विज्ञान मानते हैं–

1. वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग
2. वस्तुनिष्ठ अध्ययन
3. सत्यापनीय
4. निश्चितता
5. कार्य–कारण सम्बन्धों की स्थापना
6. सामान्यीकरण करना
7. पूर्वानुमान लगाना
8. आनुभाविक अध्ययन
9. सार्वभौमिकता

उपर्युक्त बिन्दुओं को हम पूर्व में समझ चुके हैं किन्तु हमें यह ध्यान रखना होगा कि समाजशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है और इस कारण इसकी अपनी सीमाएँ (Limitations) है प्राकृतिक विज्ञानों की विषय सामग्री विवेकशील नहीं होती है किन्तु समाजशास्त्र की विषय सामग्री मनुष्य होते हैं जो कि अपने व्यवहार में परिवर्तन ला सकते हैं अतः समाजशास्त्र में सत्यापनीयता व पूर्वानुमान लगाना प्राकृतिक विज्ञानों से अधिक कठिन होता है। इसी प्रकार प्राकृतिक वैज्ञानिकों का अपनी अध्ययन सामग्री से किसी प्रकार का अपनापन, प्यार, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, लगाव या नफरत इत्यादि नहीं होता है। किन्तु एक समाजशास्त्री अपने जैसे दूसरे मनुष्यों का अध्ययन करता है तो उसके मन में पूर्वधारणा हो सकती है जो उसके अध्ययन को प्रभावित कर सकती है ऐसी स्थिति में समाजशास्त्र में वस्तुनिष्ठ अध्ययन करना प्राकृतिक विज्ञानों में अधिक कठिन है। अतः हमें यह ध्यान रखना होगा कि समाजशास्त्र समाज विज्ञान है, प्राकृतिक विज्ञान नहीं है।

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य
(Sociologial Perspective)

पिछले अध्ययन में समाजशास्त्र का विषय क्षेत्र पढ़कर हम यह जान चुके हैं कि एक ही समस्या अथवा अध्ययन विषय का अध्ययन अलग–अलग विज्ञान कर सकते हैं तो अब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि एक ही विषय का अध्ययन करने पर भिन्न–भिन्न विज्ञानों के अध्ययन में क्या अन्तर होगा।

इस अन्तर को समझने के लिये हमें परिप्रेक्ष्य (Perspective) को समझना होगा, आपको इस बात को हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि हर विज्ञान का अपनी अध्ययन समस्या को अध्ययन करने का एक नजरिया अथवा दृष्टिकोण होता है जो कि दूसरे विज्ञानों से अलग होता है इस नजरिये अथवा दृष्टिकोण को हम परिप्रेक्ष्य कहते हैं। इसे अधिक समझने के लिए हम समाजशास्त्री ई. चिनोय (E. Chinoy) द्वारा अपनी पुस्तक ''सोशियोलोजिकल पर्सपैक्टिव'' (Sociological Perspective) में दिये गये उदाहरण से समझेंगे– चिनोय के अनुसार एक डबलरोटी का अध्ययन अर्थशास्त्री द्वारा उसकी बाजार में माँग, उत्पादन लागत, विक्रय मूल्य, लाभ–हानि इत्यादि आर्थिक परिप्रेक्ष्य में किया जायेगा तथा एक इतिहासकार द्वारा ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य द्वारा उसका अध्ययन किया जाएगा जिसमें वह डबलरोटी की उत्पत्ति का इतिहास तथा उसके प्रसार को जानने की कोशिश करेंगे इसी प्रकार एक पोषाहार विशेषज्ञ यह देखेंगे कि इससे खाने वाले के शरीर को कितना पोषण मिल रहा है और यह स्वास्थ्यप्रद भी है अथवा नहीं, एक मनोवैज्ञानिक का परिप्रेक्ष्य अलग होगा वह इसका मूल्यांकन खान–पान की आदतों के दृष्टिकोण से कर सकते हैं मगर एक समाजशास्त्री समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य से यह देखेंगे कि यह डबलरोटी सामाजिक सम्बन्धों को कैसे प्रभावित कर रही है।

हम जान चुके हैं कि प्रत्येक विज्ञान का घटना को अध्ययन करने का अपना एक विशिष्ट परिप्रेक्ष्य होता है। आप सोच रहे होंगे कि एक डबलरोटी सामाजिक सम्बन्धों को कैसे प्रभावित कर सकती है तो हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि हो सकता है डबलरोटी खाते समय बच्चे आपस में झगड़ पड़े हो सकता है इस बात को लेकर पति–पत्नी अथवा परिवार के अन्य सदस्य भी झगड़ लें, हो सकता है कि डबलरोटी खाकर बच्चे बहुत खुश हो जायें और परिवार के सदस्यों में आपसी स्नेह अधिक प्रगाढ़ हो जाये अतः हर वस्तु सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित कर सकती है।

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य का अर्थ
(Meaning of Sociological Perspective)

समाजशास्त्री परिप्रेक्ष्य का अर्थ जानने से पहले हमें परिप्रेक्ष्य का अर्थ जानना होगा, परिप्रेक्ष्य शब्द की अंग्रेजी पर्सपेक्टिव (Perspective) होती है, पर्सपेक्टिव लैटिन भाषा के पर्सपेक्ट (Perspect) से बना है जिसका अर्थ 'सीन थ्रू' (Seen Through) अर्थात किसी माध्यम से देखना अथवा एक सिरे से दूसरे सिरे तक देखना अथवा निरीक्षण करना है। अब हम समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य को विभिन्न विद्वानों के दृष्टिकोण से जानेंगे–

थियोडरसन एवं थियोडरसन (Theodarson and Theodarson) के मतानुसार ''मूल्य, विश्वास, अभिवृत्ति एवं अर्थ व्यक्ति को सन्दर्भ और दृष्टिकोण प्रदान करते हैं, जिसके अनुसार वह परिस्थिति का अवलोकन करता है, परिप्रेक्ष्य कहलाता है।''

लुन्डबर्ग (G.A. Lundberg) अपनी पुस्तक ''फाउन्डेशन ऑफ सोशियोलाजी'' (Foundation Of Sociology) में परिप्रेक्ष्य

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

को समझाते हैं। इनके अनुसार हमारी स्थापित आदतों की व्यवस्था से सन्दर्भ परिधि का निर्माण होता है। आदतों की यह व्यवस्था लोक भाषा में होती है जिन्हें विश्वास, सिद्धान्त अथवा जीवन दर्शन कहा जाता है।

गुडे एवं हॉट (W.J. Goode and P.K. Hatt) ने अपनी पुस्तक ''मेथड्स इन सोशियल रिसर्च'' (Metheds in Social Research) में बताया है कि किसी घटना, वस्तु या स्थिति का अध्ययन विभिन्न प्रकार से किया जा सकता है। इनके अनुसार किसी विषय का अध्ययन क्षेत्र, प्रकृति, सिद्धान्त, अवधारणाएँ एवं परिभाषाएँ उसके परिप्रेक्ष्य को निर्धारित करती है।

अब तक हम समझ चुके हैं कि समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य अध्ययन का एक दृष्टिकोण है जो इसे अन्य विज्ञानों से अलग करता है। यहाँ हमें ध्यान रखना होगा कि समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के अन्तर्गत हम किसी भी घटना अथवा स्थिति का अध्ययन उसके सामाजिक सम्बन्धों तथा सामजिक संस्थाओं, सामाजिक मूल्यों, प्रस्थिति एवं भूमिका, सामाजिक परिवर्तन सामाजिक नियन्त्रण तथा सामाजिक व्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभाव के सन्दर्भ में करते हैं।

प्रमुख रूप से समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के दो भाग अथवा पक्ष हैं प्रथम– इसमें हम व्यक्तियों के मध्य बनने वाले सम्बन्धों, उनके निर्माण की प्रक्रिया तथा उनके प्रभाव का अध्ययन करते हैं। द्वितीय– इसमें हम किसी घटना अथवा अध्ययन वस्तु का हमारी सामाजिक संस्थाओं, सामाजिक सम्बन्धों, प्रस्थिति एवं भूमिका, सामाजिक मूल्यों, मानदण्ड एवं सामाजिक व्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करते हैं।

समाजशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Sociology)

समाजशास्त्र के उद्‌भव को जानने के बाद हमें सबसे पहले समाजशास्त्र के अर्थ को जानना आवश्यक है क्योंकि जब तक हम इसके अर्थ को नहीं समझेंगे तब तक एक विद्यार्थी के रूप में हमारा ज्ञान अधूरा ही रहेगा। आपको यह ध्यान रखना चाहिये की किसी विषय के अर्थ को जानने के लिये उसकी परिभाषा को समझना जरूरी है। विभिन्न विद्वान समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र को अपने अनुभव से इस प्रकार परिभाषित किया है:–

किंग्सले डेविस (Kingsley Devis) के अनुसार ''समाजशास्त्र मानव समाज का अध्ययन है।''

एच. डब्ल्यु. ओडम (H.W. Odum) के अनुसार ''समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो समाज का अध्ययन करता है।''

मैकाइवर एवं पेज (MacIver and Page) के अनुसार ''समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों के विषय में है।'' इनके अनुसार ''सम्बन्धों के इसी जाल को हम समाज कहते हैं।''

एच.एम. जानसन (H.M. Johnson) के अनुसार ''समाजशास्त्र सामाजिक समूहों का विज्ञान है।''

गिलिन एवं गिलिन (Gillin and Gillin) के अनुसार ''समाजशास्त्र व्यापक अर्थ में व्यक्तियों के एक दूसरे के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली अन्तःक्रियाओं का अध्ययन कहा जा सकता है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं के अध्ययन से हमें पता चलता है कि डेविस और ओडम समाज के अध्ययन तथा मैकाइवर एवं पेज सामाजिक सम्बन्धों के अध्ययन पर जोर देते हैं इसी प्रकार जानसन सामाजिक समूहों और गिलिन एवं गिलिन अन्तःक्रियाओं का अध्ययन करने वाले विज्ञान को समाजशास्त्र मानते हैं। अतः समाजशास्त्र की कोई सर्वमान्य परिभाषा नहीं दी जा सकती है, किन्तु एक बात हमें पता होनी चाहिये कि सभी परिभाषाओं में भिन्नता होते हुए भी समानता है क्योंकि सामाजिक अन्तःक्रियाओं से सामाजिक सम्बन्ध बनते हैं और सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर ही समूहों का विकास होता है तथा समाज का विकास भी सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर ही होता है।

अब हम इन परिभाषाओं के आधार पर समाजशास्त्र के अर्थ को जानने का प्रयास करेंगे। क्या आप जानते हैं कि जब दो या दो से अधिक व्यक्ति एक दूसरे से बातचीत कर रहे होते हैं तो उसे अन्तःक्रिया कहते हैं और यदि अन्तःक्रिया में स्थायित्व हो और वह अर्थ पूर्ण (उद्देश्यपूर्ण) भी हो तो सामाजिक सम्बन्ध बन जाते हैं। जानसन कहते हैं कि समूह का तात्पर्य केवल व्यक्तियों से नहीं है बल्कि व्यक्तियों के मध्य उत्पन्न होने वाली अन्तःक्रियाओं की व्यवस्था से है।

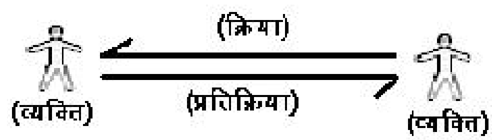

क्रिया + प्रतिक्रिया = अन्तःक्रिया

(Action + Reaction = Interaction)

अन्तःक्रिया + उद्देश्य + स्थायित्व = सामाजिक सम्बन्ध

(Interaction + Purpose + Stability = Social Relation)

हम कह सकते हैं कि समाजशास्त्र वह समाज विज्ञान है जो सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक संस्थाओं (परिवार, विवाह, नातेदारी, शिक्षण संस्थाएँ, राजनीतिक संस्थाएँ, धार्मिक संस्थाएँ इत्यादि), समूहों, सामाजिक परिवर्तन, सामाजिक नियन्त्रण, प्रस्थिति एवं भूमिका इत्यादि का अध्ययन समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से करता है। समाजशास्त्र के विद्यार्थी होने के कारण हमें यह पता होना चाहिये कि समाजशास्त्र समाज के किसी एक पक्ष का अध्ययन ही नहीं

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

करता है बल्कि हम सम्पूर्ण समाज को एक इकाई मानकर समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अध्ययन करते हैं। यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि परिभाषाओं में जिन बिन्दुओं व अवधारणाओं का अध्ययन समाजशास्त्र में करना बताया गया है उसके अलावा भी बहुत सी अवधारणाओं का अध्ययन समाजशास्त्र में किया जाता है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण को हम आगे समझेंगे। अन्त में हम समाजशास्त्र को सामाजिक व्यवस्था (Social Order) का विज्ञान कह सकते हैं। क्योंकि समाज व्यवस्था में सामाजिक संस्थाएं, सामाजिक परिवर्तन, सामाजिक नियन्त्रण, सामाजिक सम्बन्ध, प्रस्थिति एवं भूमिकाएँ इत्यादि सभी आ जाते हैं।

समाजशास्त्र का विषय क्षेत्र (SCOPE OF SOCIOLOGY)

समाजशास्त्र के अर्थ को जानने के बाद उसके विषय क्षेत्र को जानना अत्यन्त आवश्यक है। विषयक्षेत्र का अर्थ किसी भी विषय की वह सम्भावित सीमाएँ हैं जहां तक कि वह विषय फैला हुआ है अथवा उस विषय का अध्ययन सम्भव है। समाजशास्त्र एक नवीन विषय है। इस कारण से इसके विषय क्षेत्र को निर्धारित करना सरल कार्य नहीं है। विभिन्न समाजशास्त्रियों ने इस पर अपने–अपने मत प्रकट किये हैं जिसे प्रमुख रूप से दो भागों में बाँटा जा सकता है:

(1) स्वरूपात्मक सम्प्रदाय (Formal School) :

इस सम्प्रदाय के मुख्य प्रर्वतक जार्ज सिमेल् (Georg Simmel) एवं एफ. टॉनीज (F. Toennies) हैं तथा अन्य समर्थक विद्वानों में वीरकान्त (A. Vierkant), वॉन वीज (L. Von Wiese), एवं मैक्सवेबर (Max Weber), प्रमुख माने जाते हैं। यहाँ हमें यह पता होना चाहिये कि स्वरूपात्मक सम्प्रदाय समाजशास्त्र को एक विशिष्ट एवं शुद्धविज्ञान (Pure Science) मानता है तथा इस विचारधारा के अनुसार अन्य विज्ञानों जैसे राजनीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र, भौतिकशास्त्र इत्यादि की तरह ही समाजशास्त्र की भी अपनी समस्या अथवा सामग्री होनी चाहिए जिसका अध्ययन केवल समाजशास्त्र में ही किया जाये तथा जो अन्य विज्ञानों से अलग भी हो। यह सम्प्रदाय, वस्तु अथवा घटना की अन्तर्वस्तु के स्थान पर उसके स्वरूप के अध्ययन पर बल देता है। इस मत को अधिक समझने के लिये हमें कुछ प्रमुख विद्वानों के विचारों को भी जानना चाहिए।

● **जार्ज सिमेल के विचार** : इनके अनुसार प्रत्येक वस्तु का एक स्वरूप (Form) एवं एक अन्तर्वस्तु (Content) होती है जो एक दूसरे से अलग होते हैं तथा अन्तर्वस्तु और स्वरूप का एक दूसरे पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। (उदाहरणतः खाली गिलास अथवा बोतल को स्वरूप मान सकते हैं तथा उसमें भरे जाने वाले पदार्थ को अन्तर्वस्तु मान ले तो अन्तर्वस्तु कोई भी हो उसका गिलास के स्वरूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।) सिमेल के अनुसार सामाजिक सम्बन्धों को भी स्वरूप एवं अन्तर्वस्तु के आधार पर अलग किया जा सकता है और समाजशास्त्र में हमें केवल सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों (सहयोग, संघर्ष, प्रतिस्पर्धा इत्यादि) का अध्ययन करना चाहिए क्योंकि अन्तर्वस्तु का अध्ययन अन्य विज्ञान कर रहे हैं।

● **वीरकान्त के विचार** : वीरकान्त समाजशास्त्र को विशिष्ट विज्ञान मानते थे तथा उनका मानना था कि समाजशास्त्र में मानसिक सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन होना चाहिए यह स्वरूप ही व्यक्तियों को एक दूसरे से बाँधते हैं। इनके अनुसार प्रेम, सम्मान, लज्जा, सहयोग, संघर्ष, स्नेह, यश इत्यादि मानसिक सम्बन्धों से ही सामाजिक सम्बन्ध विकसित होते हैं।

● **मेक्सवेबर के अनुसार** : मेक्सवेबर भी समाजशास्त्र को एक विशिष्ट विज्ञान मानते थे तथा उनका मानना था कि समाजशास्त्र में केवल सामाजिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाना चाहिए, इनके अनुसार प्रत्येक क्रिया सामाजिक क्रिया नहीं होती है बल्कि वही क्रियाएँ सामाजिक होती है जिसमें क्रिया को करने वाले व्यक्ति अथवा व्यक्तियों द्वारा लगाए गये व्यक्तिनिष्ठ अर्थ के अनुसार वह क्रिया दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार द्वारा प्रभावित हो तथा उसी के अनुसार उसकी गतिविधि निर्धारित हो। इस प्रकार वेबर के अनुसार समाजशास्त्र में सामाजिक क्रियाओं का ही अध्ययन होना चाहिये।

इस प्रकार आप समझ ही गये होंगे की स्वरूपात्मक विचारधारा समाजशास्त्र को एक विशिष्ट विज्ञान मानती है तथा सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों के अध्ययन को ही समाजशास्त्र का विषय क्षेत्र मानती है।

इस विचारधारा की प्रमुख कमियाँ : इस विचारधारा की सोरोकिन तथा फिचर (J.H.Fichter) जैसे समाजशास्त्रियों ने आलोचना की है। जिसमें से प्रमुख निम्न हैं–

1. सामाजिक सम्बन्धों में स्वरूप तथा अन्तर्वस्तु में भेद करना अत्यन्त मुश्किल है।

2. सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूप तथा अन्तर्वस्तु एक दूसरे से प्रभावित होते हैं।

3. समाजशास्त्र को अन्य विज्ञानों से पृथक एक स्वतन्त्र तथा शुद्ध विज्ञान बनाना सम्भव नहीं है क्योंकि सभी समाज विज्ञान एक–दूसरे पर निर्भर हैं।

4. कानून शास्त्र, अर्थशास्त्र सहित कुछ अन्य विषय भी सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों (समझौता, संघर्ष, शोषण, श्रम विभाजन इत्यादि) का अध्ययन करते हैं।

(2) समन्वयात्मक सम्प्रदाय (Synthetic School) :

इस सम्प्रदाय के प्रमुख समर्थक दुर्खीम (Emile Durkheim) सोरोकिन (P.A. Sorokin) जिन्सबर्ग (M. Ginsberg) हॉबहाऊस (L. T. Hobhouse) इत्यादि प्रमुख हैं। स्वरूपात्मक सम्प्रदाय के विपरीत समन्वयात्मक सम्प्रदाय के विचारकों की मान्यता है कि समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

है और इसका अध्ययन क्षेत्र सम्पूर्ण समाज है। इनके अनुसार समाज जीवधारी शरीर के समान है जिसके सभी अंग एक दूसरे से जुड़े हुए होने के कारण एक दूसरे से प्रभावित होते हैं अतः इन अंगों के पारस्परिक सम्बन्धों को समझना आवश्यक है। इसलिए समाजशास्त्र को एक सामान्य विज्ञान के रूप में समग्र अध्ययन करना चाहिए। इस विचारधारा को समझने के लिये हम कुछ प्रमुख विद्वानों के विचारों को जानेंगे–

● **दुर्खीम के विचार** : फ्रांसीसी समाजशास्त्री दुर्खीम के मतानुसार पहले समाजशास्त्र को एक विशिष्ट विज्ञान बनाकर अन्य विज्ञानों की तरह अपने स्वतन्त्र नियमों का विकास करना चाहिए फिर सामान्य विज्ञान के रूप में अन्य समाज विज्ञानों में समन्वय स्थापित करना चाहिए दुर्खीम के अनुसार "हमारा विश्वास है कि समाजशास्त्रियों को विशिष्ट विज्ञानों जैसे कानून, इतिहास, धर्म, सामाजिक, अंकशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि में किये गये शोध से नियमित रूप से परिचित रहने की बहुत अधिक आवश्यकता है क्योंकि इनमें उपलब्ध सामग्रियों से ही समाजशास्त्र का निर्माण होना चाहिए। दुर्खीम के अनुसार समाजशास्त्र की अध्ययन वस्तु सामाजिक तथ्य (Social Facts) हैं।

● **सोरोकिन के विचार** : सोरोकिन समाजशास्त्र को सामान्य विज्ञान मानते थे, इनके अनुसार प्रत्येक सामाजिक विज्ञान विशिष्ट प्रकार की घटनाओं का अध्ययन करता है और यह घटनाएँ एक दूसरे से जुड़ी हुई रहती हैं अतः समाजशास्त्र को इन सभी घटनाओं में जो सामान्य है उसका अध्ययन करना चाहिए। एक उदाहरण से इसे समझा जा सकता है।

आर्थिक	abcdef
राजनीतिक	abcghi
धार्मिक	abcjkl
वैधानिक	abcmno
मनोरंजनात्मक	abcpqr

सारणी से पता चलता है कि सभी विज्ञानों के अध्ययन क्षेत्र में abc आते हैं किन्तु वे उसका विशेष अध्ययन नहीं करते हैं। अर्थशास्त्र def का, राजनीतिशास्त्र ghi का तथा अन्य समाज विज्ञान इसी प्रकार अपने–अपने विशिष्ट अध्ययन क्षेत्र का अध्ययन करते हैं किन्तु इन सभी में जो सामान्य तथ्य (abc) है यही समाजशास्त्र का विषय क्षेत्र है।

इस विचारधारा की प्रमुख कमियाँ– इस सम्प्रदाय की प्रमुख कमियों को विविध समाजशास्त्रियों ने बताया है जो निम्नानुसार हैं–

1. समाजशास्त्र को सामान्य विज्ञान बनाने के प्रयास में यह अन्य समाज विज्ञानों की एक खिचड़ी बन कर रह जाएगा।

2. समाजशास्त्र अन्य समाजशास्त्र पर पूरी तरह आश्रित हो जाएगा तथा इसका कोई स्वतन्त्र विषय क्षेत्र नहीं रहेगा।

3. समाजशास्त्र की अपनी पद्धति भी विकसित नहीं हो पायेगी।

निष्कर्ष– समाजशास्त्र के विषय क्षेत्र के सम्बन्ध में दोनों सम्प्रदायों के विचारकों के विचारों को जानने के बाद हमें इस बात का ध्यान रखना होगा कि दोनों ही सम्प्रदायों के विचार एकाकी हैं। समाजशास्त्र न तो पूरी तरह विशिष्ट विज्ञान है और न ही पूरी तरह सामान्य विज्ञान। समाजशास्त्र अध्ययन की आवश्यकता के अनुरूप सामान्य तथा विशिष्ट दोनों तरह के दृष्टिकोण को अपनाता है।

समाजशास्त्र का अन्य समाज विज्ञानों से सम्बन्ध
(Relation of Sociology to other Social Science)

अब तक हम जान चुके हैं कि समाजशास्त्र एक समाज विज्ञान है। कुछ अन्य समाज विज्ञानों में अर्थशास्त्र, इतिहास, मनोविज्ञान, राजनीति विज्ञान इत्यादि प्रमुख हैं। यह सभी विज्ञान अपने–अपने तरीके से समाज के किसी एक पक्ष का अध्ययन करते हैं। अध्ययन की आवश्यकताओं के कारण सभी समाज विज्ञान एक दूसरे से जुड़े हुए होते हैं। समाजशास्त्र तथा अन्य प्रमुख समाज विज्ञानों में सम्बन्ध को हम निम्नानुसार समझ सकते हैं–

1. समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र (Socialogy and Economics)– अर्थशास्त्र और समाज शास्त्र एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बंधित है। कार्लमार्क्स, मेक्सवेबर, परेटो जैसे विद्वानों को समाजशास्त्री और अर्थशास्त्री दोनों ही माना जाता है। सामाजिक घटनाएँ आर्थिक घटनाओं पर प्रभाव ड़ालती हैं और आर्थिक घटनाएँ सामाजिक घटनाओं को प्रभावित करती है। थामस (Thomas) के अनुसार वास्तव में अर्थशास्त्र समाजशास्त्र के विस्तृत विज्ञान की शाखा है। कुछ विषयों जैसे औद्योगिकरण, नगरीकरण, श्रम विभाजन, बेरोजगारी, सामाजिक कल्याण इत्यादि का दोनों विज्ञानों द्वारा अध्ययन किया जाता है।

अन्तर–

1. समाजशास्त्र सामान्य विज्ञान है। अर्थशास्त्र विशिष्ट विज्ञान है।

2. समाजशास्त्र विशेष रूप से सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करता है। जबकि अर्थशास्त्र आर्थिक घटनाओं का अध्ययन करता है।

3. समाजशास्त्र का विषय क्षेत्र अर्थशास्त्र की तुलना में व्यापक है।

2. समाजशास्त्र तथा राजनीति विज्ञान (Sociology and Political Science)– राजनीति विज्ञान में राजनीति घटनाओं, कानून प्रशासन, सम्प्रभुता, राज्य इत्यादि का अध्ययन होता है। दोनों विज्ञान एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। सामाजिक व राजनीतिक घटनाएँ एक दूसरे को प्रभावित करती

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

हैं। व्यक्ति का सामाजिक व्यवहार राजनीतिक घटनाओं से और राजनीतिक व्यवहार सामाजिक घटनाओं से प्रभावित होता है।

अन्तर–

1. समाजशास्त्र का परिप्रेक्ष्य व्यापक है जबकि राजनीति विज्ञान का परिप्रेक्ष्य सीमित है।

2. समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है जबकि राजनीति विज्ञान एक विशिष्ट विज्ञान है।

3. समाजशास्त्र सामाजिक घटनाओं के एक हिस्से के रूप में राजनीतिक घटनाओं का अध्ययन भी करता है जबकि राजनीति विज्ञान विशेष रूप से राजनीतिक घटनाओं का अध्ययन करता है।

3. समाजशास्त्र तथा इतिहास (Sociology and History)– जार्ज.ई. होबार्ट के अनुसार ''इतिहास भूतकालीन समाजशास्त्र है और समाजशास्त्र वर्तमान का इतिहास है।'' यह कथन बताता है कि दोनों विषय एक–दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बंधित है। इतिहास प्रमुख रूप से भूतकालीन महत्वपूर्ण घटनाओं का वर्णन एवं व्याख्या करता है। इतिहास घटनाओं को क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करता है।

अन्तर–

1. इतिहास की रुचि का विषय महत्वपूर्ण घटनाएँ होती है जबकि समाजशास्त्र में सामान्य घटनाओं का भी अध्ययन किया जाता है।

2. समाजशास्त्र में घटनाओं का विश्लेषण किया जाता है जबकि इतिहास में घटनाओं का विवरण होता है।

3. समाजशास्त्र में सभी घटनाओं का अध्ययन किया जाता है जबकि इतिहास में भूतकाल की घटनाओं का ही अध्ययन होता है।

4. समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है जबकि इतिहास एक विशिष्ट विज्ञान है।

4. समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान (Sociology and Psychology)– मनोविज्ञान में व्यक्तित्व, संवेग, मनोवृत्ति, सीखना, अभिप्रेरणा इत्यादि का अध्ययन किया जाता है। मनोवैज्ञानिक अध्ययन का केन्द्र बिन्दु व्यक्ति का व्यक्तित्व एवं मानसिक स्थितियाँ होते हैं। व्यक्ति का व्यवहार उसकी सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होता है। इसलिये समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान एक–दूसरे पर आश्रित है।

अन्तर–

1. समाजशास्त्र में सामूहिक व्यवहार का अध्ययन होता है जबकि मनोविज्ञान व्यक्ति की मानसिक विशेषताओं व व्यक्तिगत व्यवहार का अध्ययन करता है।

2. समाजशास्त्र का विषय क्षेत्र व्यापक है जबकि मनोविज्ञान का विषय क्षेत्र व्यक्ति केन्द्रित होने के कारण सीमित है।

3. समाजशास्त्र का परिप्रेक्ष्य सामाजिक है जबकि मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य वैयक्तिक (Indiavidualistic) है।

अब हम जान चुके हैं कि समाजशास्त्र और अन्य समाज विज्ञानों में क्या सम्बन्ध है। यहाँ हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि धीरे–धीरे समाजविज्ञान एक–दूसरे के ज्यादा निकट आ रहे हैं तथा अध्ययन की आवश्यकता के कारण दो विषयों को जोड़ने वाली इनकी शाखाएँ भी बन रही है। जैसे 'राजनीतिक समाजशास्त्र' (Political Sociology) जो राजनीति विज्ञान और समाजशास्त्र को निकट लाती है। मनोविज्ञान की शाखा 'सामाजिक मनोविज्ञान' (Social Psychology) समाजशास्त्र व मनोविज्ञान को अध्ययन की दृष्टि से निकट लाती है तथा समाजशास्त्र की शाखा 'आर्थिक जीवन का समाजशास्त्र' (Sociology of Economic Life) अर्थशास्त्र व समाजशास्त्र को निकट लाती है। समाज विज्ञान क्योंकि समाज का ही अध्ययन करता है अतः इनका एक–दूसरे पर निर्भर रहना स्वाभाविक है।

महत्वपूर्ण बिन्दु

- मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।
- सन् 1789 की फ्रांसीसी क्रान्ति और औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् समाज की सामाजिक–सांस्कृतिक व आर्थिक स्थिति में मूलभूत परिवर्तन आया।
- समाज में हो रहे परिवर्तनों का व्यवस्थित रूप से अध्ययन करने के लिए सन् 1838 में अगस्ट कॉम्ट ने समाजशास्त्र की स्थापना की।
- फ्रांसीसी दार्शनिक अगस्त कॉम्ट समाजशास्त्र के जनक हैं।
- समाजशास्त्र का शाब्दिक अर्थ 'समाज का शास्त्र' या 'समाज का विज्ञान' है।
- भारत में समाजशास्त्र की वास्तविक शुरूआत सन् 1919 में बम्बई विश्वविद्यालय से मानी जाती है।
- समाजशास्त्र की प्रकृति वैज्ञानिक होने के कारण, समाजशास्त्र एक विज्ञान है।
- समाजशास्त्र वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर अध्ययन करता है।
- समाजशास्त्र का विषय क्षेत्र प्रमुख रूप से दो भागों स्वरूपात्मक सम्प्रदाय तथा समन्वयात्मक सम्प्रदाय में बाँटा जा सकता है।
- स्वरूपात्मक सम्प्रदाय समाजशास्त्र को विशिष्ट विज्ञान मानता है।
- समन्वयात्मक सम्प्रदाय समाजशास्त्र को सामान्य विज्ञान मानता है।
- स्वरूपात्मक सम्प्रदाय के प्रमुख विचारकों में जॉर्ज सिमैल, टॉनीज, वॉन वीज, वीरकान्त और मैक्स वेबर है।
- समन्वयात्मक सम्प्रदाय के प्रमुख विचारकों में हॉबहाउस, दुर्खीम, जिन्सबर्ग तथा सोरोकिन है।
- विषय क्षेत्र वह सम्भावित सीमाएँ हैं जहाँ तक कि उस

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

विषय का अध्ययन सम्भव है।

- प्रत्येक विज्ञान का अध्ययन का एक नजरिया अथवा दृष्टिकोण होता है। जिसे परिप्रेक्ष्य कहते हैं।
- समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य की प्रकृति वैज्ञानिक है।
- समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य अन्य समाज विज्ञानों के परिप्रेक्ष्य से अलग है।
- सामाजिक विज्ञानों में प्रमुख रूप से अर्थशास्त्र, राजनीतिक विज्ञान, इतिहास, मनोविज्ञान, मानवशास्त्र इत्यादि हैं।
- राजनीतिक समाजशास्त्र वह शाखा है जो समाजशास्त्र और राजनीतिक विज्ञान को निकट लाती है।
- सभी जीव अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रकृति पर निर्भर है।
- पारिस्थितिकी वह विज्ञान है जो पृथ्वी के समस्त जीवों तथा पर्यावरण के मध्य आपसी सम्बन्धों का अध्ययन करता है।
- पारिस्थितिक में एक समय में जीवों की एक सीमित संख्या ही आश्रित रहकर अपनी आवश्यकताओं को पूरा कर सकती है इस क्षमता को 'धारणी क्षमता' कहते है
- पारिस्थितिक तन्त्र करोड़ो वर्षों के प्राकृतिक उद्‌विकास का परिणाम है।
- केवल मनुष्य ही पारिस्थितिक तन्त्र का सन्तुलन कृत्रिम रूप से बिगाड़ सकता है।
- मनुष्य द्वारा प्राकृतिक सन्तुलन को पहुँचाई जा रही हानि से प्रकृति के सभी जीव प्रभावित हो रहे हैं।
- पृथ्वी स्थिर इकाई होने के कारण इसमें वृद्धि सम्भव नहीं है।
- जलवायु किसी स्थान का लम्बे समय तक का औसत मौसम होता है।
- परिवर्तन प्रकृति का नियम है तथा प्राकृतिक रूप से परिवर्तन की गति धीमी होती है।
- ओजोन गैस सूर्य से निकलने वाली पराबैंगनी किरणों को पृथ्वी तक पहुँचने से रोकती है।
- ओजोन परत के कारण हम पराबैंगनी विकिरण से बचे रहते हैं।
- ओजोन परत में छिद्र का मतलब ओजोन गैस का पर्याप्त मात्रा न बनना तथा इसकी परत का पतला हो जाना है।
- पर्यावरण को हानि पहुंचाने के लिए प्रमुख रूप से विकसित राष्ट्र जिम्मेदार है।
- प्लास्टिक तथा पॉलिथिन का उपयोग पर्यावरण को हानि पहुँचा रहा है क्योंकि यह पूरी तरह नष्ट नहीं होता है।
- ग्रीन हाऊस गैसों में वृद्धि के कारण पृथ्वी का तापमान बढ़ रहा है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. मनुष्य है–
   (अ) एक सामाजिक प्राणी
   (ब) एक जंगली प्राणी
   (स) एक जैविक प्राणी
   (द) एक असामाजिक प्राणी
2. समाजशास्त्र के जनक हैं–
   (अ) वेबर (ब) मार्क्स
   (स) दुर्खीम (द) अगस्ट कॉम्ट
3. समाजशास्त्र के जन्म के लिये प्रमुख रूप से कौनसा कारक उत्तरदायी है?
   (अ) फ्रांसीसी क्रान्ति व औद्योगिक क्रान्ति
   (ब) वैश्वीकरण
   (स) नगरीकरण
   (द) अन्य
4. भारत में समाजशास्त्र की वास्तविक शुरूआत कब से मानी जाती है?
   (अ) सन् 1980 (ब) सन् 2000
   (स) सन् 1919 (द) सन् 1900
5. समाजशास्त्र की प्रकृति है–
   (अ) वैज्ञानिक (ब) अवैज्ञानिक
   (स) अमानवीय (द) असामाजिक

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. समाजशास्त्र का जनक कौन है?
2. समाजशास्त्र को विशेष विज्ञान कौनसा सम्प्रदाय मानता है?
3. समाजशास्त्र को सामान्य विज्ञान कौनसा सम्प्रदाय मानता है?
4. वस्तुनिष्ठता का अर्थ बताइए?
5. समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों का जाल है, यह कौन मानता है?
6. अर्थशास्त्र किसका अध्ययन करता है?
7. मनोविज्ञान के अध्ययन का केन्द्र बिन्दु क्या है?
8. राजनीति विज्ञान किसका अध्ययन करता है?
9. ऐतिहासिक घटनाओं का अध्ययन विशेष रूप से कौनसा विज्ञान करता है?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र में दो अन्तर बताइए?
2. सामाजिक मनोविज्ञान क्या है?
3. अर्थशास्त्र का अर्थ लिखिए?
4. समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य को परिभाषित कीजिए?
5. समाजशास्त्र की दो परिभाषाएँ दीजिए?

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

6. समाजशास्त्र का अर्थ स्पष्ट कीजिए?
7. जॉर्ज सिमैल के समाजशास्त्र के विषय में विचार बताइए?
8. समाजशास्त्र की प्रकृति क्या है?
9. विज्ञान का अर्थ बताइए?
10. वैज्ञानिक पद्धति की दो विशेषताएं बताइए?
11. समाजशास्त्र को विज्ञान मानने के दो कारण बताइए?
12. समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य का क्या अर्थ है?
13. समाजशास्त्र और इतिहास में दो अन्तर बताइए?
14. समाजशास्त्र और मनोविज्ञान में दो अन्तर बताइए?

निबन्धात्मक प्रश्न

1. समाजशास्त्र के उद्‌भव के प्रमुख कारण बताइए?
2. समाजशास्त्र के अर्थ व परिभाषा को समझाइए?
3. क्या समाजशास्त्र एक विज्ञान है? स्पष्ट करें।
4. समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य को विस्तार से समझाइये?

उत्तरमाला—1. (अ) 2. (द) 3. (अ) 4. (स) 5. (अ)

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

2. मूलभूत अवधारणाएँ–I
समाज, समुदाय, समूह, प्रस्थिति एवं भूमिका

समाज
(Society)

समाजशास्त्र में समाज एक महत्वपूर्ण एवं प्राथमिक अवधारणा है। जब समाजशास्त्र को 'समाज के विज्ञान' के रूप में परिभाषित किया जाता है तो ऐसी दशा में इस विज्ञान को सही रूप में समझने की दृष्टि से समाज के निश्चित अर्थ को समझना आवश्यक है।

समाज का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and definition of society)

सामान्य बोलचाल की भाषा में समाज शब्द का प्रयोग व्यक्तियों के समूह के लिए किया जाता है या किसी भी संगठित या असंगठित समूह को समाज कह दिया जाता है, जैसे आर्य समाज, ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, हिन्दू समाज इत्यादि। विभिन्न समाज वैज्ञानिकों तक ने समाज शब्द का अर्थ अपने–अपने ढंग से लगाया है उदाहरण के रूप में अर्थशास्त्री आर्थिक क्रियाओं को सम्पन्न करने वाले व्यक्तियों के समूह को समाज कहते हैं। वहीं राजनीतिशास्त्री समाज को व्यक्तियों के समूह के रूप में देखते हैं वहीं मानवशास्त्री आदिम समुदायों को ही समाज मानता है।

मैकाइवर और पेज ने समाज को सामाजिक संबंधों के जाल या ताने बाने के रूप में परिभाषित किया है। आपने संबंधों की इस सदैव परिवर्तित होती रहने वाले जटिल व्यवस्था को समाज माना है।

समाजशास्त्र में सामाजिक संबंध केन्द्रीय अध्ययन वस्तु है। जब असंख्य सामाजिक संबंधों का जाल अनेक रीतियों एवं सामाजिक मूल्यों द्वारा व्यवस्था में बदल जाता है तो उसे समाज कहते हैं। यहाँ हम 'समाज' की कुछ परिभाषाओं पर विचार करेंगे।

पारसंस के अनुसार, 'समाज को उन मानवीय संबंधों की संपूर्ण जटिलता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो साधन–साध्य संबंधों (Mean ends relationship) के रूप में क्रिया करने में उत्पन्न हुए हों, चाहे ये यथार्थ हों या प्रतीकात्मक।'' पारसंस की इस परिभाषा में क्रिया को विशेष महत्व दिया जाता है और किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए साधन के रूप में किए गए कार्य को ही क्रिया कहा गया है। ऐसी क्रिया के परिणामस्वरूप उत्पन्न संबंधों को ही सामाजिक संबंध और इन सामाजिक या मानवीय संबंधों से बनने वाली संपूर्ण जटिलता या व्यवस्था को समाज कहा गया है।

गिडिंग्स के अनुसार, 'समाज स्वयं संघ है, संगठन है, औपचारिक संबंधों का योग है, जिसमें सहयोग देने वाले व्यक्ति एक–दूसरे के साथ जुड़े हुए या सम्बद्ध हैं।'' इस परिभाषा में समाज के लिए सहयोगी संबंधों को आवश्यक माना गया है जो व्यक्तियों को एक दूसरे के साथ जोड़ते हैं।

रयूटर के अनुसार, (समाज) एक अमूर्त धारणा है जो एक समूह के सदस्यों के बीच पाए जाने वाले पारस्परिक संबंधों की जटिलता (संपूर्णता) का बोध कराती है। इस परिभाषा के अनुसार व्यक्तियों के बीच पनपने वाले संबंधों की संपूर्ण व्यवस्था को समाज माना गया है जो कि अमूर्त है।

समाज की अवधारणा : मैकाइवर के अनुसार
(Concept of society According to Maciver)

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार, ''समाज रीतियों एवं कार्य–प्रणालियों की, अधिकार एवं पारस्परिक सहायता की, अनेक समूहों तथा विभागों की, मानव व्यवहार के नियंत्रणों तथा स्वतंत्रताओं की एक व्यवस्था है। इस सदैव परिवर्तनशील, जटिल व्यवस्था को हम समाज कहते हैं। यह सामाजिक संबंधों का जाल है और यह हमेशा परिवर्तित होता रहता है।'' आपने समाज को सामाजिक संबंधों का जाल अवश्य कहा है, लेकिन साथ ही उन आधारों अथवा महत्वपूर्ण तत्वों का उल्लेख भी किया है जिनकी सहायता से सामाजिक संबंध एक जटिल व्यवस्था का रूप ग्रहण करते हैं, एक सामाजिक संस्था को निर्मित करते हैं। इस परिभाषा के आधार पर मैकाइवर एवं पेज ने समाज के निम्नांकित महत्वपूर्ण आधारों या तत्वों पर प्रकाश डाला है।

1. रीतियाँ (Usages)–रीतियाँ या प्रथाएँ सामाजिक मानदंडों का एक प्रमुख प्रकार हैं। ये समाज के निर्माण में आधार के रूप में कार्य करती हैं। समाज में व्यवस्था बनाए रखने में ये महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं से संबंधित अनेक रीतियाँ पायी जाती हैं, जैसे खान–पान, रहन–सहन, वेश–भूषा, विवाह, धर्म, जाति, शिक्षा, आदि से संबंधित रीतियाँ। ये रीतियाँ व्यक्ति को विशेष तरीके से व्यवहार करने को प्रेरित करती हैं। इसके विपरीत आचरण या व्यवहार करने पर व्यक्ति को अन्य लोगों की आलोचना का पात्र बनना पड़ता है। कभी–कभी रीतियों के विरुद्ध आचरण करने पर व्यक्ति को दंडित भी किया जाता है। रीतियाँ समाजीकरण की प्रक्रिया के दौरान पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होती रहती हैं।

2. कार्य प्रणालियाँ (Procedures) – कार्य–प्रणालियों को भी समाज का एक प्रमुख आधार माना गया है। मैकाइवर एवं पेज ने सामूहिक रूप से कार्य करने की प्रणालियों को ही संस्थाओं के नाम से पुकारा है। इन्हीं के माध्यम से एक समाज विशेष के लोग अपनी विभिन्न आवश्यकताओं या उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं। एक समाज में व्यक्तियों की सभी क्रियाएं सामान्यतः इन कार्य प्रणालियों के अनुरूप ही होती हैं। इन्हीं से नियंत्रित होती हैं। प्रत्येक समाज की अपनी विशेष कार्य–प्रणालियाँ होती

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

हैं जो अन्य समाजों की कार्य प्रणालियों से भिन्न होती हैं। उदाहरण के रूप में, हिन्दुओं की विवाह से संबंधित कार्य–प्रणाली मुसलमानों या ईसाइयों की विवाह संबंधी कार्य प्रणाली से भिन्न है।

3. अधिकार (Authority)– अधिकार को सत्ता या प्रभुत्व के नाम से भी जाना जाता है। यह सभी समाज का एक प्रमुख आधार है। कोई भी ऐसा समाज दिखायी नहीं पड़ेगा जिसमें प्रभुत्व एवं अधीनता के संबंध नहीं पाए जाते हों। समाज में अनेक संगठन, समूह, समितियाँ, आदि होते हैं जिनके कार्य–संचालन और सदस्यों के व्यवहार पर नियंत्रण बनाए रखने के लिए व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों के पास अधिकार, शक्ति या सत्ता का होना आवश्यक है। इसके अभाव में व्यवस्था और शांति बनाए रखना संभव नहीं है। परिवार में यह अधिकार या शक्ति कर्ता के पास, जाति में पंच के पास, गाँव में मुखिया के पास केन्द्रित रही है। स्कूल, कॉलेज, आर्थिक संगठन, धार्मिक संघ, आदि में किसी–न–किसी व्यक्ति के पास अधिकार या सत्ता सदैव ही मौजूद रही है। वर्तमान समय में जटिल समाजों में अधिकार या सत्ता कार्यपालिका एवं न्यायपालिका में केन्द्रित है जो व्यवस्था बनाए रखने की दृष्टि से महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

4. पारस्परिक सहायता (Mutual Aid)– यह समाज का एक अत्यंत ही महत्वपूर्ण आधार है। जब तक कुछ व्यक्ति अपने अपने उद्देश्यों या आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक दूसरे के साथ सहयोग नहीं करते, तब तक समाज की कल्पना ही नहीं की जा सकती। समाज के लिए सहयोगी संबंधों का होना अत्यंत आवश्यक है। सहयोगपूर्ण संबंधों के अभाव में तो एक छोटे से छोटे समूह–परिवार तक भी अपने अस्तित्व को बनाए नहीं रख सकता। जिस समाज में पारस्परिक सहयोग की मात्रा जितनी अधिक होगी, वह उतनी ही अधिक मात्रा में प्रगति की ओर आगे बढ़ेगा। वर्तमान में सहयोग के क्षेत्र के बढ़ जाने से समाज का आकार काफी विस्तृत हो गया है।

5. समूह एवं विभाग (Groups and departments)– समाज अनेक समूहों एवं विभागों या उप–समूहों से मिलकर बना होता है। अन्य शब्दों में, हम कह सकते हैं कि प्रत्येक समाज में अनेक समूह, समितियाँ, संगठन आदि पाये जाते हैं जिनकी सहायता से व्यक्तियों की विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। परिवार, क्रीड़ा–समूह, पड़ौस, जाति, गाँव, कस्बा, नगर, समुदाय, आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक संगठन, स्कूल, महाविद्यालय, आदि, अनेक समूह एवं विभाग ही हैं जिनसे समाज बनता है और जो व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति में योग देते हैं। आयु, लिंग, जाति, प्रजाति, वर्ग, आदि के आधार पर समाज में अनेक विभाजन देखने को मिलते हैं। ये सभी समूह एवं विभाग आपस में एक–दूसरे से संबंधित होते हैं। ये समूह जितने अधिक संगठित होंगे, समाज भी उतना ही अधिक उन्नत होगा।

6. मानव व्यवहार का नियंत्रण (Controls of Human Behaviour)– समाज सामाजिक संबंधों की एक जटिल व्यवस्था है और इस व्यवस्था को ठीक से संचालित करने के लिए आवश्यक है कि मानव व्यवहार पर नियंत्रण रखा जाए। व्यक्ति की आवश्यकताएँ असीमित हैं, जैसे धन, वैभव, सम्मान, शक्ति, आदि से संबंधित आवश्यकताएँ एवं इच्छाएँ। यदि व्यक्ति की इच्छाओं को नियंत्रित नहीं किया जाए और व्यक्ति को उन्हें मनमाने ढंग से पूरा करने की छूट दे दी जाए तो समाज में व्यवस्था का बना रहना संभव नहीं होगा। ऐसी दशा में व्यक्ति स्वच्छंद या मनमाने तरीके से व्यवहार करने लगेंगे तथा आदर्श–शून्यता की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी और समाज विघटित होने लगेगा। अतः मानव व्यवहार के नियंत्रण हेतु समाज में सामाजिक नियंत्रण के औपचारिक एवं अनौपचारिक साधनों को अपनाया जाना आवश्यक है। इन साधनों को काम में लिए बिना समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। सामाजिक नियंत्रण के औपचारिक साधनों में कानून, न्याय–व्यवस्था, पुलिस, प्रशासन, आदि और अनौपचारिक साधनों में जनरीतियाँ, प्रथाएँ, रूढ़ियाँ, संस्थाएँ, धर्म, नैतिकता आदि आते हैं। इन सभी साधनों से व्यक्तियों के व्यवहारों को नियंत्रित करने और सामाजिक संबंधों को व्यवस्थित बनाने का प्रयत्न किया जाता है।

7. स्वतंत्रता (Liberties)– समाज के एक आवश्यक तत्व के रूप में स्वतंत्रता का विशेष महत्व है। समाज में स्वतंत्रता का अर्थ मनमाने ढंग से कार्य, व्यवहार या आचरण करने से नहीं है। यहाँ इसका तात्पर्य सभी व्यक्तियों को अपने विकास हेतु उचित वातावरण प्रदान करने से है। जहां समाज में व्यक्ति के व्यवहार को औपचारिक और अनौपचारिक साधनों द्वारा नियंत्रित किया जाता है, वहां उसे कुछ क्षेत्रों में स्वतंत्रता प्रदान करना भी आवश्यक है। स्वतंत्र वातावरण में ही व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का समुचित विकास कर समाज की प्रगति में योग दे सकता है। बहुत अधिक नियंत्रण व्यक्ति के विकास में बाधा उत्पन्न करते हैं, उसकी विवेक और चिन्तन शक्ति को कुंठित करते हैं। हमें यह भी ध्यान में रखना है कि जहां स्वतंत्रता व्यक्ति की इच्छानुसार कार्य करने का सुअवसर देती है, वहाँ साथ ही यह भी आवश्यक है कि वह दूसरों को स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करने का अवसर दे, उनके मार्ग में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न न करे।

इस प्रकार मैकाइवर और पेज ने समाज के उपर्युक्त सात आवश्यक आधार (तत्व) बताए हैं। आपने समाज को सामाजिक संबंधों की एक जटिल व्यवस्था माना है और साथ ही यह भी स्पष्ट किया है कि ये सभी सामाजिक संबंध आपस में गुंथे हुए हैं। सामाजिक संबंधों के जाल में निर्मित यह जटिल व्यवस्था निरंतर बदलती रहती है, इसमें हर समय कुछ–न–कुछ परिवर्तन होते ही रहते हैं।

मैकाइवर और पेज की उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि समाज सामाजिक संबंधों की जटिल व्यवस्था है और इसके सात आधार हैं, परंतु साथ ही समाज के लिए निम्नलिखित तीन बातों का होना भी आवश्यक है जो इस प्रकार है– (1) व्यक्तियों की बहुलता– समाज विभिन्न व्यक्तियों के बीच पाए जाने वाले

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

सामाजिक संबंधों से बनता है। यद्यपि समाज व्यक्तियों का समूह तो नहीं है, परंतु यह भी सत्य है कि व्यक्तियों के अभाव में सामाजिक संबंधों की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अतः समाज के लिए प्रथम आवश्यकता व्यक्तियों का समूह है ताकि सामाजिक संबंध निर्मित हो सकें। (2) सामाजिक संबंध– व्यक्तियों के बीच पनपने वाले सामाजिक संबंधों के संगठित रूप को ही समाज माना गया है। सामाजिक संबंध ही समाज का प्रमुख आधार है। इन संबंधों के अभाव में व्यक्तियों कि किसी भीड़ या झुंड मात्र को समाज नहीं कहा जा सकता। (3) सामाजिक अन्तः क्रिया– केवल व्यक्तियों के होने और उनमें सामाजिक संबंधों के पनपने मात्र से समाज का निर्माण नहीं हो जाता। यहाँ उन व्यक्तियों में सामाजिक अन्तःक्रिया का होना भी आवश्यक है। इसका तात्पर्य यह है कि उन्हें न केवल एक–दूसरे की जानकारी होनी चाहिए, बल्कि उनमें पारस्परिक जागरूकता भी होनी चाहिए साथ ही उनके द्वारा एक–दूसरे को प्रभावित भी किया जाना चाहिए।

यहां हमें यह भी ध्यान में रखना है कि समाज को चाहे व्यक्तियों के ऐसे समूह के रूप में परिभाषित किया जाए जिसमें मनुष्य सामान्य जीवन व्यतीत कर सके या सामाजिक संबंधों के जाल के रूप में परिभाषित किया जाए। उसका (समाज का) अपना 'जीवन का एक तरीका' होता है जिसे संस्कृति कहते हैं। ऐली चिनोय ने बताया है कि इस दृष्टि से समाज को उसकी प्रमुख संस्थाओं– पारिवारिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, शैक्षणिक, आदि के रूप में भी परिभाषित किया जा सकता है। समाजशास्त्रीय विश्लेषण में समाज पर संस्थाओं की संरचना और सामाजिक संबंधों की संरचना– दोनों ही रूपों में विचार किया जाना चाहिए।

समाज की विभिन्न परिभाषाओं पर गहराई से विचार करने पर हम पाते हैं कि सभी समाजशास्त्री समाज के लिए सामाजिक संबंधों को आवश्यक मानते हैं और वे ऐसे संबंधों की जटिल व्यवस्था को ही 'समाज' कहते हैं।

समाज की कुछ प्रमुख विशेषताएँ

Few main characteristics of society

समाज और उसकी प्रकृति को स्पष्टतः समझने के लिए यहाँ हम उसकी कुछ प्रमुख विशेषताओं पर विचार करेंगे जो निम्नलिखित है–

1. पारस्परिक जागरूकता (mutual awareness)– पारस्परिक जागरूकता के अभाव में न तो सामाजिक संबंध बन सकते हैं और न ही समाज। जब तक लोग एक दूसरे की उपस्थिति से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से परिचित नहीं होंगे, तब तक उनमें जागरूकता नहीं पायी जा सकती है और अन्तःक्रिया भी नहीं हो सकती। इस जागरूकता के अभाव में वे न तो एक दूसरे से प्रभावित होंगे और न ही प्रभावित करेंगे अर्थात् उनमें अन्तःक्रिया नहीं होगी। अतः स्पष्ट है कि सामाजिक संबंधों के लिए पारस्परिक जागरूकता का होना अत्यंत आवश्यक है और इस जागरूकता के आधार पर निर्मित होने वाले सामाजिक संबंधों की जटिल व्यवस्था को ही समाज कहा गया है।

2. समाज अमूर्त है (Society is abstract)– समाज व्यक्तियों का समूह न होकर उनमें पनपने वाले सामाजिक संबंधों का जाल है। सामाजिक संबंध अमूर्त हैं। इन्हें न तो देखा जा सकता है और न ही छुआ जा सकता है। इन्हें तो केवल अनुभव किया जा सकता है। अतः सामाजिक संबंधों के आधार पर निर्मित समाज ही अमूर्त है। यह तो अमूर्त सामाजिक संबंधों की जटिल व्यवस्था है। राइट के अनुसार समाज व्यक्तियों का समूह नहीं, यह तो समूह के व्यक्तियों के बीच संबंधों की व्यवस्था है। रयूटर ने लिखा है कि जिस प्रकार जीवन एक वस्तु नहीं है बल्कि जीवित रहने की एक प्रक्रिया है, उसी प्रकार समाज एक वस्तु नहीं है बल्कि संबंध स्थापित करने की प्रक्रिया है। स्पष्ट है कि समाज एक अमूर्त धारणा है।

3. समाज में समानता एवं असमानता (Likeness and differences in society)– समाज में समानता एवं असमानता दोनों ही देखने को मिलती हैं। ये दोनों ही समाज के लिए आवश्यक तत्व है। दोनों का अपना–अपना महत्व है और ये एक दूसरे के पूरक हैं। किसी ऐसे समाज की कल्पना नहीं की जा सकती है जिसमें पूर्णतः समानता या पूर्णतः असमानता हो। प्रत्येक समाज में ये दोनों ही बातें अनिवार्यतः पायी जाती हैं। यहां हम इन पर पृथक पृथक रूप से विचार करेंगे :

(1) समाज में समानता– जब तक लोगों में किसी न किसी रुप में समानता की भावना नहीं होगी, तब तक उनका एक दूसरे से संबंधित होने या इकट्ठा रहने का प्रश्न नहीं उठता। ऐसी स्थिति में समाज का निर्माण नहीं हो सकता। जो लोग कुछ मात्रा में शरीर और मस्तिष्क की दृष्टि से समान हैं तथा एक–दूसरे के निकट हैं, उन्हीं में समाज पाया जाता है। गिडिंग्स ने 'समानता (सजातीयता) की चेतना' को समाज का आधार माना है। आदिम या प्रारंभिक, छोटे व सरल समाजों में समानता का आधार नातेदारी या रक्त संबंध था। अब यह आधार काफी विस्तृत हो गया है। अब राष्ट्रीयता समानता का एक मुख्य आधार है।

(2) समाज में असमानता– समाज में समानता के साथ–साथ भिन्नता भी पायी जाती है। मैकाइवर तथा पेज के अनुसार यदि सभी लोग पूर्णतः समान होते तो उनके सामाजिक संबंध चीटियों या मधुमक्खियों के जैसे काफी सीमित होते। ऐसी दशा में उनमें आपसी लेन देन या पारस्परिक आदान प्रदान बहुत कम होता। वे एक दूसरे को बहुत कम सहायता दे पाते। लिंग भेद असमानता का एक उदाहरण है और इसी भेद के कारण प्रजनन या संतानोत्पत्ति संभव हो पायी। समाज में असमानताओं के पाए जाने के कारण ही प्रत्येक एक दूसरे से कुछ न कुछ लेता और बदले में कुछ देता है। यह बात परिवार, मित्र–मंडली, समूह, समिति, समुदाय सभी में पायी जाती है। सभी प्रकार के सामाजिक संबंधों में असमानता की महत्वपूर्ण भूमिका देखने को मिलती है। समाज में कई प्रकार के विभेद या असमानताएँ पायी जाती है,

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

जैसे लिंग–भेद, शारीरिक बनावट संबंधी भेद, स्वभाव या प्रकृति संबंधी भेद, रुचि, योग्यता या क्षमता संबंधी भेद। वर्तमान में असमानताओं के बढ़ने का एक प्रमुख कारण विशेषीकरण की प्रक्रिया है।

(3) समाज में असमानता समानता के अधीन है (Difference Subordinate to Like ness in society) – समाज में श्रम–विभाजन पहले सहयोग (Co-operation) है और फिर विभाजन। इसका तात्पर्य यही है कि समान उद्देश्यों की पूर्ति के लिए लोग एक दूसरे के साथ सहयोग करते हैं, परंतु उद्देश्य को प्रभावपूर्ण ढंग से प्राप्त करने के लिए वे आपस में कार्यों को बांट लेते हैं। समान आवश्यकताओं के कारण ही असमान कार्यों को पूरा करने के लिए लोग इकट्ठे होकर एक दूसरे के साथ सहयोग करते हैं। उदाहरण के रूप में, कुछ व्यापारी लाभ कमाने के उद्देश्य से साझेदारी के संबंधों में बँध जाते हैं और मिलकर व्यापार करते हैं। वे साझेदार उद्देश्य की सफलता के लिए व्यापार से संबंधित विभिन्न कार्य अपनी योग्यता और शक्ति के अनुसार आपस में बाँट लेते हैं। यही बात परिवार के क्षेत्र में देखने को मिलती है। स्नेह तथा घर की सामान्य इच्छा ही परिवार की स्थापना का प्रमुख आधार है, लेकिन यहाँ हमें यह बात ध्यान में रखनी है कि यद्यपि समाज में समानता और असमानता दोनों ही महत्वपूर्ण हैं, परंतु समानता प्राथमिक या प्रमुख है और असमानता द्वितीयक या गौण।

4. समाज में सहयोग एवं संघर्ष (Cooperation and conflict in society)– समाज में दो प्रकार की शक्तियाँ देखने को मिलती है : प्रथम, वे शक्तियाँ जो मनुष्यों को एकता के सूत्र में बाँधती है, और द्वितीय, वे शक्तियाँ जो मनुष्यों को एक दूसरे से पृथक करती हैं। सहयोग प्रथम और संघर्ष द्वितीय के अंतर्गत आता है। ये दोनों तत्व या विशेषताएँ समाज के लिए अत्यंत आवश्यक है। प्रत्येक समाज में सहयोग और संघर्ष सार्वभौमिक प्रक्रियाओं के रूप में पाए जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि सरल या आदम समाज से लेकर आधुनिक जटिल समाज तक में सहयोग और संघर्ष चलता रहता है। मनुष्यों और समूहों को अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक दूसरे के साथ सहयोग करना पड़ता है, लेकिन जहाँ वे सहयोग से ऐसा नहीं कर पाते, वहां संघर्ष का सहारा भी लेते हैं।

(1) सहयोग (Co-operation)– प्रत्येक कार्य या उद्देश्य की सफलता का आधार सहयोग ही है। पारिवारिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, आदि क्षेत्रों में हर समय सहयोग देखने को मिलता है। सहयोग के अभाव में न कोई परिवार अपने इच्छित लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है और न ही कोई राजनीतिक दल। चुनावों में कई राजनीतिक दलों की हार का एक प्रमुख कारण उनके सदस्यों में सहयोग का अभाव है। किसी भी कार्य में सफलता सहयोग पर ही निर्भर करती है। सरल, छोटे एवं आदिम समाजों में प्रत्यक्ष सहयोग और आधुनिक जटिल और वृहद् समाजों में अप्रत्यक्ष सहयोग की प्रधानता पायी जाती है।

(2) संघर्ष (Conflict)– समाज में सहयोग के साथ–साथ संघर्ष भी देखने को मिलता है। संघर्ष का प्रमुख कारण कुछ शारीरिक या वैयक्तिक भिन्नताएँ, सांस्कृतिक भिन्नताएँ, विरोधी स्वार्थ या स्वार्थों का टकराना एवं तीव्र गति से होने वाले सामाजिक परिवर्तन हैं। व्यक्ति–व्यक्ति के बीच रुचि, स्वभाव, चरित्र, व्यक्तित्व, रहन–सहन, वेष–भूषा, आचार–विचार संबंधी भेद पाए जाते हैं। इसी प्रकार लोग अलग अलग धर्मों, संप्रदायों या मत–मतान्तरों से संबंधित होते हैं। एक समाज और दूसरे समाज की संस्कृति में भी अंतर पाया जाता है। साथ ही लोगों या समूहों के एक दूसरे के विपरीत स्वार्थ भी होते हैं, अर्थात कई बार उनके स्वार्थ आपस में टकराते हैं। सामाजिक परिवर्तन की तेज गति के कारण व्यक्ति और समूह कई बार बदलती हुई नवीन परिस्थितियों के साथ समायोजन या अनुकूलन नहीं कर पाते। ये विभिन्न प्रकार की भिन्नताएँ, स्वार्थ एवं सामाजिक परिवर्तन संघर्ष के लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी हैं। मानव समाज में सहयोग के समान संघर्ष भी मानव सभ्यता के विकास के प्रत्येक स्तर पर देखने को मिलता है।

प्रत्येक समाज में सहयोग के समान संघर्ष भी सार्वभौमिक प्रक्रिया के रूप में सदैव पाया जाता रहा है। यह कहा जा सकता है कि जहाँ समाज है, वहां संघर्ष भी है। संघर्ष कई बार अन्याय, अत्याचार या शोषण को समाप्त करने में मदद करता है, लेकिन समाज में संघर्ष के बजाय सहयोग का महत्व अधिक है। आज तक का इतिहास बताता है कि मानव ने जितना समय संघर्ष में बिताया, उससे कहीं अधिक समय सहयोग एवं शांति में बिताया है। हम कह सकते हैं कि संघर्ष सहयोग के अधीन है। विभिन्न मनुष्यों एवं समूहों में साधारणतः सहयोग अधिक एवं संघर्ष कम पाया जाता है, परंतु ये दोनों प्रत्येक समाज में मौजूद अवश्य रहते हैं। इसी कारण कहा जाता है कि समाज संघर्ष से कटा हुआ सहयोग है। जिस समाज में संघर्ष के बजाय सहयोग जितना अधिक मात्रा में पाया जाता है, वह समाज उतना ही अधिक संगठित होता है।

5. समाज अन्योन्याश्रितता पर आधारित (Society based upon interdependence)– अन्योन्याश्रितता समाज की एक अत्यंत महत्वपूर्ण विशेषता है। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अन्योन्याश्रितता समाज की उत्पत्ति एवं विकास में एक आधारभूत तत्व है। वास्तव में यह मानव जीवन, सभ्यता एवं संस्कृति तथा उन्नति का प्रमुख आधार है। समाज सामाजिक संबंधों की जटिल व्यवस्था है और विभिन्न प्रकार के सामाजिक संबंध एक दूसरे पर निर्भर हैं। मनुष्य को अपनी प्राणिशास्त्रीय या शारीरिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए दूसरों के साथ सामाजिक संबंध स्थापित करना और उन पर निर्भर रहना पड़ता है। आदिम से आदिम और छोटे एवं सरल से सरल प्रकार के समाजों में भी व्यक्ति को ''यौन संतुष्टि, शिकार एवं जीवन–रक्षा के लिए दूसरों पर निर्भर रहना पड़ा है। आधुनिक जटिल समाजों में तो श्रम विभाजन के बढ़ने

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

से मनुष्यों और साथ ही समाज के विभिन्न अंगों की एक दूसरे पर निर्भरता और भी बढ़ गयी है। समाज के प्रारंभिक रूप अर्थात् परिवार में विभिन्न सदस्यों के बीच आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पारंपरिक निर्भरता स्पष्टतः दिखायी पड़ती है। आज तो जीवन के सभी क्षेत्रों में पारस्परिक निर्भरता या अन्योन्याश्रितता पायी जाती है। इसका प्रमुख कारण मनुष्य का अपने में अपूर्ण होना या उसकी शक्ति का सीमित होना है। वह स्वयं केवल अपने तक ही सीमित रहकर अपनी सभी प्रकार की आवश्यकताओं एवं इच्छाओं की पूर्ति नहीं कर सकता है। अतः कहा जा सकता है कि समाज अन्योन्याश्रितता पर आधारित है।

6. समाज सदैव परिवर्तनशील एवं जटिल व्यवस्था है (Society is ever changing and complex system) – समाज की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता इसकी सदैव परिवर्तन प्रवृत्ति है। सामाजिक परिवर्तन एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है। विभिन्न कारणों से सामाजिक संबंधों में परिवर्तन आता रहता है, व्यक्तियों की प्रस्थितियां एवं भूमिकाएँ बदलती रहती हैं, पारस्परिक अपेक्षाओं में भी समय के साथ साथ बदलाव आता रहता है। इन सबके परिणामस्वरूप समाज बदलता है, समाज की सामाजिक संरचना में परिवर्तन आता है। कोई भी समाज आज ठीक वैसा समाज नहीं है जैसा वह एक वर्ष पहले था या एक हजार वर्ष पश्चात् होगा। भारत का वैदिककालीन समाज आधुनिक समय के जटिल औद्योगिक समाज से काफी भिन्न था। स्पष्ट है कि समाज सदैव परिवर्तनशील है।

साथ ही समाज एक जटिल व्यवस्था है जो अनेक प्रकार के सामाजिक संबंधों से निर्मित है। एक ही व्यक्ति सैंकड़ों व्यक्तियों से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से संबंधित होता है। संबंधों के आधार पर ही उसकी प्रस्थिति एवं भूमिका निर्धारित होती है। साथ ही व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की अपेक्षाओं को ध्यान में रखकर व्यवहार करता है। जब एक व्यक्ति अनेक प्रकार के सामाजिक संबंधों में बँधा होता है और निश्चित तरीके से एक–दूसरे के साथ संबंधों एवं अपेक्षाओं को ध्यान में रखकर व्यवहार करता है तो लाखों–करोड़ों व्यक्तियों के सामाजिक संबंधों, उनकी प्रस्थितियों एवं भूमिकाओं पर पारस्परिक अपेक्षाओं के आधार पर निर्मित होने वाली व्यवस्था, निश्चित रूप से जटिल होगी, इसमें किसी प्रकार का कोई संदेह नहीं है।

7. समाज मनुष्यों तक ही सीमित नहीं है (Society is not confined to Human only) – समाज केवल मनुष्यों तक ही सीमित न होकर पशुओं में भी पाए जाते हैं। मैकाइवर एवं पेज ने ठीक ही कहा है कि 'जहाँ कहीं जीवन है, वहीं समाज है।'' इसका तात्पर्य यह है कि सभी जीवधारियों के अपने अपने समाज होते हैं। चींटियों तथा मधुमक्खियों के भी समाज होते हैं। इनमें एवं अनेक अन्य पशु–पक्षियों में सामाजिक जीवन की अनेक विशेषताएं देखने को मिलती है। इतना अवश्य है कि जीवन के निम्नतम स्तर वाले जीवधारियों में सामाजिक जागरूकता बहुत ही कम और सामाजिक संपर्क बहुत ही अल्पकालीन होता है। जहां सामाजिक या पारस्परिक जागरूकता का अभाव है, वहां समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती। उच्च स्तर के पशुओं– जैसे हाथी, गाय तथा नर वानरों के निश्चित समाज होते हैं। इनके जीवन में पारस्परिकता और सहयोग के तत्व पाए जाते हैं। अपनी प्रकृति या स्वभाव संबंधी आवश्यकताओं, जीवन रक्षा तथा अपनी जाति को पीढ़ी दर पीढ़ी बनाए रखने की इच्छा के कारण पशु–पक्षियों में समाज की उत्पत्ति एवं विकास होता है। समाजशास्त्र के अंतर्गत हम पशु समाज का अध्ययन न करके मानव समाज का अध्ययन करते हैं। इसका कारण यह है कि अन्य पशुओं की तुलना में मानव विकास के उच्चतम स्तर पर है और वही अपनी योग्यता, क्षमता, गुणों एवं शारीरिक विशेषताओं के कारण संस्कृति का निर्माता है। उसने ज्ञान–विज्ञान और कला के क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति की है। उसका अपना समाज, सामाजिक संगठन और सामाजिक व्यवस्था है। अतः हम मानव समाज के अध्ययन तक ही अपने को सीमित रखते हैं।

'समाज' तथा 'एक समाज' में अंतर

Distinction betwen 'society' and 'a society'

समाजशास्त्र में 'समाज' और 'एक समाज' का प्रयोग भिन्न भिन्न अर्थों में किया गया है। अन्य सामाजिक विज्ञानों में समाज का अर्थ व्यक्तियों के समूह के लिए जबकि समाजशास्त्र में सामाजिक संबंधों की जटिल व्यवस्था या सामाजिक संबंधों के जाल के लिए किया गया है। जहाँ अन्य सामाजिक विज्ञान व्यक्तियों के समूह को समाज मानते हैं, वहाँ समाजशास्त्र व्यक्तियों के समूह को समाज नहीं मानकर 'एक समाज' मानता है।

'एक समाज' का अर्थ ऐसे व्यक्तियों के एक समूह से है जो सामान्य जीवन में भागीदार हो, उदाहरण के रूप में, भारतीय समाज, ईसाई समाज, मुस्लिम समाज, पाश्चात्य समाज, आदि। कहीं–कहीं 'एक समाज' शब्द का प्रयोग समिति के लिए भी किया गया है, जैसे वैश्य समाज, प्रार्थना समाज, ब्रह्म समाज, आर्य समाज, आदि। 'एक समाज' शब्द से समान जीवन विधि या संस्कृति का बोध भी होता है। जो लोग व्यक्तियों के एक समूह के रूप में 'एक समाज' के अंतर्गत आते हैं, वे सामान्यतः एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करते हैं और उनकी अपनी एक विशिष्ट संस्कृति होती है जो अन्य 'एक समाज' के अंतर्गत आने वाले लोगों की संस्कृति से भिन्न होती है। 'एक समाज' के सदस्यों में समानता या सजातीयता की चेतना पायी जाती है। कुछ लोगों ने 'एक समाज' को समुदाय का ही परिवर्तित रूप माना है।

'एक समाज' का अर्थ स्पष्ट करते हुए रयूटर ने लिखा है, 'एक समाज, समाज से बिल्कुल भिन्न, एक संगठन है जिसकी सहायता से लोग अपना सामान्य जीवन व्यतीत करते हैं।'' मैन्जर के अनुसार, 'एक समाज मनुष्यों का एक ऐसा समूह समझा जा सकता है जिसके सदस्य्य सामान्य कार्यों या गतिविधियों में चेतन रूप में भाग लेते हों। मोरिस गिन्सबर्ग के अनुसार, 'एक समाज व्यक्तियों का वह संग्रह या समूह है जो किन्हीं संबंधों या व्यवहार

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

के तरीकों द्वारा संगठित है जो उन्हें उन दूसरों (व्यक्तियों) से पृथक करते हैं जो उन संबंधों में बँधे हुए नहीं हैं या जो व्यवहार में उनसे भिन्न हैं।'' ग्रीन के अनुसार, ''एक समाज वह सबसे बड़ा समूह है जिसका कोई भी व्यक्ति सदस्य होता है। एक समाज एक जनसंख्या संगठन, समय, स्थान एवं अभिरुचि से बना होता है।''

एक समाज की उपर्युक्त सभी परिभाषाओं से स्पष्ट है कि 'एक समाज' में निम्न बातें पायी जाती हैं: (1) यह व्यक्तियों का एक समूह है, (2) इसके सदस्य सामान्य क्रिया–कलापों या गतिविधियों में चेतन रूप से भाग लेते हैं तथा (3) यह सामाजिक संबंधों, व्यवहार, जीवन–विधि या संस्कृति की दृष्टि से अन्य 'एक समाज' के अंतर्गत आने वाले समूहों से भिन्न है। स्पष्ट है कि जहाँ 'समाज' एक अमूर्त अवधारणा है, वहीं 'एक समाज' एक मूर्त अवधारणा है। 'समाज' सामाजिक संबंधों की जटिल व्यवस्था है जबकि 'एक समाज' सामान्य जीवन में चेतन रूप से भाग लेने वाले व्यक्तियों का एक समूह है।

समाज और एक समाज में निम्नलिखित अंतर पाए जाते हैं–

1. समाज सामाजिक संबंधों की एक जटिल व्यवस्था है, जबकि एक समाज व्यक्तियों का समूह है।

2. सामाजिक संबंधों के अमूर्त होने के कारण इनसे निर्मित व्यवस्था अर्थात् समाज भी अमूर्त है। एक समाज मूर्त है क्योंकि यह व्यक्तियों का एक समूह है जिसे देखा जा सकता है।

3. समाज एक जटिल व्यवस्था है, जबकि एक समाज अपेक्षाकृत एक सरल संगठन है।

4. समाज का अपना कोई भौगोलिक क्षेत्र नहीं होता, जबकि एक समाज का साधारणतः एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र होता है।

5. समाज में व्यक्ति का उत्तरदायित्व असीमित होता है, जबकि एक समाज में सीमित होता है।

6. समाज में विभिन्न व्यक्तियों के व्यवहारों एवं मनोवृत्तियों में काफी भिन्नता देखने को मिलती है, जबकि एक समाज में इनमें काफी समानता पायी जाती है।

7. 'एक समाज' का आकार काफी छोटा है, जबकि समाज का आकार व्यापक होता है।

समाजशास्त्र सामान्यतः समाज विशेष या 'एक समाज' का अध्ययन न करके 'समाज' का अध्ययन करता है जो कि सामाजिक संबंधों की एक जटिल व्यवस्था है। समाज की प्रतिकृति को समाजशास्त्र के माध्यम से भली भांति समझ कर ही व्यक्ति के जीवन को उन्नत करने और सामाजिक जीवन को सफल बनाने का प्रयत्न किया जा सकता है।

समाज के प्रकार (Types of society)

समाजशास्त्र समाज का अध्ययन करता है और समाज को हम उस समय तक पूरी तरह से नहीं समझ सकते जब तक कि उसके प्रकारों के बारे में जानकारी प्राप्त नहीं कर ली जाती है। यहाँ हम समाजों के कुछ प्रकारों पर विचार करेंगे :

परंपरागत एवं मुक्त समाज (Traditional and Open society)

परंपरागत समाज– साधारणतः परंपरागत समाज में परंपराओं एवं प्रथाओं का विशेष महत्व होता है। परंपरागत समाज में धर्म का जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में काफी प्रभाव पाया जाता है। व्यक्तियों के विश्वासों, दृष्टिकोणों एवं व्यवहार में धार्मिक या आध्यात्मिक तत्वों की प्रधानता देखने को मिलती है। ऐसे समाज में विज्ञान को कोई महत्व नहीं दिया जाता। व्यक्तियों की प्रस्थिति और भूमिका का निर्धारण अधिकतर परंपराओं के आधार पर और कहीं कहीं जन्म के आधार पर होता है। व्यक्तियों के व्यवहारों को नियंत्रित करने या सामाजिक नियंत्रण को बनाए रखने में धर्म, नैतिकता, प्रथा, परंपरा, रूढ़ि एवं जनमत का विशेष महत्व होता है। ऐसा समाज प्रौद्योगिकीय दृष्टि से विकसित नहीं होता है और इसी कारण यहाँ श्रम–विभाजन व विशेषीकरण भी नहीं के बराबर होता है। ऐसे समाज में भाग्यवादिता एवं रूढ़िवादिता का काफी प्रभाव पाया जाता है। परिणामस्वरूप यहां स्त्रियों की स्थिति निम्न होती है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि परंपरागत समाज वह समाज है जिसकी सामाजिक व्यवस्था में धर्म, नैतिकता, प्रथा, परंपरा, जनमत, जन्म, भाग्यवादिता एवं रूढ़िवादिता का विशेष महत्व देखने को मिलता है तथा परिणामस्वरूप जिनमें सामाजिक गतिशीलता एवं सामाजिक परिवर्तन की गति सापेक्ष रूप से काफी धीमी होती है।

मुक्त समाज– मुक्त समाज का तात्पर्य 'खुला समाज' से है। साधारणतः इस प्रकार के समाज में परंपरागत समाज से कुछ भिन्न प्रकार की विशेषताएँ पायी जाती हैं, परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ऐसे समाज में धर्म, नैतिकता, प्रथा, परंपरा, आदि का महत्व बिल्कुल नहीं पाया जाता। इतना अवश्य है कि मुक्त समाज में परंपरागत समाज की तुलना में इन सबका महत्व काफी कम होता है। मुक्त समाज रूढ़िवादी समाज नहीं होकर प्रगतिशील और सापेक्ष रूप से अधिक परिवर्तनशील समाज होता है। ऐसे समाज में सामाजिक स्तरीकरण का आधार जन्म, प्रथा, परंपरा, आदि नहीं होकर वैयक्तिक योग्यता या गुण होते हैं। यहाँ जाति–व्यवस्था के बजाय वर्ग–व्यवस्था का महत्व पाया जाता है। ऐसे समाज में जन्म, जाति, प्रजाति, आदि के आधार पर व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति एवं भूमिका का निर्धारण नहीं होकर शिक्षा, धन, गुण, योग्यता, व्यवसाय, आदि के आधार पर होता है। ऐसे समाज में सामाजिक नियंत्रण के औपचारिक साधनों, कानून, पुलिस, प्रशासन, अदालत, आदि का अनौपचारिक साधनों, प्रथा, जनमत, रूढ़ि, धर्म नैतिकता की तुलना में अधिक महत्व पाया जाता है।

मुक्त समाज में विज्ञान का व्यापक प्रभाव देखने को मिलता है। मुक्त समाज वह समाज है जिसकी सामाजिक व्यवस्था में धन, शिक्षा, वैयक्तिक गुण या योग्यता, आदि को विशेष महत्व दिया जाता है और जिनके आधार पर व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति का निर्धारण होता है। ऐसा समाज रूढ़िवादी नहीं होकर प्रगतिशील और परिवर्तनशील होता है जिसमें सामाजिक

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

गतिशीलता अधिक पायी जाती है और सामाजिक परिवर्तन की गति तुलनात्मक दृष्टि से तीव्र होती है।

आदिम समाज और सभ्य समाज– सभ्यता के स्तर की दृष्टि से विचार करने पर मानव समाज को मुख्यतः दो प्रकार के समाजों में बाँटा जा सकता है। ये प्रकार हैं : 1. आदिम समाज, एवं 2. सभ्य समाज। आदिम समाज का अर्थ स्पष्ट करते हुए इवांस प्रिचार्ड ने लिखा है कि मानवशास्त्री 'आदिम समाज' शब्द का प्रयोग उन समाजों के लिए करते हैं जो जनसंख्या, क्षेत्र और सामाजिक संपर्कों की परिधि की दृष्टि से छोटे होते हैं और जिनकी अधिक प्रगतिशील समाजों की तुलना में सरल प्रौद्योगिकी तथा सरल प्रकार की अर्थव्यवस्था होती है और जिनमें सामाजिक कार्यों का कम विशेषीकरण पाया जाता है। रॉबर्ट रैडफील्ड ने आदिम समाज की परिभाषा में कुछ अन्य विशेषताओं को जोड़ दिया है, जैसे साहित्य, व्यवस्थित कला, विज्ञान एवं अध्यात्म विद्या का अभाव।

आदिम समाज के अंतर्गत प्रमुखतः वे जनजातीय समाज आते हैं जो पहाड़ी, पठारी या घने जंगली प्रदेशों में निवास करते हैं और जो आधुनिक सभ्यता की दृष्टि से काफी पिछड़े हुए हैं। ऐसे समाजों को सरल समाज भी कहा जाता है। भारत में अनेक जनजातियाँ जैसे टोडा, कमार, आदि आदिम समाज के ही उदाहरण हैं।

सभ्य समाज वे समाज हैं जो जनसंख्या, क्षेत्र और सामाजिक संपर्कों की परिधि की दृष्टि से काफी बड़े होते हैं और जिनकी प्रौद्योगिकी तथा अर्थव्यवस्था काफी विकसित प्रकार की होती है और जिनमें सामाजिक कार्यों का काफी विशेषीकरण पाया जाता है। इनमें साहित्य, कला एवं विज्ञान का विशेष महत्व होता है। इनमें शिक्षा का व्यापक प्रसार तथा विकसित प्रकार का राजनीतिक संगठन देखने को मिलता है। द्वितीयक संबंधों एवं समूहों की, सभ्य समाज में प्रधानता पायी जाती है। परिवार, नातेदारी, धर्म, परंपरा एवं रूढ़ि का ऐसे समाज में सापेक्ष दृष्टि से कम महत्व पाया जाता है। ऐसे समाज में सामाजिक विभेदीकरण अधिक मात्रा में देखने को मिलता है। ऐसे समाज को जटिल समाज भी कहा जाता है। वर्तमान भारत का समाज और पाश्चात्य समाज सभ्य समाज के ही उदाहरण हैं।

सरल समाज तथा जटिल समाज (Simple and complex society)

सरल तथा जटिल सापेक्ष शब्द है। एक समाज किसी अन्य समाज की तुलना में सरल समाज हो सकता है और वहीं दूसरा समाज किसी तीसरे समाज की तुलना में जटिल हो सकता है। इसके बावजूद भी इन दोनों प्रकार के समाजों में कुछ मौलिक भेद हैं जिन्हें स्पष्टतः समझ लिया जाना चाहिए। सरल समाज का अर्थ उस समाज से है जिसकी संरचना तथा प्रकार्य सरल है या सरलता लिए हुए है। इसके विपरीत जटिल समाज वह समाज है जिसकी संरचना तथा प्रकार्य जटिल है या जटिलता लिए हुए है। विभेदीकरण की मात्रा के आधार पर सरलता एवं जटिलता के अर्थ को स्पष्टतः समझा जा सकता है। विभेदीकरण का तात्पर्य अनेकता या विभिन्नता से है। जिस समाज की संरचना और प्रकार्य जितने कम विभेदीकृत है विभिन्नताएं जितनी कम हैं वह समाज उतना ही सरल होगा। इसके विपरीत, जिस समाज की संरचना और प्रकार्य जितने अधिक विभेदीकृत हैं या जितनी अधिक विभिन्नताएँ लिए हुए हैं वह समाज उतना ही जटिल होगा। आदिम जनजातीय समाज सरल समाज के और आधुनिक सभ्य समाज जटिल समाज के उदाहरण हैं।

कार्ल मार्क्स का वर्गीकरण– आर्थिक व्यवस्था को एक निर्णायक संस्था मानकर कार्ल मार्क्स ने अपना प्रसिद्ध वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। आपने लिखा है, ''व्यापक रूप से हम एशियाई, प्राचीन, सामंतवादी तथा आधुनिक उत्पादन के तरीकों को समाज के आर्थिक निर्माण की प्रगति में कई अवस्थाएँ (युग) मान सकते हैं।'' अन्य स्थान पर आपने तथा एन्जिल्स ने आदिम साम्यवादी, प्राचीन समाज, सामंतवादी समाज और पूंजीवाद को मानव इतिहास का प्रमुख युग कहा है। बाटोमोर ने बताया है कि यदि हम इन दोनों योजनाओं को मिला दें तो हमें समाजों के पाँच मुख्य प्रकार मिलते हैं। आदिम, एशियाई, प्राचीन, सामंतवादी तथा पूंजीवादी।

1. आदिम समाज (Primitive society)– इसे आदिम साम्यवादी समाज भी कहा गया है। ऐसे समाज में उत्पादन के साधनों पर पूरे समुदाय का समान अधिकार होता है न कि किसी व्यक्ति विशेष या कुछ व्यक्तियों का। उत्पादन प्रणाली आदिम प्रकार की होती है। लोग तीर–कमान एवं पत्थर के कुछ औजारों की सहायता से थोड़ा बहुत उत्पादन एवं पशुओं का शिकार कर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। संयुक्त श्रम के आधार पर जो कुछ उत्पादन होता है, उसे सब लोग आपस में बांट लेते हैं। ऐसे समाज में न तो वर्ग–भेद और न ही शोषण पाया जाता है।

2. एशियाई समाज (Asiatic society)– मार्क्स ने भारत को एशियाई समाज का एक उदाहरण माना है। आपने एशियाई समाज की परिभाषा करते हुए कहा था कि यह एक ऐसा समाज है जिसकी कृषि प्रधान आर्थिक व्यवस्था उत्पादन की छोटी इकाइयों पर आधारित है। साथ ही जिसमें केन्द्रित राज्य और नौकरशाही है जिसकी शक्ति जल पूर्ति नियमन पर निर्भर करती है। ऐसे समाजों में कृषि उत्पादन छोटी छोटी इकाइयों के द्वारा किया जाता है और राज्य तथा नौकरशाही जनपूर्ति से संबंधित प्रमुख कार्यों को सम्पन्न करते हैं।

3. प्राचीन समाज (Ancient Society) – ऐसे समाज की प्रमुख विशेषता परंपराओं का विशेष बोलबाला है। व्यक्ति के व्यवहारों का निर्धारण परंपराओं द्वारा ही होता है। ऐसे समाजों में उत्पादन की प्रणाली अधिक विकसित नहीं होती। लोग पशु–पालन एवं खेती का कार्य साधारणतः कम विकसित औजारों की सहायता से करते हैं। ऐसे समाज में निजी संपत्ति की धारणा के होने से संपत्ति का असमान वितरण पाया जाता है। परिणामस्वरूप आर्थिक आधार पर बने वर्ग देखने को मिलते हैं।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

कहीं कहीं एक वर्ग के द्वारा दूसरे का शोषण और कभी कभी वर्ग संघर्ष भी देखने को मिलता है।

4. सामंतवादी समाज (Feudal society)– ग्यारहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी तक के यूरोपीय समाज और जापान, सामंतवादी समाज के ही विभिन्न उप–प्रकारों के अंतर्गत आते हैं। ऐसे समाजों में भूमि तथा उत्पादन के अन्य साधनों पर साधारण किसानों का अधिकार नहीं होकर कुछ सामंतों या जमींदारों का अधिकार होता है। ये लोग अर्द्ध–दास किसानों से खेती एवं उत्पादन का कार्य कराते थे। निजी संपत्ति की विकसित धारणा के कारण इस प्रकार के समाजों में संपत्ति का असमान वितरण देखने को मिलता था। ऐसे समाजों में सामंतों द्वारा किसानों का शोषण किया जाता और वर्ग–भेद व वर्ग–संघर्ष पाया जाता था। इनमें राजनीतिक शक्ति भी कुछ व्यक्तियों में सीमित होती थी।

5. पूंजीवादी समाज (Capitalist society)– पूंजीवादी समाजों की स्थापना में मशीनों के आविष्कार एवं बड़े उद्योग–धंधों का विशेष योग है। मशीनों की सहायता से बड़े पैमाने पर वस्तुओं का उत्पादन किया जाने लगा। उत्पादन के साधनों पर कुछ पूंजीपतियों का अधिकार हो गया। उत्पादन कार्य वेतनभोगी मजदूरों की सहायता से किया जाने लगा। पूंजीपतियों का मुनाफा बढ़ता गया और वे अधिकाधिक धनी होते गए। दूसरी ओर श्रमिक अपने श्रम को बेचकर मुश्किल से इतना ही कमा पाते थे जिससे उनकी आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। श्रमिकों का पूंजीपतियों द्वारा शोषण बढ़ता गया। परिणामस्वरूप वर्ग–भेद और वर्ग–संघर्ष बढ़ने लगे।

उपर्युक्त पाँच प्रकारों के अतिरिक्त कार्ल मार्क्स ने समाज का एक अन्य प्रकार– समाजवादी समाज बताया है। रूस और चीन इस प्रकार के समाज का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। मार्क्स की मान्यता है कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में समाजवादी समाज के बीज छिपे हुए हैं। गरीब–अमीर के भेद के बढ़ने और तीव्र वर्ग–चेतना के जागृत होने पर वर्ग–संघर्ष होगा जिसमें पूंजीपति वर्ग को समाप्त कर वर्ग विहीन समाज की स्थापना की जाएगी। ऐसे समाज में निजी संपति का कोई स्थान नहीं है। उत्पादन के साधनों पर व्यक्ति विशेष का अधिकार नहीं होकर सारे समाज का अधिकार होता है। ऐसे समाज में उत्पादन लाभ के लिए नहीं बल्कि उपभोग के लिए किया जाता है। सभी अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करते हैं और आवश्यकता के अनुसार प्राप्त करते हैं। ऐसे समाज में धर्म, आध्यात्मिक शक्ति या परमात्मा का कोई स्थान नहीं होता।

टॉनीज का वर्गीकरण (Tonnies' classification) – टॉनीज ने सामाजिक संबंधों की प्रकृति के आधार पर समाजों को दो श्रेणियों में विभाजित किया है–

1. गेमाइनशाफ्ट (Gemeinschaft); तथा
2. गेसेलशाफ्ट (Gesellschaft)

प्रथम श्रेणी में टॉनीज ने औद्योगीकरण के पूर्व के समाजों को सम्मिलित किया है, जबकि दूसरी श्रेणी में औद्योगीकृत समाजों को। गेमाइनशाफ्ट (बद्ध समाज) में टॉनीज के अनुसार, उच्च कोटि की सामाजिक एकता तथा समुदाय व समाज के प्रति उच्च कोटि की प्रतिबद्धता पाई जाती है। सदस्यों में अपने समाज के मूल्यों और मानकों के बारे में पूर्ण मतैक्य (एक मत) रहता है। इसमें सामाजिक संबंध स्वाभाविक रूप से विद्यमान होते हैं, स्वेच्छा से या सोच–विचाकर स्थापित नहीं किए जाते। इसके विपरीत, गेसेलशाफ्ट (संघ समाज) में सामाजिक संबंध कृत्रिम रूप से स्थापित किए जाते हैं अर्थात् व्यक्ति परस्पर लाभ की संभावना और विनिमय की भावना से प्रेरित होकर सामाजिक संबंधों का निर्माण करते हैं और यही संबंध उन्हें एक दूसरे से बांधकर रखते हैं। इस वर्गीकरण में द्वैत वर्गीकरण के सभी दोष पाए जाते हैं। पहले तो यह अति सरल है तथा दूसरे औद्योगिक समाजों की बहुत सी विशेषताएँ पूर्व–औद्योगिक समाजों में तथा पूर्व–औद्योगिक समाजों की औद्योगिक समाजों में पाई जाती हैं।

समुदाय
(Community)

समुदाय समाजशास्त्रीय साहित्य में एक प्राथमिक अवधारणा है। सामान्य बोलचाल की भाषा में समुदाय शब्द का प्रयोग किसी जाति विशेष, धर्म विशेष या किसी समाज विशेष के लिए किया जाता है। परंतु समाज शास्त्र में समुदाय शब्द का प्रयोग विशेष संदर्भों में किया जाता है। समाजशास्त्र में किसी गाँव, कस्बे, नगर, राज्य, देश के संदर्भ में समुदाय शब्द का प्रयोग किया जाता है। समुदाय को एक क्षेत्रीय अवधारणा के रूप में स्वीकार किया जाता है।

समुदाय का अर्थ एवं परिभाषा
Meaning and Definition of community

शाब्दिक दृष्टि से समुदाय के अर्थ पर विचार करें तो हम पाते हैं कि अंग्रेजी का कम्युनिटी (समुदाय) शब्द दो लेटिन शब्दों– Com तथा Munis से बना है। Com शब्द का अर्थ together अर्थात् एक साथ और Munis का अर्थ serving अर्थात 'सेवा करना' है। इन शब्दों के आधार पर समुदाय का तात्पर्य 'साथ–साथ मिलकर सेवा करने से है। अन्य शब्दों में, समुदाय का अर्थ व्यक्तियों के ऐसे समूह से है जो निश्चित भू–भाग पर साथ–साथ रहते हैं और वे किसी एक उद्‌देश्य के लिए नहीं बल्कि सामान्य–उद्‌देश्यों के लिए इकट्‌ठे रहते हैं, उनका संपूर्ण जीवन सामान्यतः यहीं व्यतीत होता है।

समुदाय को परिभाषित करते हुए प्रो. डेविस लिखते हैं, ''समुदाय सबसे छोटा ऐसा क्षेत्रीय समूह है जिसमें सामाजिक जीवन के समस्त पहलू आ जाते हैं।'' इस परिभाषा में समुदाय के तीन तत्वों का उल्लेख किया गया है– 1. व्यक्तियों का समूह, 2. निश्चित भौगोलिक क्षेत्र, 3. सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं का समावेश।

बोगार्डस के अनुसार, 'एक समुदाय एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसमें कुछ अंशों में 'हम की भावना' पायी जाती है तथा

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

जो एक निश्चित क्षेत्र में रहता है।''

लुंडबर्ग तथा अन्य ने समुदाय को परिभाषित करते हुए लिखा है, ''एक मानव जनसंख्या जो एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करती है और जो सामान्य एवं अन्योन्याश्रित जीवन व्यतीत करती है।''

मैकाइवर तथा पेज के अनुसार, ''जब किसी छोटे या बड़े समूह के सदस्य साथ–साथ इस प्रकार रहते हैं कि वे किसी विशेष हित में ही भागीदार नहीं होकर सामान्य जीवन की मूलभूत दशाओं या परिस्थितियों में भाग लेते हों तो ऐसे समूह को समुदाय कहा जाता है।'' इन्हीं विद्वानों ने अन्यत्र लिखा है, 'समुदाय सामाजिक जीवन का ऐसा क्षेत्र है जिसमें सामाजिक सम्बद्धता कुछ मात्रा में पायी जाती है।'' स्पष्ट है कि आपने समुदाय को एक ऐसा क्षेत्रीय समूह माना जो एक सामान्य जीवन जीता है।

ऑगबर्न तथा निमकॉफ के अनुसार, ''एक सीमित क्षेत्र में सामाजिक जीवन के संपूर्ण संगठन को समुदाय कहा जाता है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि समुदाय सामान्य सामाजिक जीवन में भागीदार लोगों का एक ऐसा समूह है जो किसी निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करता है और जिसमें हम की भावना या सामुदायिक भावना पायी जाती है।

समुदाय के आवश्यक तत्व (Essential elements of Community)

किसी भी समूह के समुदाय कहलाने अथवा समुदाय के निर्माण के लिए तीन तत्वों का होना प्रमुखतः आवश्यक माना गया है जो इस प्रकार है : प्रथम, व्यक्तियों का समूह, द्वितीय, निश्चित भौगोलिक क्षेत्र, तृतीय, सामुदायिक भावना।

1. व्यक्तियों का समूह (Group of individuals) – किसी भी समुदाय के लिए व्यक्तियों का समूह प्रथम आवश्यकता है। व्यक्तियों के बिना न तो सामान्य सामाजिक जीवन की कल्पना की जा सकती है और न ही सामुदायिक भावना की। अतः व्यक्तियों का समूह समुदाय के निर्माण के लिए प्रथम प्रमुख तत्व है।

2. निश्चित भौगोलिक क्षेत्र (Definite geographical area)– प्रत्येक समुदाय के लिए एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र का होना भी आवश्यक है। जब तक कोई समूह निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास नहीं करता है, तब तक उसे समुदाय नहीं कहा जा सकता। किसी भी गाँव, नगर या राष्ट्र को इसीलिए समुदाय कहा जाता है कि इनमें से प्रत्येक का अपना अपना निश्चित भौगोलिक क्षेत्र होता है। एक क्षेत्र विशेष में लंबे समय तक साथ साथ रहने और जीवन की सामान्य गतिविधियों में भाग लेने से लोगों में अपनत्व की भावना पनपती है। वे इस समूह विशेष को अपना समूह समझते हैं। निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में एक दूसरे के निकट रहने के कारण ही लोगों में अन्तर्क्रिया की मात्रा बढ़ती है जो सामाजिक संबंधों के निर्माण की दृष्टि से आवश्यक है।

3. सामुदायिक भावना (Community sentiments) – इसे 'हम की भावना' के नाम से पुकारते हैं। समुदाय के निर्माण के लिए व्यक्तियों के समूह तथा निश्चित भौगोलिक क्षेत्र के अलावा सामुदायिक भावना का होना भी अत्यंत आवश्यक है। सामुदायिक भावना का तात्पर्य 'हम सब एक हैं', 'यह समुदाय हमारा है', 'यह अन्य समुदायों से भिन्न है', 'इसके सुख–दुख में हम सभी समान रूप से भागीदार हैं', 'हम सब दृढ़ता के सूत्र में बँधे हुए हैं', आदि से है। सामान्यतः प्रत्येक समुदाय अन्य समुदायों के संदर्भ में एक संगठित इकाई के रूप में कार्य करता है। जब तक किसी निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करने वाले लोगों में यह सामुदायिक भावना नहीं पनपती तब तक उसे समुदाय नहीं कहा जा सकता। जब कुछ लोग लंबे समय से इकट्ठे साथ–साथ रहते हैं, साथ–साथ कार्य करते हैं, एक दूसरे के सुख–दुख में भाग लेते हैं, सामूहिक हितों के प्रति जागरूक रहते हैं और आवश्यकता पड़ने पर बड़े से बड़ा त्याग करने को तैयार रहते हैं तो उनमें 'हम की भावना या सामुदायिक भावना' का पनपना स्वाभाविक ही है।

सामुदायिक भावना के अंतर्गत प्रमुखतः तीन बातें पायी जाती हैं–

1. हम की भावना की अभिव्यक्ति (Expression of we-feeling) – हम की भावना व्यक्तियों को सुख–दुख में साथ देने और मिलकर काम करने को प्रोत्साहित करती है। स्थान या क्षेत्र विशेष के साथ लोगों का विशेष लगाव पाया जाता है। वे अपने समुदाय के लोगों को अपना समझते हैं। उनमें भाई–चारे के संबंध पाए जाते हैं। हम सब एक हैं, हमारे सबके हित समान हैं और सब एक दूसरे के साथ जुड़े हुए हैं इस प्रकार की बलवती भावना समुदाय के सदस्यों को एकता के सूत्र में बाँधे रखती है।

2. योगदान या दायित्व निर्वाह की भावना (Contribution or sentiments of role playing) – सामुदायिक भावना का एक अन्य तत्व सदस्यों में समुदाय के कार्यों में सम्मिलित होने और योग देने की भावना से है। समुदाय से संबंधित अनेक ऐसे सामूहिक कार्य होते हैं जिन्हें पूरे समुदाय के सहयोग के बिना पूर्ण नहीं किया जा सकता है। अतः विभिन्न सदस्य अपनी अपनी प्रस्थितियों के अनुसार भूमिका निभाते हुए समुदाय के कार्यों में योग देते हैं और अन्य सदस्यों की सहायता करना अपना दायित्व समझते हैं।

3. निर्भरता की भावना (Feeling of dependency) – सामुदायिक भावना के अंतर्गत निर्भरता की भावना एक आवश्यक तत्व है। व्यक्ति अपने को एक–दूसरे पर और संपूर्ण समुदाय पर निर्भर समझते हैं। उन्हें अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य के सहयोग पर निर्भर रहना पड़ता है। पारस्परिक रूप से निर्भर रहने की भावना सामुदायिक भावना को बढ़ाने में योग देती है।

वर्तमान समय में औद्योगीकरण, श्रम–विभाजन, विशेषीकरण, नगरीकरण, यातायात और संचार के साधनों के विकास, भौगोलिक दूरी में कमी, एक ही विश्व दृष्टिकोण, जनसंख्या की तीव्र वृद्धि एवं जनसंख्या में विविधता, व्यक्तिगत स्वार्थ का बढ़ना तथा द्वैतीयक संबंधों की प्रधानता, आदि कारणों से सामुदायिक भावना

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

में कमी आती जा रही है और ऐसा विशेषतः नगरीय समुदायों में देखने को मिलता है।

समुदाय की कुछ विशेषताएँ (लक्षण)
Few characteristics of community

उपर्युक्त तीन आधारों के अलावा समुदाय की निम्नलिखित कुछ प्रमुख विशेषताएँ या लक्षण इस प्रकार हैं :

1. **स्वतः विकास** (Spontaneous growth) – समुदाय का निर्माण कुछ लोगों के द्वारा जान बूझकर या नियोजित प्रयत्नों द्वारा नहीं किया जाता। इसका तो समय के बीतने के साथ–साथ स्वतः ही विकास होता है। जब कुछ लोग किसी स्थान विशेष पर रहने लगते हैं तो धीरे–धीरे उनमें हम की भावना पनपती है और वे वहाँ रहने वाले सभी लोगों के समूह को अपना समूह समझने लगते हैं। इस प्रकार की भावना के विकसित होने पर वह समूह समुदाय का रूप ग्रहण कर लेता है।

2. **स्थायीपन** (Permanency) – इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक समुदाय एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में स्थायी रूप से रहता है। किसी भी अस्थायी समूह जैसे भीड़, श्रोता–समूह या खानाबदोश झुंड को समुदाय नहीं माना जाता क्योंकि इनके साथ भौगोलिक क्षेत्र स्थायी रूप से जुड़ा हुआ नहीं होता। समुदाय एक ही स्थान पर स्थायी रूप से बना रहता है जब तक कि भूकंप, तूफान, बाढ़ या युद्ध के कारण वह पूरी तरह से नष्ट न हो जाए। हम स्पष्टतः यह जानते हैं कि कौन–सा समुदाय किसी भौगोलिक क्षेत्र में बसा हुआ है। इसका कारण समुदाय के साथ स्थायित्व के तत्व का जुड़ा होना है।

3. **विशिष्ट नाम** (Specific name)– प्रत्येक समुदाय का अपना एक विशिष्ट नाम होता है जो उस समुदाय के लोगों में 'हम की भावना' जागृत करने और उसे बनाए रखने में योग देता है। प्रत्येक समुदाय के नाम के साथ एक विशिष्ट इतिहास जुड़ा हेता है जो उसे एक विशिष्टता प्रदान करता है। उदाहरण के रूप में, दिल्ली एक ऐसा समुदाय है जिसके नाम के साथ एक लंबा इतिहास जुड़ा हुआ है जो उसे विशिष्टता प्रदान करता है।

4. **मूर्तता** (Concreteness)– समुदाय एक मूर्त समूह है। इसका कारण यह है कि एक निश्चित भू–भाग पर बसे मनुष्यों के समूह के रूप में हम इसे देख सकते हैं। यद्यपि समुदाय से संबंधित विभिन्न नियमों को तो नहीं देखा जा सकता, परंतु मनुष्यों के रूप में इसे अनुभव अवश्य किया जा सकता है।

5. **व्यापक उद्देश्य** (Extensive objectives) – समुदाय का विकास किसी एक या कुछ विशिष्ट उद्देश्यों के लिए नहीं होता। यह तो व्यक्तियों के जीवन की विभिन्न गतिविधियों का केन्द्र स्थल है। इसमें अनेक समूह, समितियाँ एवं संस्थाएँ समाहित होती हैं जो समुदाय के व्यापक लक्ष्यों की पूर्ति में योग देती हैं। समुदाय का उद्देश्य इस दृष्टि से भी व्यापक है कि यह किसी व्यक्ति विशेष, समूह विशेष या वर्ग विशेष के हित या लक्ष्यों की पूर्ति के लिए कार्य न करके सभी व्यक्तियों एवं समूहों के सभी प्रकार के लक्ष्यों की पूर्ति हेतु कार्य करता है।

6. **सामान्य जीवन** (Common life)– प्रत्येक समुदाय के कुछ सामान्य रीति–रिवाज, परंपराएँ, विश्वास, उत्सव एवं त्यौहार तथा संस्कार, आदि होते हैं जो उस समुदाय के लोगों के जीवन में एकरूपता उत्पन्न करने में योग देते हैं। समुदाय में ही व्यक्ति की आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, आदि आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। यहीं उसका संपूर्ण जीवन व्यतीत होता है। इस दृष्टि से समुदाय सामान्यताओं का एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ व्यक्ति इस या उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए नहीं बल्कि अपना सारा जीवन बिताने के लिए रहता है। इस प्रकार समुदाय में सदस्यों का संपूर्ण जीवन सामान्य रूप से व्यतीत होता है।

7. **सामान्य नियम व्यवस्था** (Common rules system) – गिन्सबर्ग ने नियमों की सामान्य व्यवस्था को समुदाय की एक महत्वपूर्ण विशेषता माना है। सामान्य नियमों के माध्यम से सदस्यों के व्यवहार को निर्देशित किया जाता है, उन पर नियंत्रण रखा जाता है। सामान्य नियमों से निर्देशित होने के कारण ही एक समुदाय विशेष के लोगों के व्यवहारों में बहुत कुछ समानता देखने को मिलती है। सामान्य नियम–व्यवस्था का प्रभाव छोटे समुदायों जैसे ग्राम समुदाय या जनजातीय समुदाय में विशेषतः पाया जाता है, जहाँ अनौपचारिक साधनों या अलिखित नियमों द्वारा व्यक्तियों के व्यवहारों को निर्देशित और नियंत्रित किया जाता है।

8. **आत्म निर्भरता** (Self dependency)– समुदाय को एक आत्म–निर्भर समूह माना गया है जो अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं ही कर लेता है। इसका तात्पर्य यह है कि उसे किसी अन्य समुदाय पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं पड़ती। समुदाय की यह विशेषता आदिम समुदायों, जनजातीय समुदायों या छोटे समुदायों में पायी जा सकती है, वर्तमान समय के बड़े समुदायों में नहीं। आज तो छोटे समुदायों, जैसे ग्रामों तक को अन्य ग्रामीण या नगरीय समुदायों पर निर्भर रहना पड़ता है। अतः किसी समय आत्म निर्भरता समुदाय की एक महत्वपूर्ण विशेषता थी, परंतु अब इसका महत्व कम हो गया है। अब तो अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रत्येक समुदाय को कम या अधिक मात्रा में साधारणतः अन्य समुदायों पर निर्भर रहना पड़ता है। यह कहा जा सकता है कि आज भौतिक दृष्टि से तो समुदाय आत्म–निर्भर नहीं रहे हैं, परंतु सामाजिक दृष्टि से आत्म–निर्भर अवश्य हैं, क्योंकि सामाजिक जीवन के सभी महत्वपूर्ण पहलू समुदाय में आ जाते हैं।

9. **अनिवार्य सदस्यता** (Compulsory membership) – प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी समुदाय का सदस्य अवश्य होता है। वह किसी न किसी क्षेत्र विशेष में अन्य लोगों के निकट रहता है, उसके साथ अन्तःक्रिया करता है। उसे अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किसी न किसी क्षेत्रीय–समूह अर्थात् समुदाय में रहना पड़ता है। एक क्षेत्र विशेष में लंबी अवधि तक अन्य लोगों के साथ रहने में उसमें अपने समुदाय के प्रति एक लगाव या अपनत्व का भाव पैदा हो जाता है। आज के युग में

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

भौगोलिक और सामाजिक गतिशीलता के बढ़ जाने से लोग एक भौगोलिक क्षेत्र में दूसरे क्षेत्र में चले जाते हैं, एक समुदाय को छोड़कर किसी अन्य समुदाय में जाकर रहने लग जाते हैं, परंतु इतना अवश्य है कि सामान्यतः प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी समुदाय का सदस्य अवश्य होता है।

समुदाय के प्रकार (Types of Communities)

विभिन्न समाजशास्त्रियों ने समुदाय के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख किया है। प्रो. किंग्सले डेविस ने बताया है कि समुदायों का वर्गीकरण करने के लिए चार अंतर–संबंधित तत्वों या कसौटियों को काम में लिया जा सकता है जो इस प्रकार है– 1. जनसंख्या का आकार, 2. समुदाय के चारों ओर के प्रदेश का विस्तार, संपत्ति एवं आबादी, 3. संपूर्ण समाज में समुदाय के विशेषीकृत कार्य, तथा 4. समुदाय के संगठन का प्रकार। इन तत्वों के आधार पर आदिम समुदायों के विभिन्न प्रकारों के बीच, आदिम और सभ्य समुदायों के बीच तथा ग्रामीण और नगरीय समुदायों के बीच अंतर को स्पष्ट करने की क्षमता प्राप्त हो जाती है।

प्रो. डेविस ने प्रमुखतः आदिम जातियों और गांवों में अंतर स्पष्ट किया है। इसके अलावा आपने ग्रामीण एवं नगरीय समुदायों पर सविस्तार प्रकाश डाला है। अधिकांश मानव इन दो प्रकार के समुदायों में ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं। मैकाइवर एवं पेज ने ग्रामीण, नगरीय एवं क्षेत्रीय समुदायों का उल्लेख किया है। बोगार्डस ने चार प्रकार के समुदाय बताये हैं : ग्रामीण समुदाय, नगरीय समुदाय, क्षेत्रीय समुदाय (प्रांत, प्रदेश, आदि) तथा राष्ट्रीय समुदाय (राष्ट्र)। राबर्ट रेडफील्ड ने लघु समुदाय का उल्लेख किया है जिसे कुछ लोगों ने लघु कृषक समुदाय के नाम से भी पुकारा है।

हम यहाँ समुदाय के कुछ प्रमुख प्रकारों का उल्लेख करेंगे–

1. ग्रामीण समुदाय (Rural community) – ग्रामीण समुदाय मानव आवास का एक रूप है जिसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं– लघु आकार, कम जनसंख्या, जीवन यापन के लिए लोगों की प्रकृति पर निर्भरता, कृषि मुख्य व्यवसाय, संबंधों की घनिष्ठता एवं आत्मीयता, प्रकृति से घनिष्ठ संबंध, निवासियों में सामाजिक–सांस्कृतिक समरूपता, सरल एवं सादा जीवन, सामाजिक गतिशीलता का अभाव, धर्म, प्रथा और रूढ़ियों का अधिक प्रभाव, परिवार का जीवन में अधिक महत्व होना एवं संयुक्त परिवार प्रणाली का प्रचलन, सामुदायिक भावना की प्रगाढ़ता आदि।

भारत के सभी गांव ग्रामीण समुदाय के प्रमुख उदाहरण हैं।

1 नगरीय समुदाय (Urban community)– नगरीय समुदाय ग्रामीण समुदाय के विपरीत विशेषताओं वाले क्षेत्र होते हैं। नगरीय समुदायों की प्रमुख विशेषताएँ हैं– बड़ा आकार, जनसंख्या की बहुलता, जनसंख्या की विभिन्नता, व्यवसायों की बहुलता एवं विभिन्नता तथा कृषि के स्थान पर व्यवसायों के द्वारा ही लोगों द्वारा जीवन–यापन करना, घर एवं परिवार का महत्व ग्रामीण समुदायों की अपेक्षा कम होना, छोटे परिवारों की बहुलता, द्वैतीयक संबंधों की प्रधानता, कृत्रिमता, व्यक्तिवाद को अधिक महत्व, गतिशीलता तथा विभिन्न प्रकार की सामाजिक–आर्थिक समस्याओं की प्रचुरता का होना, आदि। भारत के बड़े बड़े नगर इनके प्रमुख उदाहरण हैं।

2. लघु समुदाय (Little community)– राबर्ट रेडफील्ड ने लघु समुदाय की अवधारणा दी है। उनका मत है कि मानव समाज का लगभग तीन चौथाई भाग इसी प्रकार के समुदायों में निवास करता है। ये समुदाय मानव के स्थायी निवास बनाकर रहने के प्रारंभिक स्वरूप को दर्शाते हैं। रेडफील्ड ने लघु समुदाय की चार विशेषताओं का उल्लेख किया है– 1. लघु समुदायों का आकार बहुत छोटा होता है, 2. लघु समुदाय विशिष्ट प्रकार की जीवन शैली को व्यक्त करते हैं जिसके आधार पर एक लघु समुदाय को दूसरे से भिन्न रूप में पहचान सकते हैं। 3. लघु समुदायों के लोगों के जीवन एवं संस्कृति में समरूपता पायी जाती है, तथा 4. लघु समुदाय आत्मनिर्भर होते हैं, उनमें जन्म से लेकर मृत्यु तक की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है।

3. जनजातीय समुदाय (Tribal community)– सामान्यतः हम जनजाति समुदाय उसे कहते हैं जिनमें आदिवासी, आदिम जाति या जनजाति के लोग निवास करते हैं। एक जनजाति समुदाय में रहने वाले व्यक्ति सामान्यतः एक भाषा बोलते हैं, उनकी अपनी एक विशिष्ट संस्कृति होती है जो अपने समूह को दूसरे समूह से पृथक करती है, जनजाति समुदाय की अपनी आर्थिक एवं राजनीतिक स्वायत्तता होती है, यह एक प्रकार का बंद समाज होता है, इसमें सामाजिक समानता पायी जाती है तथा नातेदारी का महत्व अधिक होता है, इसमें धर्म एवं जादू को भी अधिक महत्व दिया जाता है, इसमें परिवार का अधिक महत्व पाया जाता है तथा गतिशीलता का अभाव एवं स्थिरता की प्रबलता पायी जाती है। दक्षिणी राजस्थान में अनेक गाँव ऐसे हैं, जहां कोई एक ही जनजाति या दो तीन जनजातियां ही एक समुदाय में रहती हैं। वे जनजातीय समुदाय के स्पष्ट लक्षणों को अभिव्यक्त करते हैं।

4. क्षेत्र (Region) – विद्वानों ने क्षेत्र या प्रदेश की व्याख्या उसकी प्रकृति के आधार पर की है। एक क्षेत्र में लक्षणों की समरूपता होती है और वह अपने लक्षणों के द्वारा दूसरे क्षेत्रों से भिन्न रूप में पहचाना जाता है। क्षेत्र या प्रदेश में भौतिक लक्षणों की ही समरूपता नहीं वरन् उसमें सांस्कृतिक लक्षण तथा आर्थिक व्यवसायों में भी समरूपता पायी जाती है। सारांश में एक क्षेत्र में 1. भौगोलिक तत्वों की समरूपता पायी जाती है, 2. उसकी एक विशिष्ट स्थिति होती है, 3. उसके लक्षण एक जैसे होते हैं, 4. उसमें समान विचार एवं समानुरूपता पायी जाती है। 5. ये परिवर्तनशील होते हैं तथा 6. इनकी व्याख्या एवं वर्गीकरण सिद्धांतों के आधार पर किया जा सकता है। भाषायी क्षेत्र, भौगोलिक क्षेत्र, आर्थिक क्षेत्र एवं सांस्कृतिक क्षेत्र विभिन्न प्रकार

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

के क्षेत्रों के उदाहरण हैं।

उपर्युक्त समुदायों के अतिरिक्त मैकाइवर ने कुछ ऐसे समुदायों का भी उल्लेख किया है जिनमें समुदाय की आंशिक विशेषताएँ पायी जाती हैं, इन्हें वह सीमावर्ती समुदाय कहता है। इनका उल्लेख पृथक् से करेंगे।

सीमावर्ती समुदायों के उदाहरण (Some examples of Marginal communities)

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि ग्राम, जनजातीय समूह (जो एक क्षेत्र विशेष में बसा हो), कस्बा, नगर, राष्ट्र, आदि समुदाय के उदाहरण हैं। इनमें समुदाय के प्रमुख आधार पर अनेक विशेषताएँ मौजूद हैं। इनके अतिरिक्त, कुछ समूह अथवा संगठन ऐसे हैं जिनके संबंध में यह भ्रम पाया जाता है कि वे समुदाय हैं अथवा नहीं। इसका कारण यह है कि उनमें समुदाय की कुछ विशेषताएँ तो पायी जाती हैं और कुछ नहीं। ऐसे समूह जिनके समुदाय होने के संबंध में कुछ भ्रम है, परंतु जिनमें समुदाय की कुछ विशेषताएँ मौजूद हैं, सीमावर्ती समुदायों के अंतर्गत आते हैं। मैकाइवर एवं पेज ने सीमावर्ती समुदायों का उल्लेख किया है। सीमावर्ती समुदाय ऐसे समुदायों को कहा जाता है जिनमें कुछ विशेषताएँ तो समुदाय की होती हैं, साथ ही उनमें संस्था, समूह, या समिति की भी विशेषताएँ होती हैं। वे पूरी तरह से समुदायों के लक्षणों को प्रकट नहीं करते। उनमें समुदाय की कुछ विशेषताएं जैसे सामान्य जीवन तथा सभी लोगों के सदस्य होने की स्वतंत्रता का गुण नहीं पाया जाता, अतः वे समुदाय न होकर सीमावर्ती समुदाय होते हैं। जाति, जेल, पड़ौस, परिवार, आदि सीमावर्ती समुदायों के उदाहरण हैं। हम यहां सीमावर्ती समुदायों के कुछ उदाहरणों पर विचार करेंगे :

1. क्या जाति एक समुदाय है?– जाति में समुदाय की कुछ विशेषताएँ पायी जाती हैं। उदाहरण के रूप में, जाति भी व्यक्तियों का एक समूह है और साथ ही इसमें अपने सदस्यों के प्रति कुछ मात्रा में 'हम की भावना' या 'सामुदायिक भावना' भी पायी जाती है। प्रत्येक जाति का अपना एक विशिष्ट नाम भी होता है। जाति किसी विशिष्ट हित या उद्देश्य को लेकर नहीं बल्कि अपने सदस्यों के सामान्य हितों को लेकर कार्य करती है। इसके अलावा प्रत्येक जाति के अपने कुछ सामान्य नियम भी होते हैं जिनके माध्यम से सदस्यों के व्यवहारों को नियंत्रित किया जाता है। इन विशेषताओं के आधार पर कुछ लोग जाति को एक समुदाय मानते हैं, परंतु समुदाय के एक प्रमुख आधार– निश्चित भौगोलिक क्षेत्र का जाति में पूर्णतः अभाव पाया जाता है। समुदाय के लिए निश्चित भौगोलिक क्षेत्र का होना आवश्यक है, परंतु जाति का क्षेत्र विशेष के साथ संबंध नहीं होता। एक ही जाति के लोग विभिन्न क्षेत्रों में फैले होते हैं। इसके अलावा एक जाति अनेक उपजातियों में बँटी होती है और ऐसी स्थिति में सामुदायिक भावना जाति के लिए केन्द्रित न होकर उपजातियों में बंट जाती है। कुछ ऐसे कारण हैं जिनकी वजह से जाति को समुदाय नहीं माना जा सकता। प्रसिद्ध समाजशास्त्री मैकाइवर भी जाति को एक समुदाय नहीं मानते।

2. क्या जेल एक समुदाय है– जेल व्यक्तियों का एक समूह है और साथ ही इसका एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र भी होता है, जेल में निवास करने वाले लोगों में कुछ मात्रा में सामुदायिक भावना भी पायी जाती है। इन आधारों पर मेकाइवर एवं पेज ने जेल को समुदाय माना है। आपने जेल को इस कारण भी समुदाय माना है कि इसका अपना एक कार्यक्षेत्र है यद्यपि अन्य समुदाय की तुलना में यह सीमित है। आपने बताया है कि कार्यक्षेत्र का सीमित होना समुदाय विशेष की प्रकृति पर निर्भर करता है।

परंतु कुछ समाजशास्त्री मैकाइवर और पेज के जेल को एक समुदाय मानने के मत से पूर्णतः असहमत हैं। जेल में जब समुदाय की अनेक विशेषताएँ नहीं पायी जाती तो इसे समुदाय कैसे माना जा सकता है। इसे समुदाय नहीं मानने के निम्नलिखित कारण हैं :

1. जेल के कैदियों में हम की भावना, जेल के प्रति लगाव या अपनत्व या त्याग की भावना का अभाव पाया जाता है। 2. जेल में सभी सामान्य जीवन में भागीदार नहीं होते, सबका जीवन समान या एक सा नहीं होता। अपराध की प्रकृति और अपराधी की परिस्थिति को ध्यान में रखकर उसे जेल में एक विशेष श्रेणी में कैदी के रूप में रखा जाता है और प्रत्येक श्रेणी के कैदियों को अन्य श्रेणियों के कैदियों से भिन्न प्रकार की सुविधाएँ मिलती हैं। ऐसी दशा में जेल के सामान्य जीवन का क्षेत्र होने का प्रश्न ही नहीं उठता। 3. व्यक्ति के जीवन के सभी पक्ष जेल में अभिव्यक्ति प्राप्त नहीं कर सकते हैं। यहां उसका कोई पारिवारिक जीवन नहीं हो सकता, वह अपने परिवार के सदस्यों के साथ यहाँ नहीं रह सकता। जीवन के सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति यहाँ संभव नहीं है। 4. जेल का स्वतः विकास नहीं होता। इसे तो जान–बूझकर एक विशिष्ट उद्देश्य– अपराधियों को सजा देने या उन्हें सुधारने हेतु निर्मित किया या बनाया जाता है। 5. जेल में समुदाय के समान स्थायित्व का भी अभाव पाया जाता है। सरकार इसे समाप्त भी कर सकती है, स्थान परिवर्तन भी कर सकती है। यहाँ हम यही कह सकते हैं कि जेल एक समुदाय न होकर समुदाय का एक अंग है, एक समिति है जिसे विशेष उद्देश्य को लेकर बनाया गया है।

3. क्या पड़ौस समुदाय है?–आदिम समाजों में पड़ौस में समुदाय की विशेषताएं पायी जाती थी। कुछ गाँवों में पड़ौस आज भी समुदाय के रूप में महत्वपूर्ण है, परंतु अब ऐसे समुदायों की संख्या नहीं के बराबर है। पहले पड़ौस एक निश्चित क्षेत्र में पीढ़ी–दर–पीढ़ी निवास करने वाले परिवारों का एक समूह था जिसमें सामुदायिक भावना थी, परंतु आज के आधुनिक जटिल नगरीकृत समाजों में पड़ौस को निम्न कारणों से समुदाय नहीं माना जा सकता–

1. पड़ौस सामान्यताओं का क्षेत्र नहीं है। यहाँ सभी व्यक्तियों की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती है।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

इसके अलावा जीवन स्तर संबंधी भी काफी भिन्नता देखने को मिलती है। यहाँ सभी लोगों का जीवन स्तर समान नहीं होता।

2. नगरीय क्षेत्रों में लोग अपने पड़ौसी को जानते तक नहीं। एक ही मकान में रहने वाले लोग एक दूसरे से अपरिचित होते हैं। ऐसी दशा में उनमें 'हम की भावना' या सामुदायिक भावना कैसे पनप सकती है जो कि समुदाय के लिए आवश्यक है।

3. आज कल तो पड़ौस का स्वतः विकास भी नहीं होता। अब तो जान–बूझकर नयी कॉलोनियाँ जैसे कर्मचारी कॉलोनी, मजदूर बस्ती, आदि बनायी जाती हैं। जिनमें व्यक्ति अपनी इच्छानुसार अपने पड़ौस को चुनता है।

4. यहाँ नियमों की कोई सामान्य व्यवस्था नहीं पायी जाती है, जो व्यक्तियों के व्यवहारों को नियंत्रित करे और उन्हें एकता के सूत्र में बाँधे। इन सब कारणों की वजह से विशेषतः नगरीय समुदायों और कुछ अपवादों को छोड़कर ग्रामीण समुदायों में भी पड़ौस को समुदाय नहीं माना जा सकता।

किसी राजनीतिक दल, आर्थिक संगठन, धार्मिक संघ, विद्यार्थी समूह, कर्मचारी संघ, क्लब, परिवार, आदि को समुदाय नहीं माना जा सकता क्योंकि इनमें समुदाय के आवश्यक आधारों एवं विशेषताओं का अभाव पाया जाता है। उपर्युक्त उदाहरणों के अतिरिक्त किसी भी अन्य समूह के संबंध में विद्यार्थी–गुण समुदाय के आधार और विशेषताओं को ध्यान में रखकर यह निश्चित कर सकते हैं कि वह समुदाय है या नहीं।

समुदाय और समाज में अंतर
Distinction between Community and Society

समुदाय	समाज
1. समुदाय व्यक्तियों का एक समूह है।	समाज सामाजिक संबंधों का जाल है।
2. व्यक्तियों का समूह होने के कारण समुदाय मूर्त है।	सामाजिक संबंधों का जाल होने के कारण समाज अमूर्त है।
3. समुदाय के लिए निश्चित क्षेत्र या भू–भाग का होना आवश्यक है।	समाज के लिए निश्चित क्षेत्र का होना आवश्यक नहीं है। समाज विशेष के सदस्य अलग अलग क्षेत्रों में बिखरे हो सकते हैं।
4. समुदाय के लिए सामुदायिक भावना अत्यंत आवश्यक है। समुदाय में सहयोगी सामाजिक संबंधों पर विशेष जोर दिया जाता है।	समाज के लिए सामुदायिक भावना आवश्यक नहीं है। समाज में सहयोगी और असहयोगी दोनों ही प्रकार के सामाजिक संबंध पाए जाते हैं।
5. समुदाय का अपना एक विशिष्ट नाम होता है।	समाज का अपना कोई नाम नहीं होता है।
6. समुदाय समाज का एक भाग है। एक समुदाय में एक से अधिक समाज नहीं हो सकते।	समाज व्यापक है। एक समाज में कई समुदाय हो सकते हैं।
7. समुदाय की प्रकृति क्षेत्रीय या स्थानीय है। इसमें अनेक समूह, समितियाँ, संघ, आदि होते हैं। समुदाय को विभिन्न भागों में बाँटकर अध्ययन किया जा सकता है।	समाज की प्रकृति समग्रता या संपूर्णता की होती है जिसे विभिन्न भागों में बाँटकर नहीं समझा जा सकता है।

सामाजिक समूह
(Social Group)

मानव समाज के इतिहास में समूह का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान रहा है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है अतः मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास समाज में रहकर ही हो सकता है। अनेक मनोवैज्ञानिकों की मान्यता है कि समूह में रहने की इच्छा जो कि मानव की एक मूल प्रवृति है, प्रत्येक मनुष्य में पाई जाती है। यही कारण है कि समाजशास्त्र के अंतर्गत समूह एक बहुत ही महत्वपूर्ण अवधारणा है। इसकी महत्ता इतनी अधिक है कि बोगार्डस, जानसन आदि समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र को सामाजिक समूहों के अध्ययन का विषय कहा है।

ऐसा कोई भी मानव समाज इतिहास में नहीं रहा जो समूह–रहित हो। वस्तुतः मनुष्य की प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति समाज के अंतर्गत ही होती है। समाज या समूह से अलग होकर मानव जीवन संभव नहीं है। इस प्रकार प्रत्येक क्षण किसी न किसी प्रकार से हम अपने आपको समूह से संबंधित मानते हैं। बालक में बुद्धि के विकास एवं सीखने की क्षमता विद्यमान रहती है पर उसका विकास समूहगत समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा ही संभव हो पाता है।

सामाजिक समूह का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and definition of social group)

समूह की समाजशास्त्रीय अवधारणा के अर्थ को स्पष्ट करते हुए ऑगबर्न तथा निमकाफ ने कहा है कि 'जब कभी दो या दो से अधिक व्यक्ति एकत्रित होते हैं एवं एक–दूसरे पर प्रभाव डालते हैं तो वे एक सामाजिक समूह का निर्माण करते हैं।

मेकाइवर एवं पेज ने लिखा है कि 'समूह से हमारा तात्पर्य व्यक्तियों के किसी भी ऐसे संग्रह से है जो एक–दूसरे के साथ सामाजिक संबंध स्थापित करते हैं।'

इन विद्वानों ने समूह निर्माण के लिए व्यक्तियों के बीच सामाजिक संबंधों को तो आवश्यक माना है, परंतु संबंधों की सीमा अथवा मात्रा का कहीं कोई उल्लेख नहीं किया है जो

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

कि अत्यंत आवश्यक है। इन परिभाषाओं से ऐसा भी लगता है कि जब कभी दो या दो से अधिक अपरिचित व्यक्ति आपस में मिलते हैं तो उससे समूह का निर्माण होता है परंतु यह दृष्टिकोण थोड़ा भ्रामक भी हो सकता है।

यह सही है कि सामाजिक समूह व्यक्तियों का एक ऐसा संकलन है जहाँ सामाजिक संबंध पाया जाता है। परंतु जैसा कि मर्टन का कहना है कि क्षणिक सामाजिक संबंध सामाजिक समूह को विकसित नहीं करते हैं वस्तुतः समूह निर्माण के लिए सदस्यों के बीच पायी जाने वाली अन्तः क्रिया एवं सामाजिक संबंधों की निरंतरता एवं स्थायित्व समूह के ढांचे को स्पष्ट करता है। इसके अतिरिक्त मर्टन ने समूह के दो महत्वपूर्ण पक्ष 1. व्यक्तिपरक पक्ष तथा 2. वस्तुपरक पक्ष, की भी चर्चा की है। इनका संबंध समूह की सदस्यता से है। व्यक्तिपरक पक्ष का तात्पर्य यह है कि स्वयं समूह के सदस्यों में इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि वे समूह के सदस्य है। वस्तुपरक पक्ष का अर्थ यह है कि समूह के सदस्यों के अतिरिक्त दूसरे लोग या एक निरपेक्ष व्यक्ति भी इसे माने कि अमुक व्यक्ति अमुक समूह का सदस्य है। इस प्रकार मर्टन के अनुसार सामाजिक समूह के मुख्य तत्व निम्न हैं–

1. दो या दो से अधिक व्यक्तियों का होना।
2. कुछ सीमा तक स्थायी एवं बार–बार होने वाली सामाजिक अन्तःक्रिया
3. समूह के सदस्य अपने आपको निश्चित समूह के सदस्य मानें तथा बाहरी लोग भी उन्हें उस समूह का सदस्य माने।

सामाजिक समूह की परिभाषाएँ
(Definitions of Social Group)

प्रमुख विद्वानों ने सामाजिक समूह की परिभाषाएँ निम्न प्रकार से दी है–

1. बॉटामोर के अनुसार–'सामाजिक समूह व्यक्तियों के उस योग को कहते हैं जिसमें 1. विभिन्न व्यक्तियों के बीच निश्चित संबंध होते हैं और 2. प्रत्येक व्यक्ति समूह के प्रति और उसके प्रतीकों के प्रति सचेत होता है। दूसरे शब्दों में, एक सामाजिक समूह में कम से कम अल्पविकसित संरचना और संगठन (नियमों और संस्कारों सहित) तथा उसके सदस्यों में चेतना का एक मनोवैज्ञानिक आधार होता है।

2. मैकाइवर एवं पेज के अनुसार–'समूह से हमारा तात्पर्य ऐसे व्यक्तियों के संग्रह से है जो एक दूसरे के साथ सामाजिक संबंध स्थापित करते हैं।''

3. बोगार्डस के अनुसार–'एक सामाजिक समूह का अर्थ हम दो या अधिक व्यक्तियों के ऐसे संग्रह से लगा सकते हैं जिनके अपने कुछ सामान्य लक्ष्य होते हैं, जो एक दूसरे को प्रेरणा देते हैं, जिनमें सामान्य वफादारी पाई जाती है और जो समान क्रियाओं में भाग लेते हैं।

सामाजिक समूह की विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि सामाजिक समूह हेतु दो या दो से अधिक व्यक्तियों में अन्तर्क्रिया एवं सामाजिक संबंधों का होना अनिवार्य है। वस्तुतः समूह के तीन तत्व होते हैं– 1. दो या दो से अधिक व्यक्तियों का संग्रह, 2. उनमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संबंधों का होना, तथा 3. उनकी क्रियाओं का आधार सामान्य हित या उद्देश्य का होना।

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि सामाजिक समूह केवल व्यक्तियों का संग्रह मात्र ही नहीं है। इन व्यक्तियों के मध्य पारस्परिक संबंधों का होना अत्यावश्यक है। अतः कहा जा सकता है कि जिस समय दो या दो से अधिक व्यक्ति कतिपय सामान्य उद्देश्यों अथवा लाभों की पूर्ति हेतु परस्पर संबंधों की स्थापना करते हैं और अपने व्यवहार द्वारा एक दूसरे को प्रभावित करते हैं, तो उसे सामाजिक समूह की संज्ञा दी जा सकती है। वास्तव में, यह उन लोगों का समुच्चय है जो आपस में किसी न किसी तरह की अन्तर्क्रिया करते हैं और इसलिए अपने आप को एक दूसरे से जुड़े हुआ अनुभव करते हैं।

सामाजिक समूह की सामान्य विशेषताएँ
(General characteristics of social groups)

सामाजिक समूह की सामान्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

1. समूह व्यक्तियों का संग्रह है (Group is a collection of individuals) –समूह के लिए व्यक्तियों का होना आवश्यक है। यह आवश्यक नहीं है कि समूह के सदस्यों में शारीरिक निकटता ही हो, परंतु उनके मध्य अन्तर्क्रिया का होना आवश्यक है। इसी अन्तर्क्रिया से सामाजिक संबंधों का जन्म होता है।,

2. समूह की अपनी सामाजिक संरचना होती है (Group has its own social structure) –प्रत्येक समूह की एक सामाजिक संरचना होती है। फिचर के अनुसार प्रत्येक समूह की अपनी सामाजिक संरचना होती है उस संरचना में व्यक्तियों की प्रस्थिति निर्धारित होती है। प्रत्येक समूह में आयु, लिंग, जाति, व्यवसाय आदि के आधार पर सामाजिक स्तरीकरण पाया जाता है। प्रत्येक सदस्य को समूह में अपनी प्रस्थिति से संबंधित भूमिका निभानी पड़ती है।

3. समूह में कार्यात्मक विभाजन होता है (Group has functional division of work) –समूह में संगठन बनाए रखने के लिए प्रत्येक सदस्य विविध कार्य करता है। उदाहरण के लिए–शिक्षण संस्था में प्रत्येक शिक्षक अलग–अलग विषय को पढ़ाते हैं तथा ज्ञान देने के लक्ष्य को पूरा करते हैं। प्रधानाचार्य की अपनी अलग भूमिका होती है और लिपिक वर्ग के सदस्य उनके लिए निर्धारित कार्यों को निष्पादित करते हैं।

4. समूह में सामान्य स्वार्थों की भावना होती है (Group has its general interests) –मनुष्य समूह का सदस्य इसलिए बनता है, क्योंकि उसके माध्यम से उसके स्वार्थों की पूर्ति होती है। सभी सदस्यों के स्वार्थ समान होते हैं। अतएव

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

उनकी भावनाएँ भी एक सी होती हैं। यदि सदस्यों के स्वार्थ या हित असमान होंगे तो ऐसी दशा में न संबंधों में दृढ़ता रहेगी और न समूह में संगठन ही होगा।

5. समूह विशेष की सदस्यता ऐच्छिक होती है (Membership of a particular group is voluntary)– परिवार जैसे समूह को छोड़कर अन्य सभी समूहों की सदस्यता ऐच्छिक होती है। यह व्यक्ति की व्यक्तिगत रुचि तथा लक्ष्यों की प्रकृति पर निर्भर करता है कि वह किस समूह का सदस्य बनेगा। अतः मनुष्य अपने जीवन काल में अनेक समूहों के संपर्क में आता है।

6. समूह की अपनी सत्ता होती है (Group has its entity) –समूह का आधार सामूहिक व्यवहार है। सामूहिक व्यवहार के अभाव में समूह का अस्तित्व संभव नहीं है। व्यक्ति समूह के समक्ष अपने अस्तित्व को बहुत गौण मानता है। समूह पर उसे पूरा विश्वास तथा श्रद्धा होती है। अतः वह समूह के नियम तोड़ने से डरता है। यह भावना समूह के अस्तित्व की रक्षा करती है। इसके साथ ही साथ, इससे समूह को स्थायित्व तथा संगठन प्राप्त होता है।

7. सामाजिक मानदंड समूह में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं (Social norms play an important role in group)– समूह अपने अस्तित्व के लिए कुछ मानदंडों या आदर्श–नियमों की स्थापना करता है। इनके द्वारा वह अपने सदस्यों के व्यवहार को नियंत्रित करता है। इन्हीं मानदंडों के कारण सदस्यों के व्यवहार में एकरूपता रहती है। यह आवश्यक नहीं है कि सभी समूहों के सामान्य मानदंड हों तथा वे सभी सदस्यों पर समान रूप से लागू हो।

8. समूह एक मूर्त संगठन है (Group is a concrete organization)–सामाजिक समूह समान उद्देश्यों व लक्ष्यों वाले व्यक्तियों का संकलन है। क्योंकि यह व्यक्तियों का संकलन है अतएव यह मूर्त होता है।

सामाजिक समूहों का वर्गीकरण (Classification of Social Groups)

समाजशास्त्रियों ने सामाजिक समूहों का वर्गीकरण भिन्न आधारों को सामने रखकर किया है। प्रमुख समाजशास्त्रियों ने समूहों का वर्गीकरण निम्नवर्णित प्रकार से किया है–

मैकाइवर एवं पेज का वर्गीकरण (Classification of MacIver and Page)

मैकाइवर एवं पेज ने समस्त सामाजिक समूहों को तीन वर्गों में विभाजित किया है। ये तीन वर्ग निम्नांकित हैं–

1. क्षेत्रीय समूह (Territorial group)–ये समूह वे हैं जो एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करते हैं। उदाहरणार्थ– राष्ट्र, पड़ोस, गाँव, नगर, देश, जनजाति आदि क्षेत्रीय समूह है।

2. हितों के प्रति चेतन समूह जिसका निश्चित संगठन नहीं होता है (Interest conscious group without definite organization)–ये समूह अपने हितों के बारे में सचेत तो अवश्य है, लेकिन इनमें निश्चित संगठन की कमी होती है। इस प्रकार के समूह के सदस्यों में समान प्रवृत्ति पाई जाती है। एक समूह से दूसरे समूह में जाने की इच्छा व पद प्रतिष्ठा की प्रवृत्ति भी इनमें पाई जाती है। इसका उदाहरण वर्ग, शरणार्थी समूह, समान तथा असमान रुचि वाली भीड़ है।

3. हितों के प्रति चेतन समूह जिसका निश्चित संगठन होता है (Interest conscious group with definite organization)–ये समूह अपने हितों के संबंध में सचेत होते हैं तथा संगठित भी होते हैं। इन समूहों की सदस्य संख्या सीमित होती है पर इनके उत्तरदायित्व असीमित होते हैं, उदाहरणार्थ– परिवार,पड़ोस, क्लब आदि। इस श्रेणी में कुछ समूह इस प्रकार के भी आते हैं जिनकी सदस्य संख्या तो अत्यधिक होती है परंतु संगठन में औपचारिकता होती है : उदाहरणार्थ– राज्य, चर्च, श्रमिक संघ आदि।

समनर का वर्गीकरण (Classification of Sumner)

समनर ने समूह के सदस्यों में घनिष्ठता व सामाजिक दूरी के आधार पर समस्त समूहों को निम्नलिखित दो प्रकारों में वर्गीकृत किया है–

1. अन्तः समूह (In-group)–जिन समूहों के साथ कोई व्यक्ति पूर्ण एकात्मकता या तादात्म्य स्थापित करता है उन्हें उसका अन्तः समूह कहा जाता है। अन्तःसमूह के सदस्यों के मध्य अपनत्व की भावना पाई जाती है। वे अन्तःसमूह के सुख को अपना सुख तथा दुख को अपना दुख मानते हैं। समूह का अस्तित्व सदस्य स्वयं का अस्तित्व मान लेते हैं। दूसरे शब्दों में इस प्रकार के समूह में 'हम की भावना' पाई जाती है। प्रत्येक सदस्य एक दूसरे से भावात्मक संबंधों द्वारा बँधा होता है। प्रेम, स्नेह, त्याग और सहानुभूति का भाव स्पष्ट रूप से सदस्यों के मध्य दृष्टिगोचर होता है। अधिकांश व्यक्तियों के लिए परिवार अन्तः समूह का एक चिरपरिचित उदाहरण है। अपना गाँव, जाति, धार्मिक सम्प्रदाय, राष्ट्र आदि अन्तः समूह के अन्य उदाहरण हैं। प्रत्येक व्यक्ति का राष्ट्र उसका अन्तः समूह है। वह अपने देश की प्रशंसा उसकी प्रगति से प्रारंभ करता है। इसके विपरीत देश की अवनति या बुराई से उसे दुःख होता है। ठीक इसी प्रकार पड़ोस या जिस शिक्षण संस्था का वह सदस्य है, वह व्यक्ति का अन्तः समूह होता है । वह उस समूह (अन्तःसमूह) से विशेष लगाव व स्नेह रखता है। वह ठीक वैसे ही कार्य करता है, जैसे कि समूह को इच्छा होती है। अतः अन्तःसमूह, सदस्यों की दृष्टि में उनका अपना समूह होता है। उसके साथ सदस्य अपना तादात्म्य स्थापित करते हैं। एक समूह के सदस्यों के लिए जो अन्तःसमूह होता है, दूसरे समूह के सदस्यों के लिए वही बाह्यसमूह होता है। अन्तःसमूह प्राथमिक भी हो सकते हैं, द्वितीयक भी, वे स्थायी भी हो सकते हैं तथा अस्थायी थी।

2. बाह्य समूह (Out group)–कोई व्यक्ति बाह्य समूह का उल्लेख अपने अन्तःसमूह के संदर्भ में करता है। बाह्यसमूहों

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

के लिए वे या अन्य जैसे शब्दों का प्रयोग करता है। बाह्यसमूह में जो गुण पाए जाते हैं वे अन्तः समूह से विपरीत होते हैं। इसमें इस तरह की भावना होती है व्यक्ति इसे दूसरों का समूह समझता है। इसी कारण बाह्यसमूह के प्रति सहयोग, सहानुभूति, स्नेह आदि का सर्वथा अभाव होता है। उसके स्थान पर बाह्यसमूह के प्रति दूरी या अलगाव, खिन्नता, घृणा, प्रतिस्पर्द्धा, पक्षपातपूर्ण भावना रहती है। यह भावना यदा–कदा शत्रुता या वैर के रूप में भी हो सकती है। उदाहरण के लिए– हम इस पड़ोस के सदस्य हैं लेकिन 'वो' पड़ोस बहुत भ्रष्ट और गंदा है। वहाँ के रहने वाले जानवर से भी गए गुजरे हैं। इसमें 'वो' समूह एक बाह्यसमूह है। शत्रु सेना, विदेशी समूह, प्रतिस्पर्द्धा करने वाले समूह आदि बाह्यसमूह के ही प्रमुख उदाहरण हैं।

कूले का वर्गीकरण (Classification of Coole)

चार्ल्स कूले ने प्राथमिक एवं द्वितीयक समूह में भेद किया है। इनके अनुसार, ''प्राथमिक समूहों से मेरा तात्पर्य उन समूहों से है जिनकी विशेषता आमने–सामने का घनिष्ठ संबंध और सहयोग है। इस प्रकार के समूह अनेक अर्थों में प्राथमिक होते हैं और वह भी मुख्यतः इस अर्थ में कि वे व्यक्ति के सामाजिक स्वभाव तथा आदर्शों के निर्माण में मूलभूत होते हैं।''

चार्ल्स कूले ने प्राथमिक समूहों के तीन प्रमुख उदाहरण दिए हैं– 1. परिवार, 2. क्रीड़ा समूह तथा 3– पड़ोस। उन्होंने समूह का जो दूसरा विभाजन किया उसे द्वितीयक समूह कहते हैं। कूले के अनुसार द्वितीयक समूह ऐसे समूह है जिनमें घनिष्ठता का पूर्णतः अभाव पाया जाता है। इनमें सामान्यतः उन विशेषताओं का अभाव होता है जो कि अधिकांशतः प्राथमिक समूह में पाई जाती है। उदाहरण के लिए– कॉरपोरेशन, श्रोतागण, क्लब, राष्ट्र, चर्च, व्यावसायिक संघ आदि द्वितीयक समूह ही है।

गिलिन एवं गिलिन का वर्गीकरण (Classification of Gillin and Gillin) –

गिलिन एवं गिलिन ने समूहों के सभी संबंधित आधारों को सामने रखकर समूहों का निम्न प्रकार से वर्गीकरण प्रस्तुत किया है–

1. रक्त संबंधी समूह (जैसे–परिवार, जाति आदि)
2. शारीरिक विशेषताओं पर आधारित समूह (जैसे– समान लिंग, आयु अथवा प्रजाति पर आधारित समूह)
3. क्षेत्रीय समूह–(जैसे–जनजाति, राज्य, राष्ट्र इत्यादि)
4. अस्थिर समूह–(जैसे–भीड़, श्रोता समूह इत्यादि)
5. स्थायी समूह–(जैसे–खानाबदोशी जत्थे, ग्रामीण पड़ोस, कस्बे, शहर तथा विशाल नगर इत्यादि), तथा
6. सांस्कृतिक समूह (जैसे–आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, मनोरंजनात्मक तथा शैक्षिक समूह)

सामाजिक समूहों के अन्य वर्गीकरण (Other classifications of Social groups)

सामाजिक समूहों के अनेक अन्य वर्गीकरण भी किए गए हैं। उदाहरणार्थ, **एलवुड** ने समूहों को ऐच्छिक व अनैच्छिक समूह, संस्थागत व असंस्थागत समूह तथा स्थायी व अस्थायी समूहों में विभाजित किया है। **गिडिंग्स** ने समूहों को जननिक समूह एवं इकट्ठे समूह का उल्लेख किया है। जननिक समूह परिवार है जिसमें मनुष्य का जन्म होता है। इकट्ठा समूह ऐसा ऐच्छिक समूह है जिसमें मनुष्य स्वेच्छा से सम्मिलित होता है। **वार्ड** ने दो प्रकार के समूह बताए हैं– ऐच्छिक समूह तथा अनिवार्य समूह। **सोरोकिन** ने एकल–प्रबंधन समूह/एकल–कार्यात्मक समूह तथा बहु–बंधन समूह/बहु कार्यात्मक समूह का उल्लेख किया है। **नूनेज** ने चार प्रकार के समूह बताए हैं– संरचित समूह, संरचित अर्द्ध–समूह, आकस्मिक अर्द्ध समूह तथा कृत्रिम समूह। **मर्टन** ने समूहों को सदस्यता समूह तथा गैर सदस्यता समूह में विभाजित किया है। **लियोपोल्ड** ने समूहों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है– भीड़, समूह तथा अमूर्त संग्रह। **पार्क एवं बर्गेस** ने समूहों को प्रादेशिक एवं गैर–प्रादेशिक समूहों में विभाजित किया है। **जॉर्ज हासन** ने समूहों को असामाजिक, आभासी सामाजिक, समाज–विरोधी तथा समाज पक्षी समूहों में विभाजित किया है। **बीरस्टीड** ने समूहों को चार श्रेणियों में विभाजित किया है– सांख्यिकीय समूह, समजातीय समूह, सामाजिक समूह तथा सहचारी समूह। इन्होंने अनेक अन्य समूहों का भी उल्लेख किया है जिनमें वृहत् समूह एवं लघु समूह, बहुसंख्यक समूह एवं अल्पसंख्यक समूह, दीर्घकालीन समूह एवं अल्पकालीन समूह, खुला समूह एवं बंद समूह, स्वतंत्रसमूह एवं आश्रित समूह, संगठित समूह एवं असंगठित समूह इत्यादि प्रमुख हैं।

सामाजिक समूहों के वर्गीकरण में सर्वाधिक महत्वपूर्ण वर्गीकरण कूले का माना गया है। अतः कूले द्वारा प्रतिपादित प्राथमिक एवं द्वितीयक समूह की अवधारणाओं को समझ लेना आवश्यक है।

प्राथमिक समूह का अर्थ (Meaning of Primary Group)

चार्ल्स कूले ने 1909 ई. में अपनी कृति 'सामाजिक संगठन' में प्राथमिक समूह की अवधारणा का प्रयोग किया। इन्होंने अपनी दूसरी कृति 'प्रारंभिक समाजशास्त्र' में द्वितीयक समूह का उल्लेख किया है। कूले की प्राथमिक समूह की अवधारणा, टॉनीज द्वारा प्रतिपादित **गेमाइनशाफट** तथा **गेसेलशाफट** की अवधारणा के बहुत निकट है।

मानव के जीवन में स्नेह, प्रेम, सहानुभूति आदि भाव महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इन भावों के विकास में प्राथमिक समूह की मुख्य भूमिका है। ऐसे गुणों के कारण समाज के संगठन को स्थायित्व प्राप्त होता है। मानव जब जन्म लेता है तो उसका रूप पूर्णतः जैविक होता है। सर्वप्रथम यह परिवार के संपर्क में आता है तथा परिवार उसे सामाजिक प्राणी बनाता है। चूंकि परिवार मनुष्य के जीवन में प्रथम या प्राथमिक है, इसलिए इसे प्राथमिक समूह कहा जाता है। प्राथमिक समूह

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

से अभिप्राय उन समूहों से है जिनमें प्रत्यक्ष, अनौपचारिक, घनिष्ठ एवं प्राथमिक संबंध पाए जाते हैं।

प्राथमिक समूह की परिभाषा (Definition of Primary Group)

चार्ल्स कूले के शब्दों में, ''प्राथमिक समूहों से मेरा तात्पर्य उन समूहों से है जिनकी विशेषता आमने–सामने का घनिष्ठ संबंध और सहयोग है। इस प्रकार के समूह अनेक अर्थों में 'प्राथमिक' होते हैं और वह भी मुख्यतः इस अर्थ में कि व्यक्ति के सामाजिक स्वभाव व आदर्शों के निर्माण में वे मूलभूत होते हैं। मनोवैज्ञानिक रूप से इन घनिष्ठ संबंधों का परिणाम सभी व्यक्तियों का एक सामान्य संपूर्णतया में इस प्रकार मिल जाना है कि अनेक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक ही व्यक्ति के विचार और उद्देश्य संपूर्ण समूह का सामान्य जीवन और उद्देश्य बन जाते हैं। इस संपूर्णता की अभिव्यक्ति करने के लिए संभवतः सबसे सरल ढंग यह है कि इसे 'हम' शब्द द्वारा संबोधित किया जाए। इस संपूर्णता में इस प्रकार की सहानुभूति व पारस्परिक एकरूपता की भावना पाई जाती है, जिनके लिए 'हम' एक स्वाभाविक अभिव्यक्ति है।''

कूले की परिभाषा प्राथमिक समूह की मुख्य विशेषताओं का बोध कराती है। उन्होंने प्राथमिक समूह को एक ऐसा समूह माना है जिसके सदस्यों के मध्य आमने–सामने का संबंध होता है। आमने–सामने के संबंधों के कारण सदस्य परस्पर घनिष्ठ संबंधों से बँधे होते हैं। ये समूह मनुष्य के सामाजिक स्वभाव बनाने में तथा उसके जीवन में आदर्शों का निर्माण करने में भी प्राथमिक होते हैं। उदाहरण के लिए– परिवार को ही लिया जाए, जिसे कूले ने प्रथम प्राथमिक समूह माना है। परिवार के सदस्यों के आमने सामने के संबंध पाए जाते हैं। इसके कारण सभी सदस्य एक दूसरे से घनिष्ठ संबंधों में बंधे रहते हैं। वे एक दूसरे की सहायता या सहयोग भी करते हैं। परिवार समाजीकरण करने वाला सर्वप्रथम समूह होता है। इसी से व्यक्ति भाषा, खाने पीने के ढंग, व्यवहार के ढंग, आचार–विचार सीखता है। अन्य शब्दों में, मनुष्य के सामाजिक स्वभाव का निर्माण प्राथमिक समूह ही करते हैं।

प्राथमिक संबंधों में घनिष्ठता होने के कारण सदस्यों का व्यक्तित्व समूह के व्यक्तित्व में मिल जाता है। इससे संपूर्ण रूप से 'हम' की भावना का जन्म होता है। 'हम' की भावना एक ऐसी अभिव्यक्ति है जो यह दर्शाती है कि समूह के प्रति सदस्यों में कितनी निष्ठा, लगाव और सहानुभूति है। इसलिए इस समूह का सुख–दुख उनका अपना सुख–दुख बन जाता है।

कूले ने तीन महत्वपूर्ण प्राथमिक समूहों का उल्लेख किया है–परिवार, खेल–साथियों का समूह या क्रीड़ा समूह तथा पड़ोस। इन्हें प्राथमिक मानने का कारण इनका सभी युगों में तथा सभी समाजों में पाया जाना है। ये समूह मनुष्य के व्यक्तित्व के निर्माण में आधारभूत तथा प्राथमिक योगदान प्रदान करते हैं। ये समूह व्यक्ति (जो जैविक प्राणी होता है) में सामाजिक गुणों को भरने (सामाजिक बनाने) में भी प्राथमिक होते हैं।

किंग्स्ले डेविस ने कूले की प्राथमिक समूह की परिभाषा की समीक्षा करते हुए हमारा ध्यान दो बातों की ओर दिलाया है– प्रथम, कूले ने वास्तविक समूहों (जैसे परिवार, क्रीड़ा, समूह, पड़ोस आदि) को प्राथमिक समूह कहा है तथा द्वितीय, कूले ने एक ओर तो ''आमने–सामने की समिति'' वाक्यांश का प्रयोग किया है और दूसरी ओर संबंधों के कुछ विशिष्ट गुणों, जैसे सहानूभूति तथा पारस्परिक तादात्म्य पर बल दिया है। डेविस के अनुसार इन दोनों से प्राथमिक समूह के बारे में कुछ भ्रांति उत्पन्न होती है। ये दोनों बातें कुछ अंशों में प्रत्येक समूह में पाई जाती है। इतना ही नहीं, अप्रत्यक्ष संबंध (जैसे पत्र व्यवहार द्वारा दो व्यक्तियों में मित्रता) तथा मित्रतापूर्वक एवं घनिष्ठ प्रत्यक्ष संबंध (जैसे सैनिकों का अभिवादन) भी औपचारिक एवं अवैयक्तिक प्रकृति के हो सकते हैं।

प्राथमिक समूहों की विशेषताएँ (Charactersitics of Primary groups)

डेविस के अनुसार प्राथमिक समूहों की प्रकृति को तीन पहलुओं के संदर्भ में स्पष्ट किया जा सकता है। ये पहलू निम्नलिखित हैं–

अ– प्राथमिक समूहों की बाह्य विशेषताएँ या भौतिक दशाएँ (External or Physical Characteristics of Primary groups)

किंग्स्ले डेविस ने अग्रांकित तीन प्रमुख भौतिक दशाओं को प्राथमिक समूह के लिए अनिवार्य माना है–

1. शारीरिक समीपता (Physical proximity)– प्राथमिक समूहों के लिए शारीरिक समीपता का होना आवश्यक है। जिसे कूले ने आमने–सामने का संबंध कहा है उसी के लिए किंग्स्ले डेविस ''शारीरिक समीपता'' शब्द का प्रयोग करते हैं। पारस्परिक घनिष्ठता के लिए यह आवश्यक है कि सदस्य एक दूसरे को प्रत्यक्ष रूप से जानें। परस्पर जानने से एक–दूसरे के विचारों से परिचित होने का अवसर मिलता है। इससे एक–दूसरे की भावनाओं को समझा जा सकता है तथा 'हम की भावना' का विकास होता है।

2. सीमित आकार (Limited size)–प्राथमिक समूह आकार में लघु होते हैं। सदस्यों की कम संख्या के कारण ही सदस्यों में घनिष्ठता होती है। किंग्स्ले डेविस का कथन है कि प्राथमिक समूह को आकार में छोटा होना ही चाहिए, क्योंकि यह असंभव है कि एक ही समय में बहुत से व्यक्तियों से बुद्धिमतापूर्ण संबंध स्थापित किया जा सके। फेयरचाइल्ड का विचार है कि प्राथमिक समूह में तीन–चार से लेकर पचास–साठ व्यक्ति तक पाये जा सकते हैं।

3. संबंधों की लंबी अवधि (Longer duration of relations) – संबंधों की घनिष्ठता पर्याप्त रूप से उनकी

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

अवधि पर निर्भर करती है। संबंधों की अवधि जितनी लंबी होती है, संबंध उतने ही घनिष्ठ होते हैं। प्राथमिक समूह में स्थिरता पायी जाती है। इसके दो मुख्य कारण हैं– प्रथम, यह कि सभी सदस्य एक दूसरे को भली भांति जानते हैं, जिससे संबंध घनिष्ठ बने रहते हैं। घनिष्ठ संबंधों के कारण समूह में स्थिरता रहती है तथा द्वितीय, यह कि प्राथमिक समूह के लक्ष्य सामान्य होते हैं। इसके अतिरिक्त संबंधों में निरंतरता (लंबी अवधि), सदस्यों की एकता तथा आत्मीयता के कारण अन्य समूहों से प्राथमिक समूह अधिक स्थिर होता है।

ब– प्राथमिक समूहों की आंतरिक विशेषताएँ : संबंधों की प्रकृति (Internal characteristics of primary groups: Nature of relationship)

प्राथमिक समूहों के लिए बाह्यविशेषताओं के साथ–साथ आंतरिक या मानसिक विशेषताएँ भी महत्व रखती हैं। आंतरिक विशेषताओं के अंतर्गत सदस्यों में पाए जाने वाले संबंध आते हैं। डेविस ने प्राथमिक संबंधों की पाँच प्रमुख विशेषताएँ बताई हैं। ये निम्नलिखित हैं–

1. **लक्ष्यों में सादृश्यता** (Identity of ends)– प्राथमिक समूह के सदस्यों में घनिष्ठ संबंध पाया जाता है। इस घनिष्ठता का मुख्य आधार है सदस्यों के लक्ष्यों या उद्देश्यों में समानता। प्रत्येक सदस्य यह प्रयत्न करता है कि वह अपने लक्ष्यों या हितों को पूरा करने हेतु किसी दूसरे के हितों का हनन या अवहेलना न करे।

2. **संबंध स्वयं साध्य होता है** (Relationship is an end in itself)– प्राथमिक समूह में जो संबंध स्थापित किए जाते हैं, उनमें किसी विशेष उद्देश्य को प्राप्त करने की भावना निहित नहीं होती। किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्राथमिक समूह में संबंध स्थापित नहीं किए जाते हैं, अपितु संबंध ही अंतिम लक्ष्य होता है।

3. **संबंध व्यक्तिगत होता है** (Relationship is personal)– प्राथमिक समूहों में सदस्य एक दूसरे को प्रत्यक्ष रूप से जानते हैं। इसी कारण, संबंधों में आडंबर या दिखावा नहीं होता और न ही इनका हस्तांतरण किया जा सकता है। संबंध अवैयक्तिक तथा औपचारिक नहीं होते वरन् वैयक्तिक एवं घनिष्ठ होते हैं।

4. **संबंध सर्वांगीण होते हैं** (Relationship is inclusive) – प्राथमिक समूह के कार्य में हर एक सदस्य संपूर्ण हृदय तथा इच्छा से भाग लेता है। प्रत्येक सदस्य एक दूसरे को प्रत्यक्ष रूप से जानते तथा पहचानते हैं। अतएव एक सदस्य दूसरे सदस्य के प्रति जागरूक होता है। सभी सदस्य आपस में मिलकर लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। इसीलिए प्राथमिक समूहों में पाए जाने वाले संबंध सर्वांगीण होते हैं। अन्य शब्दों में, प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के जीवन की संपूर्ण दशाओं को जानता है।

5. **संबंध स्वतः होते हैं** (Relationship is spontaneous) –प्राथमिक समूहों में संबंधों का विकास स्वतः होता है। प्रत्येक सदस्य के साथ दूसरे सदस्य का जो संबंध होता है उसका आधार है स्वयं की इच्छा। यह संबंध किसी प्रकार के दबाव, प्रलोभन या शर्त द्वारा स्थापित नहीं होता है। व्यक्ति अपनी प्रसन्नता व इच्छा से समूह के लिए या सदस्यों के लिए अपना सब–कुछ त्याग करने के लिए तैयार रहता है।

प्राथमिक समूहों को प्राथमिक क्यों कहा जाता है? (Why primary grooups are regarded as Primary?)

चार्ल्स कूले ने प्राथमिक समूहों के तीन प्रमुख उदाहरण दिए हैं– 1. परिवार, 2. पड़ोस तथा 3. क्रीड़ा समूह। कूले ने इन प्राथमिक समूहों को प्राथमिक क्यों कहा है? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर हम अनेक दृष्टिकोणों को सामने रखकर दे सकते हैं। प्राथमिक समूहों को निम्नलिखित कारणों से प्राथमिक कहा जाता है–

1. **प्राथमिक समूह समय की दृष्टि से प्राथमिक है–** प्राथमिक समूहों को समय की दृष्टि से प्राथमिक कहा गया है। सर्वप्रथम बच्चा इन्हीं समूहों के संपर्क में आता है। उदाहरण के लिए– सर्वप्रथम बच्चा परिवार, क्रीड़ा समूह या मित्र–मंडली तथा पड़ोस के संपर्क में ही आता है।अन्य समूहों से इसका संपर्क बाद में होता है।

2. **प्राथमिक समूह महत्व की दृष्टि से प्राथमिक है–** प्राथमिक समूहों का व्यक्तियों के व्यक्तित्व निर्माण में विशेष महत्व होने के कारण भी इन्हें प्राथमिक कहा गया है। ये संपूर्ण सामाजिक जीवन के लिए आदर्श स्वरूप होते हैं।

3. **प्राथमिक समूह मौलिक मानव संघों का प्रतिधिनित्व करने की दृष्टि से प्राथमिक है–** मौलिक मानव संघों का प्रतिनिधि होने के कारण ही प्राथमिक समूहों को प्राथमिक माना गया है। **किम्बल यंग** के अनुसार प्राथमिक समूह संभवतः उतने ही प्राचीन हैं जितना कि मानव जीवन। ये सरलतम रूप से ऐसे प्राथमिक समुदाय का निर्माण करते हैं जो ऐतिहासिक रूप से व्यक्ति की मुख्य आवश्यकताओं को पूर्ण करने में महत्वपूर्ण इकाई है।

4. **प्राथमिक समूह समाजीकरण की दृष्टि से प्राथमिक है–** प्राथमिक समूह व्यक्ति का समाजीकरण करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। परिवार, पड़ोस तथा क्रीड़ा समूह बच्चों को सामाजिक प्राणी बनाने में विशेष महत्व रखते हैं। इन्हीं से व्यक्ति अपने समूह की परंपराओं, मान्यताओं एवं संस्कृति के बारे में ज्ञान प्राप्त करता है। वास्तव में, हमारी रूढ़ियों और परंपराओं का जन्म भी इसी समूह में होता है।

5. **प्राथमिक समूह संबंधों की प्रकृति के आधार पर प्राथमिक है–** प्राथमिक समूह में प्राथमिक संबंध पाए जाते हैं। लक्ष्यों में सादृश्यता, स्वयं साध्य होना तथा संबंधों का स्वजात, व्यक्तिगत एवं सर्वांगीण होना प्राथमिक संबंधों की प्रमुख विशेषताएँ हैं। परिवार, क्रीड़ा, समूह तथा पड़ोस जैसे प्राथमिक समूहों में ये विशेषताएँ स्पष्ट देखी जा सकती है।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

साथ ही प्राथमिक समूहों को इसलिए भी प्राथमिक कहा गया है क्योंकि इन्हीं से व्यक्ति में सहिष्णुता दया, प्रेम और उदारता की मनोवृति जन्म लेती है।

6. प्राथमिक समूह आत्म–नियंत्रण की दृष्टि से भी प्राथमिक है– प्राथमिक समूह व्यक्ति में आत्म–नियंत्रण की भावना उत्पन्न करते हैं। वास्तव में, ये सामाजिक नियंत्रण के अनौपचारिक साधन है। व्यक्ति सहानुभूति व त्याग की भावना के कारण ही, प्राथमिक समूह के नियमों को नहीं तोड़ता है। **कूले** का कहना है कि प्राथमिक समूहों द्वारा पाशविक प्रेरणाओं का मानवीकरण किया जाना ही, इनके द्वारा की जाने वाली प्रमुख सेवा है।

द्वितीयक समूह का अर्थ (Meaning of Secondary Group)

आज सभ्यता की उन्नति के साथ–साथ द्वितीयक समूहों की संख्या में वृद्धि होती जा रही है। द्वितीयक समूह की प्रकृति प्राथमिक समूह की प्रकृति के विपरीत होती है। **किंग्स्ले डेविस** का कथन है कि, 'स्थूल रूप से द्वितीयक समूहों को, जो चीजें प्राथमिक समूह के बारे में कही गई है उनके विपरीत कहकर परिभाषित किया जा सकता है।'' द्वितीयक समूह इतने विस्तृत क्षेत्र में फैले होते हैं कि इनके सदस्यों को निकटता में रहने की आवश्यकता नहीं होती। न ही सभी सदस्य एक दूसरे को वैयक्तिक रूप में जानते हैं। इनमें ऐसे संबंध होते हैं जो स्वयं में लक्ष्य नहीं होते, न वैयक्तिक और न ही संयुक्त होते हैं।

अतः प्राथमिक समूह के विपरीत विशेषताओं वाले समूह को द्वितीयक समूह की संज्ञा दी जाती है। यह समूह का वह रूप है जो अपने सामाजिक संपर्क और औपचारिक संगठन की मात्रा में प्राथमिक समूहों की घनिष्ठता से भिन्न है।

द्वितीयक समूह की परिभाषाएँ (Definitions of Secondary Group)

प्रमुख विद्वानों ने द्वितीयक समूह की परिभाषाएँ निम्न प्रकार से दी है–

1. आगबर्न एवं निमकॉफ के अनुसार–जो समूह घनिष्ठता के अभाव वाले अनुभवों को प्रदान करते हैं, उन्हें द्वितीयक समूह कहा जाता है।

2. फेयरचाइल्ड के अनुसार–समूह का वह रूप, जो अपने सामाजिक संपर्क और औपचारिक संगठन की मात्रा में प्राथमिक या आमने सामने के समूह की तरह घनिष्ठता से भिन्न हो, द्वितीयक समूह कहलाता है।

3. लुंडबर्ग के अनुसार–द्वितीयक समूह वे हैं जिनमें दो या अधिक व्यक्तियों के संबंध अवैयक्तिक, हित–प्रधान तथा व्यक्तिगत योग्यता पर आधारित होते हैं।

4. कूले के अनुसार–''द्वितीयक समूह ऐसे समूह हैं जिनमें घनिष्ठता का पूर्णतः अभाव होता है और सामान्यतः उन विशेषताओं का भी अभाव होता है जो कि अधिकतर प्राथमिक तथा अर्द्ध–प्राथमिक समूहों में पाई जाती है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि द्वितीयक समूहों में प्राथमिक समूहों के विपरीत विशेषताएँ पाई जाती है। वे आकार में बड़े होते हैं तथा इनमें घनिष्ठता का अभाव पाया जाता है।

द्वितीयक समूहों की विशेषताएं (Characteristics of Secondary Groups)

द्वितीयक समूहों की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

1. बड़ा आकार (Large size)–द्वितीयक समूह में सदस्यों की संख्या अधिक होती है, अतएव द्वितीयक समूह का आकार बड़ा होता है। द्वितीयक समूहों की सदस्यता की कोई सीमा नहीं होती है।

2. उद्देश्यों का विशेषीकरण (Specialization of interests)–द्वितीयक समूह किसी उद्देश्य विशेष की पूर्ति के लिए बनाए जाते हैं। कोई भी द्वितीयक समूह उद्देश्यविहीन नहीं होता और न ही किसी स्वार्थरहित द्वितीयक समूह की कल्पना ही की जा सकती है। इसी कारण किंबल यंग ने इन्हें 'विशेष स्वार्थ समूह' कहा है।

3. अप्रत्यक्ष संपर्क (Indirect contact)–द्वितीयक समूह में प्रत्यक्ष संपर्क भी हो सकते हैं, तथापि प्रायः अप्रत्यक्ष संपर्क ही अधिक पाया जाता है। इसका मुख्य कारण समूह के आकार का बड़ा होना है। अप्रत्यक्ष संपर्क के कारण घनिष्ठता का जन्म उस सीमा तक नहीं होता है जितना कि प्राथमिक समूह में होता है।

4. व्यक्तिगत तथा घनिष्ठ संबंधों का अभाव (Lack of personal and intimate relations)–द्वितीय समूहों में घनिष्ठता का अभाव पाया जाता है। द्वितीयक समूह का आकार बड़ा होने के कारण प्रत्येक सदस्य परस्पर वैयक्तिक रूप से संबंध स्थापित नहीं कर पाते, अतः उनमें घनिष्ठता नहीं आ पाती है।

5. उद्देश्यों की भिन्नता (Different objectives)–द्वितीयक समूह में प्रत्येक व्यक्ति अपने हित या लक्ष्य को पूरा करने की सोचता है। जब सभी सदस्य अपने ही हित को पाने के लिए प्रयत्नशील रहेंगे तब उस स्थिति में उद्देश्यों की भिन्नता पाई जाएगी। उद्देश्यों की भिन्नता के कारण ही द्वितीयक समूहों में स्वार्थ–सिद्धि तथा प्रतिस्पर्द्धा को प्रोत्साहन मिलता है।

6. औपचारिक संबंध (Formal relations)–द्वितीयक समूहों के सदस्यों का पारस्परिक संबंध कुछ निश्चित नियमों व उपनियमों के अनुसार नियंत्रित होता है। यदि ये नियम नहीं हो तो इन समूहों में अव्यवस्था फैल जाएगी। इन नियमों के कारण सदस्यों का संबंध औपचारिक होता है।

7. इच्छा से स्थापित (Deliberately established)–चूँकि ये विशेष स्वार्थ समूह होते हैं इस कारण इनकी स्थापना जान–बूझकर की जाती है। जब सदस्यों को कोई विशेष लक्ष्य

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

या उद्‌देश्य प्राप्त करना होता है तो उस दशा में लोग द्वितीयक समूह की स्थापना करते हैं ताकि उनके लक्ष्यों की पूर्ति हो सके।

प्राथमिक एवं द्वितीयक समूहों में अंतर (Difference between Primary and Secondary groups)

प्राथमिक एवं द्वितीयक समूहों की विशेषताएँ पूर्णतः एक दूसरे के विपरीत होती है। दोनों में निम्नलिखित प्रमुख आधारों पर अंतर स्पष्ट किया जा सकता है–

1. **आकार**–प्राथमिक समूह का आकार छोटा होता है। उदाहरण के लिए परिवार, पड़ोस तथा मित्र–मंडली का आकार सीमित है। फेयरचाइल्ड के अनुसार इसमें तीन चार व्यक्तियों से लेकर पचास साठ व्यक्तियों तक तथा कूले के अनुसार इसमें दो से साठ व्यक्तियों तक की संख्या हो सकती है। द्वितीयक समूह का आकार बड़ा होता है। इसके सदस्यों की संख्या असीमित हो सकती है। संपूर्ण राष्ट्र भी एक द्वितीयक समूह है जिसकी संख्या असीमित होती है।

2. **संबंध**–प्राथमिक समूह के सदस्यों में आमने सामने के वैयक्तिक व घनिष्ठ संबंध पाए जाते हैं। वैयक्तिक संबंधों के कारण इनमें औपचारिकता नहीं होती है। इसके विपरीत प्रेम, सहयोग, सद्‌भावना आदि आंतरिक गुणों का समवेश होता है। इनमें हम की भावना की प्रधानता रहती है। द्वितीयक समूह में अप्रत्यक्ष एवं अवैयक्तिक संबंध पाए जाते हैं। इनमें सहयोग, स्नेह, घनिष्ठता की कमी होती है और 'हम' के स्थान पर 'मैं' की प्रधानता रहती है।

3. **हित**–प्राथमिक समूह में कोई विशेष हित नहीं होता है। सभी कार्यों में प्रत्येक सदस्य पूर्ण हृदय से हिस्सा लेते हैं। वे समूह के लिए बड़े से बड़ा त्याग करने को तैयार रहते हैं। द्वितीयक समूह में, जो कि विशेष स्वार्थ समूह के नाम से जाने जाते हैं, प्रत्येक सदस्य अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जी जान से कोशिश करता है। यदि उसे अपने हित के लिए दूसरे सदस्यों के हितों की अवहेलना भी करनी पड़ जाए तो भी वह इसके लिए तत्पर रहता है।

4. **संबंधों का जन्म**–प्राथमिक संबंधों का जन्म स्वतः होता है। इस प्रकार के संबंधों की स्थापना में किसी प्रकार की कोई शर्त या दबाव नहीं होता है। द्वितीयक समूह में संबंध स्थापित करने के लिए आडंबर या कृत्रिमता का आश्रय लिया जाता है। इनमें प्राथमिक संबंधों (जो कि आमने सामने के संबंध है) के विपरीत, संबंध अप्रत्यक्ष अथवा दूर संचार के माध्यम से होते हैं।

5. **दायित्व**–प्राथमिक समूहों में दायित्व की कोई सीमा नहीं होती है। यही नहीं बताया जा सकता कि माँ अपने पुत्र के प्रति कितने दायित्वों को निभाएगी। द्वितीयक समूहों में सदस्यों का दायित्व सीमित व शर्तों या नियमों के अनुसार होता है।

6. **नियम**–प्राथमिक समूह में किसी प्रकार का लिखित नियम नहीं होता है। ये समूह अनौपचारिक होते हैं। ये अपने सदस्यों पर कोई कानून या शर्त नहीं लगाते हैं। द्वितीयक समूह की प्रकृति औपचारिक है। इसमें अनेक प्रकार के नियम, कानून तथा कार्यविधियों को सदस्यों पर थोपा जाता है और नियम का उल्लंघन करने वालों को औपचारिक दंड मिलता है।

7. **नियंत्रण**–प्राथमिक समूहों में नियंत्रण की प्रकृति अनौपचारिक होती है। निंदा व तिरस्कार आदि के द्वारा सदस्यों का व्यवहार नियंत्रित होता है। द्वितीयक समूहों के नियंत्रण की प्रकृति औपचारिक होती है। द्वितीयक समूह अपने सदस्यों के व्यवहार पर नियंत्रण कानून, पुलिस आदि द्वितीयक साधनों की सहायता से करता है।

8. **क्षेत्र**–प्राथमिक समूह प्रत्येक काल व प्रत्येक समाज में पाए जाते हैं। अन्य शब्दों में, ये सार्वभौमिक होते हैं। ये समूह बहुत छोटे क्षेत्र में व्याप्त होते हैं। द्वितीयक समूह सार्वभौमिक नहीं होते हैं। इनका भौगोलिक क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत होता है। कोई–कोई द्वितीयक समूह संपूर्ण देश में भी फैला हो सकता है।

9. **प्रभाव**–प्राथमिक समूह व्यक्ति के विचारों व मनोवृत्तियों को बनाते हैं, अतः इनका प्रभाव सर्वव्यापी होता है। द्वितीयक समूह विशेषीकृत समूह होते हैं और इनका प्रभाव कुछ विशेष क्षेत्रों तक ही सीमित रहता है।

10. **व्यक्तित्व**–प्राथमिक समूह में व्यक्ति के व्यक्तित्व का संपूर्ण भाग समूह के संपर्क में आता है। इसीलिए प्राथमिक समूह के सदस्य एक दूसरे के बारे में पूर्णतया परिचित होते हैं। द्वितीयक समूह के सदस्यों में व्यक्तित्व का केवल कुछ भाग ही समूह के संपर्क में आता है।

11. **कार्य**–प्राथमिक समूह मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण करता है या समाजीकरण करता है। कूले के अनुसार, "यह मानव स्वभाव का निर्माण स्थल है।" इसके विपरीत द्वितीयक समूह व्यक्ति के व्यक्तित्व का विशेषीकरण करते हैं या विशेषीकरण करने वाले समूह हैं।

12. **सदस्यता**–प्राथमिक समूह की सदस्यता अनिवार्य होती है। इसके कारण मनुष्य को अपने परिवार, खेल–समूह तथा पड़ोस में रहना पड़ता है। द्वितीयक समूह की सदस्यता अनिवार्य नहीं है। जब व्यक्ति यह महसूस करता है कि उसे हित विशेष को प्राप्त करना है, तभी वह द्वितीयक समूह का सदस्य बनता है।

13. **कार्य–क्षेत्र**–प्राथमिक समूह का कार्य–क्षेत्र सीमित तथा कम होता है। द्वितीयक समूह का कार्य क्षेत्र अधिक विस्तृत होता है।

14. **'हम' की भावना**–प्राथमिक समूह में हम की भावना पाई जाती है तथा व्यक्तियों के संबंध प्राथमिक होते हैं। द्वितीय समूह में किसी प्रकार की हम की भावना नहीं पाई जाती है तथा संबंध गौण होते हैं।

15. **व्यक्तिगत हित व सामूहिक हित**–प्राथमिक

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

समूह समष्टिवादी होते हैं। इसी कारण सदस्यों के व्यक्तिगत हित, सामूहिक हित में विलीन हो जाते हैं। द्वितीयक समूह व्यक्तिवादी होते हैं। इनमें सामूहिक हितों की अपेक्षा व्यक्तिगत हितों को अधिक महत्व दिया जाता है।

16. **प्राचीनता**—प्राथमिक समूह अत्यधिक प्राचीन है, शायद उतने ही जितना कि स्वयं मानव समाज। द्वितीयक समूह तुलनात्मक रूप में नए समूह हैं, जनसंख्या में वृद्धि, औद्योगिक क्रांति, सामाजिक गतिशीलता इत्यादि कारणों से आधुनिक समाजों में द्वितीयक समूहों की संख्या में वृद्धि हुई है।

संदर्भ समूह की अवधारणा (Concept of Reference Group)

संदर्भ समूह की अवधारणा समाजशास्त्रीय साहित्य में एक प्रमुख एवं महत्वपूर्ण अवधारणा मानी जाती है। इस अवधारणा का सर्वप्रथम प्रयोग मनोविज्ञान में **हाइमन** द्वारा 1942 में किया गया। इनकी प्रसिद्ध पुस्तक प्रस्थिति का मनोविज्ञान एक ऐसी कृति है जिसके प्रकाशन के बाद संदर्भ समूह की अवधारणा समाजशास्त्र में अधिक प्रचिलत हुई। समाजशास्त्र में इस अवधारणा को व्यवस्थित रूप से विकसित करने का श्रेय प्रसिद्ध अमेरिकी समाजशास्त्री **रोबर्ट के मर्टन** को दिया जाता है जिसने 'दि अमेरिकल सोल्जर' नामक पुस्तक से सामग्री लेकर अपने सैद्धांनिक विचारों को व्यावहारिक रूप से समझाने का प्रयास किया है। मर्टन के अनुसार संदर्भ समूह की अवधारणा एक उपयोगी अवधारणा है क्योंकि यह केवल व्यवहार की ही व्याख्या करने में सहायक नहीं है अपितु 'स्व' के मूल्यांकन के अध्ययन में भी सहायक है। इन्होंने इस अवधारणा की व्याख्या 'सापेक्षिक वंचना' के आधार पर की है। **समनर** द्वारा प्रतिपादित अन्तः समूह तथा बाह्यसमूह की अवधारणा जेम्स, कूले तथा मीड द्वारा विकसित 'सामाजिक स्व' के विचारों तथा अभी हाल में ही संदर्भ समूह व्यवहार पर हाइमन, शैरिफ तथा न्यूकोम्ब द्वारा किए गए व्यवस्थित अध्ययनों ने संदर्भ समूह की अवधारणा को विकसित करने में विशेष योगदान दिया है।

हम सब लोग समूहों में रहते हैं तथा अपना मूल्यांकन अन्य लोगों या समूहों (जो कि हमारे समान सामाजिक स्तर रखते हैं अथवा इमसे उच्च सामाजिक स्तर रखते हैं) की तुलना में करते हैं। जब हम अपने समूह के मानदंडों का अनुपालन न कर किसी अन्य समूह के मानदंडों को स्वीकार करते हैं तथा उसके साथ तादात्म्य स्थापित करना चाहते हैं, तो उस समूह को हम संदर्भ समूह कहते हैं। इस प्रकार, व्यक्तियों का वह समूह जिसे हम आदर्श मानकर उसकी मान्यताओं के अनुसार अपने आपको ढालना चाहते हैं, संदर्भ समूह कहा जाता है। कई बार संदर्भ समूह के स्थान पर कोई व्यक्ति विशेष भी ऐसा हो सकता है जिसकी तरह हम बनने का प्रयास करते हैं। इसीलिए संदर्भ समूह शब्द को, समूहों के लिए ही नहीं अपितु व्यक्तियों अथवा सामाजिक श्रेणियों के लिए भी प्रयोग किया गया है।

शैरिफ के अनुसार, 'संदर्भ समूह वे समूह है जिनसे व्यक्ति मनोवैज्ञानिक रूप से अपने को संबंधित करता है अथवा संबंधित करने की आकांक्षा करता है। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि संदर्भ समूह वे समूह है जिन्हें आदर्श मानकर व्यक्ति अपना मूल्यांकन करता है तथा स्वयं उन समूहों की तरह बनने का प्रयास करता है।'' इसी प्रकार न्यूकोम्ब, टर्नर तथा कनवर्स के अनुसार, 'संदर्भ समूह वह समूह है जिसका प्रयोग कोई व्यक्ति तुलना के लिए मापदंड के रूप में करता है अर्थात् जिससे वह अपने मूल्य प्राप्त करता है।''

इस प्रकार, संदर्भ समूह वे समूह है जिनके मूल्यों को हम प्राप्त करना चाहते हैं, जिनके सदस्यों की तरह हम बनना चाहते हैं तथा जिन्हें हम आदर्श मानते हैं। अगर हम संदर्भ समूह की परिभाषा अधिक विस्तृत अर्थ में तुलनात्मक समूह के रूप में करें तो वे समूह भी जिनके प्रति व्यक्ति घृणा की भावना रखता है अथवा जिन्हें वह अच्छा नहीं मानता संदर्भ समूह की श्रेणी में आ जाते हैं। न्यूकोम्ब ने, वास्तव में, इसी अर्थ में संदर्भ समूह को दो श्रेणियों– सकारात्मक संदर्भ समूह तथा नकारात्मक संदर्भ समूह—में विभाजित किया है। सकारात्मक संदर्भ समूह वे समूह हैं जिन्हें व्यक्ति अच्छा समझता है तथा जिनके अनुसार वह अपने आपको बदलने का प्रयास करता है, जबकि नकारात्मक संदर्भ समूह वे समूह हैं जिन्हें व्यक्ति अच्छा नहीं मानता तथा उस समूह में प्रचलित मान्यताओं का विरोध करता है।

प्रस्थिति एवं भूमिका (Status and role)

समाजशास्त्रीय साहित्य में प्रस्थिति शब्द का तात्पर्य पद से लिया जाता है। प्रत्येक समाज एवं समूह में व्यक्ति का एक समय विशेष में एक निश्चित स्थान होता है। जिसके माध्यम से एक समय विशेष में व्यक्ति की पहचान होती है। ऐसा पद समाज या समूह से स्वीकृत होता है। इस प्रकार समाज या समूह में व्यक्ति के पद को समाजशास्त्रीय भाषा में प्रस्थिति कहा जाता है। एक प्रस्थिति धारणा करने के फलस्वरूप व्यक्ति से जिस प्रकार के कार्यों की समाज सामान्यतः अपेक्षा करता है तथा उसके अनुरूप वह जो कुछ करता है, उसे उसकी 'भूमिका' कहते हैं। प्रत्येक समाज की संरचना एवं संगठन का निर्माण, विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा धारण की गयी सामाजिक प्रस्थितियों एवं भूमिकाओं के व्यवस्थित संयोग से ही होता है। इसलिए ही वीरस्टीड लिखते हैं कि 'समाज सामाजिक प्रस्थितियों का जाल है।'' अनेक प्रस्थितियाँ व्यवस्थित रूप से मिलकर ही संपूर्ण समाज का निर्माण करती है। समाज में उनके महत्व एवं उपयोगिता के आधार पर ही प्रस्थितियों के साथ सम्मान एवं शक्ति जुड़ी हुई होती है। प्रत्येक सामाजिक प्रस्थिति को धारण करने वाला

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

व्यक्ति वैसा ही व्यवहार करता है जैसा उस प्रस्थिति से संबंधित मानदंडों द्वारा अपेक्षित और मान्य होता है। एक पिता, पति, खिलाड़ी, राजनेता, प्राध्यापक, डॉक्टर, इंजीनियर, दुकानदार, छात्र आदि किस प्रकार से समाज में अपनी भूमिका अदा करेंगे, यह सामाजिक नियमों द्वारा तय होता है। प्रस्थिति के अनुरूप भूमिका के निर्वाह की स्थिति को हम 'प्रस्थिति एवं भूमिका का संतुलन' कहते हैं। यह संतुलन ही सामाजिक संगठन का मुख्य आधार है। इसके अभाव में समाज व्यवस्था विघटित होने लगती है। सामाजिक प्रस्थिति के अनुरूप ही व्यक्ति समाज में परस्पर अन्तःक्रिया करते एवं सामाजिक संबंधों का निर्माण करते हैं।

समाजशास्त्र में प्रस्थिति एवं भूमिका का अध्ययन समाजशास्त्रियों द्वारा समूह, सामाजिक संगठन एवं सामाजिक मानदंडों के अध्ययन के यंत्र के रूप में प्रयुक्त हुआ है। सामाजिक प्रस्थिति एवं भूमिका के बारे में महत्वपूर्ण विचार प्रकट करने वालों में लिंटन, मर्टन, पारसंस एवं डेविस आदि समाजशास्त्री प्रमुख हैं। हम यहाँ प्रस्थिति एवं भूमिका के विभिन्न पक्षों पर विचार करेंगे।

प्रस्थिति का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Status)

प्रस्थिति की अवधारणा को समझने के लिए हम यहाँ विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत कुछ परिभाषाओं का उल्लेख करेंगे–

इलियट एवं मैरिल के अनुसार, 'प्रस्थिति व्यक्ति का वह पद है जिसे व्यक्ति किसी समूह में अपने लिंग, आयु, परिवार, वर्ग, व्यवसाय, विवाह अथवा प्रयत्नों आदि के कारण प्राप्त करता है।

आगबर्न तथा निमकॉफ के अनुसार, 'प्रस्थिति की सबसे सरल परिभाषा यह है कि यह समूह में व्यक्ति के पद का प्रतिनिधित्व करती है।

लेपियर के अनुसार, ''सामाजिक प्रस्थिति सामान्यतः उस पद के रूप में समझी जाती है जो एक व्यक्ति समाज में प्राप्त किये होता है।''

मेकाइवर एवं पेज के अनुसार, 'प्रस्थिति वह सामाजिक पद है जो व्यक्तिगत गुण तथा सामाजिक सेवा से पृथक् व्यक्ति के आदर, प्रतिष्ठा तथा प्रभाव की मात्रा का निर्धारण करती है।

मार्टिण्डेल तथा मौनाचेसी ने लिखा है, ''सामाजिक प्रस्थिति का अर्थ है सामाजिक संकलन में व्यक्ति का पद जो कि आदर के प्रतीकों एवं क्रियाओं के प्रतिमानों से पहचाना जाता है।''

किम्बाल यंग के अनुसार, ''प्रत्येक समाज तथा समूह में प्रत्येक व्यक्ति को कुछ कार्यों को सम्पन्न करना होता है जिनके साथ शक्ति तथा प्रतिष्ठा की कुछ मात्रा जुड़ी होती है। शक्ति तथा प्रतिष्ठा कि जिस मात्रा का हम प्रयोग करते हैं वह उसकी प्रस्थिति है।''

लिंटन के अनुसार, ''सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत किसी व्यक्ति को एक समय विशेष में जो स्थान प्राप्त होता है, उसी को उस व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति कहा जाता है।''

जॉन लेवी के अनुसार, 'किसी सामाजिक संरचना में व्यक्ति अथवा समूह के संस्थागत पदों की संपूर्णता का नाम ही प्रस्थिति है।''

बीरस्टीड ने बताया है, ''सामान्यतः एक प्रस्थिति समाज अथवा एक समूह में एक पद है।''

डेविस के अनुसार, ''प्रस्थिति किसी भी सामान्य संस्थात्मक व्यवस्था में किसी पद की सूचक है, ऐसा पद जो समाज द्वारा स्वीकृत है और जिसका निर्माण स्वतः ही हुआ है तथा जो जनरीतियों एवं रूढ़ियों से संबंध है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि प्रस्थिति व्यक्ति की समूह अथवा समाज में पद की सूचक है। यह पद व्यक्ति को समाज द्वारा स्वतः ही प्रदान किया जा सकता है या व्यक्ति अपने गुणों एवं योग्यता के आधार पर प्राप्त कर सकता है। एक व्यक्ति की प्रस्थिति सदैव ही दूसरे व्यक्तियों की प्रस्थितियों की तुलना में ही होती है। अकेले व्यक्ति की कोई प्रस्थिति नहीं होती, अर्थात् जब हम यह कहते हैं कि अमुक व्यक्ति अध्यापक है तो इसका अर्थ यह है कि कोई उसके छात्र भी हैं। बिना छात्र के कोई व्यक्ति अध्यापक कैसे हो सकता है? इसी प्रकार से जब हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति नेता है तो इसका अर्थ यह है कि अन्य व्यक्ति अनुगामी भी है क्योंकि बिना अनुगामी के हम नेता की कल्पना नहीं कर सकते। इस प्रकार एक प्रस्थिति की दूसरी प्रस्थिति के संदर्भ में ही देखा जा सकता है। प्रस्थिति शब्द एक ओर तो श्रेणी के विचार को प्रकट करता है तो दूसरी ओर यह व्यक्ति के व्यवहार का भी बोध कराता है। प्रस्थिति एक व्यक्ति के दूसरे व्यक्तियों की तुलना में प्राप्त अधिकारों एवं कर्तव्यों की परिचायक भी है। साथ ही प्रत्येक प्रस्थिति के साथ कुछ सामाजिक नियम, मूल्य और मानदंड भी जुड़े होते हैं और प्रत्येक व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती है कि वह उस प्रस्थिति से सम्बद्ध इन मानदंडों का पालन करें। ऐसा न करने पर उसकी आलोचना की जाती है। एक व्यक्ति समाज में एक साथ अनेक प्रस्थितियों को प्राप्त करता है किंतु वह किसी एक ही प्रमुख प्रस्थिति के द्वारा समाज में जाना जाता है। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति प्राध्यापक, पिता, पति, मामा, भाई एवं पुत्र आदि विभिन्न प्रस्थितियों को एक साथ धारण करता है किंतु समूह तथा समुदाय में वह किसी एक प्रमुख प्रस्थिति से ही जाना जाता है।

प्रस्थिति और भूमिका के आवश्यक तत्व (Essential elements of status and role)

प्रस्थिति और भूमिका को स्पष्टतः समझने के लिए हम उनके आवश्यक तत्वों का यहां उल्लेख करेंगे–

1. प्रत्येक समाज में एक प्रस्थिति और उससे संबंधित भूमिका का निर्धारण उस समाज के सांस्कृतिक कारकों एवं मूल्यों द्वारा होता है। संस्कृति ही यह तय करती है कि किसे कौनसी प्रस्थिति प्रदान की जायेगी और वह क्या भूमिका निभायेगा।
2. प्रस्थिति एवं भूमिका की अवधारणा को दूसरे व्यक्तियों के संदर्भ में ही समझा जा सकता है। एक व्यक्ति की प्रस्थिति

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

एवं भूमिका का संबंध अन्य व्यक्तियों की प्रस्थितियों एवं भूमिकाओं से होता है जो उनसे प्रभावित होते हैं। उदाहरण के लिए, प्राचार्य की प्रस्थिति एवं भूमिका को प्राध्यापकों एवं छात्रों की प्रस्थितियों एवं भूमिकाओं के संदर्भ में ही समझा जा सकता है।

3. एक ही प्रस्थिति एवं भूमिका का निर्वाह पृथक्–पृथक् व्यक्तियों द्वारा अपने–अपने ढंग से किया जाता है। प्रधानमंत्री के रूप में पंडित नेहरू, लाल बहादुर शास्त्री एवं मोरारजी द्वारा समान ढंग से भूमिकाओं का निर्वाह नहीं किया गया।
4. प्रत्येक प्रस्थिति एवं भूमिका व्यक्ति के संपूर्ण सामाजिक पद का केवल एक भाग ही होती है। व्यक्ति समाज में एक साथ अनेक प्रस्थितियाँ प्राप्त करता है और विभिन्न अवसरों पर उनके अनुरूप ही अपनी भूमिका निभाता है। उदाहरणार्थ, एक ही व्यक्ति डॉक्टर, पिता, पति एवं पुत्र की विभिन्न प्रस्थितियों को धारण करता है और अवसर आने पर इन्हीं प्रस्थितियों के अनुरूप भूमिकाओं का निर्वाह करता है।
5. प्रस्थिति एवं भूमिका के आधार पर संपूर्ण समाज विभिन्न प्रस्थिति–समूहों में बँटा होता है। इन प्रस्थिति–समूहों के आधार पर हम किसी समाज की विशेषताओं को ज्ञात कर सकते हैं। एक प्रस्थिति–समूह की अपनी एक सी समस्याएँ, विशेषताएँ, स्वार्थ आदि होते हैं। अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए कभी कभी एक ही प्रस्थिति समूह में संगठन पाया जाता है। उदाहरणार्थ पूंजीपति एवं श्रमिक प्रस्थिति–समूहों में अपने अपने संगठन पाये जाते हैं।
6. प्रत्येक प्रस्थिति के साथ एक विशेष मूल्य एवं प्रतिष्ठा जुड़ी होती है जो संस्कृति द्वारा निर्धारित होती है।
7. एक व्यक्ति एक ही समय में कई प्रस्थितियों को धारण करता है किंतु वह सभी का निर्वाह समान योग्यता एवं कुशलता के साथ नहीं कर पाता है। एक व्यक्ति अच्छा खिलाड़ी हो सकता है किंतु वह एक असफल व्यापारी और लापरवाह पति भी हो सकता है। एक व्यक्ति समाज की प्रत्याशाओं के अनुसार जितने उचित ढंग से अपनी भूमिकाएँ निभाता है, उसकी समाज में उतने ही अनुपात में प्रतिष्ठा होती है।
8. समाज में उच्च एवं निम्न प्रस्थितियों के कारण ही सामाजिक संस्तरण तथा विभेदीकरण पैदा होता है जो उदग्र या क्षैतिज रूप में हो सकता है।
9. समाज में कुछ प्रस्थितियां प्रदत्त होती हैं जो एक व्यक्ति को समाज स्वयं प्रदान करता है और दूसरी ओर कुछ प्रस्थितियाँ व्यक्ति अपनी योग्यता एवं प्रयत्नों के द्वारा अर्जित करता है।

प्रस्थितियों का संगठन (The organization of statuses)

समाज में कोई भी प्रस्थिति अकेली नहीं होती है वरन् वह अन्य प्रस्थितियों से संबंधित एवं प्रभावित भी होती है। समाज में व्यक्ति का मूल्यांकन उसके द्वारा विभिन्न प्रस्थितियों को धारण करने एवं उसके द्वारा निभायी जाने वाली भूमिकाओं के आधार पर किया जाता है। प्रस्थितियों के संगठन को समझने के लिए 'किंग्सले डेविस' ने प्रस्थिति से संबंधित कुछ अवधारणाओं का उल्लेख किया है, वे है, आफिस, स्थिति–संकुल तथा स्तर। हम उन्हें यहाँ स्पष्ट करेंगे।

प्रस्थिति, आफिस, स्थिति–संकुल तथा स्तर (स्तृत)

आफिस (Office)– प्रो. डेविस का मत है कि सामाजिक प्रस्थितियों का संबंध जनरीतियों एवं रूढ़ियों से होता है, ये सामान्य होती है तथा इनका ज्ञान सभी को होता है। दूसरी ओर कुछ प्रस्थितियों का संबंध विशिष्ट सामाजिक संस्थाओं, समितियों एवं संगठनों से होता है जिनका दायरा सीमित होता है और जिनका ज्ञान थोड़े से व्यक्तियों को होता है। ऐसी प्रस्थितियों के लिए ऑफिस शब्द का प्रयोग किया गया है। ऑफिस ऐसी प्रस्थिति है जो प्रदत्त न होकर अर्जित होती है। स्टेट बैंक ऑफ इंडिया का मैनेजर, भारत का राष्ट्रपति, राजस्थान विश्वविद्यालय का उप–कुलपति, टाटा स्टील एवं लौह उद्योग का प्रशासक आदि सभी पद ऑफिस है। इस प्रकार ऑफिस किसी औपचारिक संगठन में जान–बूझकर बनाया गया पद है जिस पर सीमित तथा विशेष नियमों का अधिकार तथा नियंत्रण होता है और जो सामान्यतः प्रदत्त न होकर व्यक्ति द्वारा स्वयं प्रयत्नपूर्वक प्राप्त किया जाता है। ऑफिस एक विशिष्ट प्रस्थिति का सूचक है जबकि प्रस्थिति संपूर्ण सामाजिक ढांचे में एक सामान्य स्थिति का। एक ऑफिस पर होने से एक व्यक्ति को एक प्रस्थिति भी प्राप्त होती है किंतु प्रत्येक प्रस्थिति व्यक्ति की ऑफिस प्रदान नहीं करती। एक ही पद प्रस्थिति एवं ऑफिस दोनों ही हो सकता है जैसे राजस्थान विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र के प्रोफेसर का पद आफिस एवं प्रस्थिति दोनों ही हैं।

स्थिति संकुल (Status complex) – प्रो. डेविस कहते हैं कि एक व्यक्ति समाज में केवल एक ही प्रस्थिति या ऑफिस ग्रहण नहीं करता है वरन् अनेक प्रस्थितियां एवं ऑफिस प्राप्त करता है। व्यक्ति द्वारा प्राप्त इन विभिन्न प्रस्थितियों एवं ऑफिसों के योग को स्थिति–संकुल कहते हैं। इस प्रकार स्थिति–संकुल अनेक प्रस्थितियों एवं ऑफिसों का एक गुच्छा है जिस पर किसी व्यक्ति का अधिकार होता है और इसे सार्वजनिक मान्यता प्राप्त होती है। स्थिति–संकुल एक सीमा तक स्थायित्व रखने वाली प्रस्थितियों का योग है।

स्तर (स्तुत) (Stratum) – स्तर का संबंध ही प्रकार के स्थिति–संकुल को प्राप्त करने वाले विभिन्न लोगों से है। स्तर या स्ट्रेटम का तात्पर्य एक समाज में करीब–करीब समान स्थिति–संकुल अर्थात् समान प्रस्थितियों तथा पदों की समग्रता वाले व्यक्तियों के जनसमूह से है। अन्य शब्दों में एक प्रकार की स्थिति–संकुल को धारण करने वाले सभी व्यक्ति मिलकर एक स्तर का निर्माण करते हैं। उदाहरणार्थ, सभी क्लर्क, अध्यापक, पूंजीपति एवं श्रमिक आदि मिलकर अलग अलग स्तरों का निर्माण करते हैं।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

स्तर किसी भी सामाजिक ढांचे का प्रमुख आधार होता है और समूह की विशेषताओं को प्रकट करता है। यह समाज में स्तरीकरण को जन्म देता है। एक स्तर के लोगों के स्वार्थ, समस्यायें एवं विश्व दृष्टिकोण समान होते हैं और उनमें दृढ़ता दिखायी देती है। एक स्तर के लोग दूसरे स्तर के लोगों से अपनी रक्षा के लिए नियम एवं संगठन बनाते हैं। उनमें एकता पायी जाती है जिसे दृढ़ता या स्थिति–समूह दृढ़ता कहते हैं।

प्रतिष्ठा, सम्मान और श्रेणी (Prestige, steem and Rank)

प्रस्थिति के समान अर्थों में कई बार प्रतिष्ठा, सम्मान और श्रेणी शब्दों का प्रयोग भी किया जाता है किन्तु इन सभी में स्पष्ट अंतर है।

प्रतिष्ठा (Prestige) – समाज में प्रत्येक प्रस्थिति की एक प्रतिष्ठा होती है, एक मूल्य होता है। समाज में किसी प्रस्थिति को अधिक महत्व दिया जाता है तो किसी को कम, किसी को अच्छा तो किसी को बुरा, किसी को उन्नतिशील तो किसी को शोषित समझा जाता है। इस प्रकार समाज में प्रत्येक प्रस्थिति के प्रति लोगों में आदर एवं श्रद्धा की अलग–अलग मात्रा पायी जाती है, उसे ही उस प्रस्थिति की प्रतिष्ठा कहते हैं। उदाहरण के लिए, समाज में डॉक्टर, इंजीनियर, प्राध्यापक एवं उद्योगपति की प्रतिष्ठा एक अकुशल श्रमिक एवं चपरासी से अधिक है। एक प्रस्थिति को धारण करने पर व्यक्ति उससे संबंधित प्रतिष्ठा भी प्राप्त करता है। प्रतिष्ठा का संबंध व्यक्ति से न होकर प्रस्थिति से है। समाज ही किसी प्रस्थिति का मूल्यांकन कर उसे कम या अधिक प्रतिष्ठा प्रदान करता है।

सम्मान (Esteem)– एक ही प्रस्थिति धारण करने वाले सभी व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों, दायित्वों एवं भूमिकाओं का निर्वाह समान रूप से नहीं करते हैं, अतः उनकी प्रतिष्ठा समान होते हुए भी उनके सम्मान में अंतर पाया जाता है। उदाहरण के लिए, दक्ष एवं दयालु डाक्टर का सम्मान साधारण डॉक्टर से अधिक होता है। इस प्रकार सम्मान का संबंध एक पद पर कार्य कर रहे व्यक्ति की सफलता–असफलता , दक्षता–अदक्षता एवं कार्य करने की क्षमता से होता है। इसीलिए एक व्यक्ति ऊँची प्रस्थिति पर होते भी कम सम्मानित हो सकता है एवं दूसरा व्यक्ति निम्न प्रस्थिति पर कार्य करने पर भी अधिक सम्मानित हो सकता है, यदि वह कर्तव्य–परायण और साथ ही अपने कार्य में दक्ष हो। इस प्रकार प्रतिष्ठा का संबंध प्रस्थिति से है। जबकि सम्मान का संबंध किसी भी प्रस्थिति को धारण करने वाले व्यक्ति की कार्यकुशलता, दक्षता, विशेषज्ञता, क्षमता, कर्तव्य–परायणता एवं सफलता से है।

श्रेणी (Rank)– समाज में पायी जाने वाली समान प्रतिष्ठा वाली स्थितियों की समग्रता को ही श्रेणी कहा जाता है। श्रेणी ही समाज में स्तरीकरण की प्रकृति को तय करती है तथा यह बताती है कि व्यक्ति किस सीमा तक अपनी प्रस्थिति एवं भूमिका में परिवर्तन करने के लिए स्वतंत्र है।

प्रस्थिति का संबंध सत्ता एवं शक्ति से भी है। 'शक्ति' का अर्थ एक व्यक्ति द्वारा अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए दूसरों के व्यवहार पर नियंत्रण रखने की क्षमता में है। शक्ति का संबंध किसी प्रस्थिति या ऑफिस से न होकर व्यक्ति से होता है। शक्ति को जब संस्थात्मक स्वीकृति प्राप्त हो जाती है अर्थात जब शक्ति को कानून का जामा पहना दिया जाता है तो वह सत्ता कहलाती है। आय कर अधिकारी को कर वसूल करने की शक्ति सत्ता है क्योंकि यह सत्ता उसे एक विशिष्ट संस्था एवं कानून द्वारा प्राप्त होती है। एक व्यक्ति को प्राप्त सत्ता एवं शक्ति के स्रोत उसके पद, ऑफिस एवं भूमिकाएँ आदि होते हैं। समाज में किसी भी प्रस्थिति का मूल्यांकन इस आधार पर किया जाता है कि उसे कितनी शक्ति या सत्ता प्राप्त है।

प्रस्थिति प्रतीक (Status symbol)– कई बार कुछ प्रस्थितियों को उनके प्रतीकों के आधार पर पहचाना जा सकता है। ये प्रतीक पोशाक, बैज, श्रृंगार के साधन अथवा कोई भी भौतिक सांस्कृतिक तत्व आदि हो सकते हैं। स्त्री पुरुष का भेद, आयु भेद, प्रजाति, जाति एवं व्यवसाय भेद को विभिन्न प्रतीकों के आधार पर जाना जाता है। उदाहरण के लिए, स्त्री व पुरुष की पोशाक अलग–अलग होती है। सैनिक व पुलिस कर्मचारी की प्रस्थिति को उनकी पोशाक एवं बैज के द्वारा, छात्रों को उनकी ड्रेस एवं बस्ते से, डाक्टर को उसके बैग एवं स्टेथेस्कोप द्वारा, एजेन्ट को उसके बैग द्वारा, अधिकारी एवं चपरासी को तथा ग्राहक एवं दुकानदार को उनके बैठने के स्थान द्वारा तथा विवाहित और अविवाहित स्त्री को मांग में भरे जाने वाले सिंदूर के आधार पर पहचाना जा सकता है।

मुख्य प्रस्थिति (Key status)– मुख्य प्रस्थिति की अवधारणा ई. टी. हिलर नामक समाजशास्त्री द्वारा दी गयी है। व्यक्ति अपने जीवन में अनेक प्रस्थितियाँ धारण करता है। किंतु इनमें से किसी एक का ही अधिक महत्व होता है। बीरस्टीड कहते हैं, प्रमुख प्रस्थिति वह है जो दूसरी प्रस्थितियों की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण एवं अग्रणीय होती है। आधुनिक औद्योगिक समाजों में व्यवसाय ही व्यक्ति की प्रमुख प्रस्थिति को निर्धारण करता है। जब एक व्यक्ति से हम मिल जाते हैं तो यह देखते हैं कि वह व्यापारी, क्लर्क, डाक्टर, अध्यापक, इंजीनियर, श्रमिक आदि क्या है? मुख्य प्रस्थिति के आधार पर व्यक्ति की वर्ग प्रस्थिति भी ज्ञात हो जाती है। कुछ समाजों में मुख्य प्रस्थिति का आधार नातेदारी, राजनीति, धर्म एवं जाति आदि है। आदिम समाजों में आयु, लिंग एवं नातेदारी मुख्य प्रस्थिति को निर्धारित करते हैं। भारत में जाति तथा रूप में व्यक्ति को राजनीतिक स्थिति मुख्य प्रस्थिति के निर्धारण में प्रमुख है। मुख्य परिस्थिति के आधार पर ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का मूल्यांकन किया जाता है।

प्रस्थिति संबंध (Status relations)– वीरस्टीड ने कुछ प्रस्थिति संबंधों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि कई प्रस्थितियाँ जोड़े के रूप में होती हैं, जैसे माता–पिता एवं संतान, पति–पत्नी, दुकानदार–ग्राहक, अध्यापक–छात्र, डाक्टर–मरीज, किरायेदार–मकान मालिक, भाई–बहिन आदि। इससे स्पष्ट है कि जटिल

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

सभाओं में लोगों के पारस्परिक संबंध व्यक्ति पर नहीं वरन् प्रस्थिति पर निर्भर होते हैं और प्रत्येक प्रस्थिति जोड़े के साथ कुछ मानदंड भी जुड़े होते हैं।

प्रस्थिति संघर्ष और विपर्यय (Status conflict and reversals) – जब एक ही व्यक्ति दो इस प्रकार की प्रस्थितियाँ धारण किये हुए होता है। जिसके मानदंड एक दूसरे से भिन्न होते है। और एक के मानदंडों का पालन करने पर दूसरे के मानदंडों की अवज्ञा होती है तो यह स्थिति प्रस्थिति संघर्ष कहलाती है। उदाहरणार्थ, भारत में एक राज्य कर्मचारी किसी भी राजनीतिक दल की चुनाव गतिविधियों में भाग नहीं ले सकता किंतु दूसरी ओर उसे देश का नागरिक होने के नाते ऐसा करने का अधिकार है। इसी प्रकार से एक प्रस्थिति से संबंधित विशेषाधिकारों एवं कर्तव्यों में कभी–कभी विपर्यय पाया जाता है। उदाहरण के लिए, राष्ट्रपति देश में सर्वोच्च राजनीतिक पद पर है और वह केन्द्रीय कर्मचारियों के लिए कई आदेश देता है किंतु कई बार उसे स्वयं को सुरक्षा की दृष्टि से गुप्तचर विभाग की आज्ञा माननी पड़ती है। अतः कई बार एक व्यक्ति को भिन्न प्रस्थितियों को धारण करने पर विपरीत संबंधों को निभाना होता है।

प्रस्थिति प्रतिमान एवं प्रस्थिति क्रम (Status set and status Sequence) – एक समय में एक व्यक्ति कई प्रस्थितियां धारण करता है। उसे ही मर्टन ने प्रस्थिति–प्रतिमान कहा है। एक व्यक्ति डॉक्टर, पिता–पुत्र, भाई एवं मामा आदि सभी प्रस्थितियों को एक साथ धारण करता है, ये सभी मिलकर उसके प्रस्थिति प्रतिमान को बनाते हैं। एक व्यक्ति अपने जीवन काल में एक के बाद एक कई प्रस्थितियाँ प्राप्त करता है, उसे प्रस्थिति क्रम कहते हैं। उदाहरणार्थ, एक छात्र आगे चलकर क्लर्क, अधिकारी और फिर मैनेजर बनता है तो ये सभी पद उसे एक के बाद एक प्राप्त होते जाते हैं। ये ही उस व्यक्ति का प्रस्थिति–क्रम बनाते हैं।

सामाजिक प्रस्थितियों के प्रकार (Kinds of social statuses)

सन् 1936 में राल्फ लिंटन ने समाज में पायी जाने वाली प्रस्थितियों को प्रमुख रूप से दो भागों– प्रदत्त तथा अर्जित में विभक्त किया। हम यहाँ इन दोनों का ही उल्लेख करेंगे।

प्रदत्त प्रस्थिति (ascribed status)

समाज में कुछ प्रस्थितियाँ ऐसी होती हैं जो व्यक्ति के गुणों पर ध्यान दिये बिना ही उसको स्वतः ही प्राप्त हो जाती है। ये प्रस्थितियाँ व्यक्ति को किसी परिवार विशेष में जन्म लेने व परंपरा आदि के कारण प्राप्त होती है और बच्चे को उस समय प्रदान कर दी जाती है जबकि उसके व्यक्तित्व के बारे में समाज कुछ नहीं जानता। समाज में प्रदत्त प्रस्थितियाँ पहले से ही मौजूद होती है जो नवीन जन्म लेने वाले प्राणी को प्रदान कर दी जाती है। प्रस्थितियाँ बच्चे के द्वारा भविष्य में प्राप्त किये जाने वाली प्रस्थितियों की सीमा तथा रूप भी निश्चित करती है। विश्व के सभी समाजों में प्रदत्त प्रस्थितियाँ पायी जाती है। प्रदत्त प्रस्थिति पर व्यक्ति का अपना कोई नियंत्रण नहीं होता जैसे स्त्री या पुरुष होना, बालक या युवा होना, सुंदर व कुरूप तथा लंबा व छोटा होना। लिंग भेद, आयु, नातेदारी, प्रजाति, जाति, परिवार में बच्चों की कुल संख्या, गोद लेने, माता–पिता की मृत्यु तथा विवाह–विच्छेद आदि व्यक्ति की इच्छा का कोई ध्यान नहीं रखते हुए उसको एक प्रस्थिति प्रदान करते हैं। इन सब के आधार पर प्राप्त प्रस्थितियाँ प्रदत्त प्रकार की होती है। आधुनिक समाजों की तुलना में आदिम एवं परंपरागत्मक समाजों में प्रदत्त प्रस्थितियाँ अधिक पायी जाती है।

प्रदत्त प्रस्थिति के निर्धारण के आधार (Bases of determination of Ascribed status)

किसी भी व्यक्ति की प्रस्थिति का निर्धारण अनेक आधारों पर होता है। प्रदत्त प्रस्थिति निर्धारण के कुछ प्रमुख आधार इस प्रकार हैं–

1. लिंग भेद (sex dichotomy)– लिंग निश्चित प्रत्यक्ष तथा स्थायी शारीरिक लक्षण है, लगभग सभी संस्कृतियों में स्त्री एवं पुरुष की प्रस्थितियों एवं भूमिकाओं में अंतर पाया जाता है। प्रायः स्त्रियों की तुलना में पुरुषों की प्रस्थिति ऊँची मानी जाती है। सामान्यतः स्त्रियों को कमजोर, कोमल, भावुक, सहज विश्वासी, धार्मिक माना जाता रहा है। दूसरी ओर पुरुषों को साहस, वीरता, तर्क एवं शौर्य का प्रतीक माना गया है। यही कारण है कि स्त्रियों को छोटे मोटे घरेलू कार्य जैसे सिलाई, बर्तन बनाना, खाना बनाना एवं बच्चों के पालन पोषण का कार्य सौंपा गया है जबकि पुरुष पशु चारण, मछली मारने, शिकार व युद्ध करने आदि के कार्य करते रहे हैं। जिनमें अधिक शारीरिक शक्ति एवं साहस की आवश्यकता होती है। कई आदिम समाजों में स्त्रियाँ धार्मिक एवं जादुई क्रियाओं में भाग नहीं ले सकती थी। नीलगिरि की टोडा जनजाति में स्त्रियों को भैंस पालन का कार्य करने की मनाही है। स्त्री एवं पुरुषों में श्रम–विभाजन विभिन्न संस्कृतियों में समान नहीं है। एक समाज में एक प्रकार का कार्य पुरुषों के लिए निर्धारित है तो वही कार्य दूसरे समाज में स्त्रियों के लिए। स्त्री एवं पुरुषों के कार्य–विभाजन का आधार संभवतः यह माना जाता है कि उनके आनुवंशिकता से प्राप्त चारित्रिक लक्षण भिन्न भिन्न होते हैं, जिसके कारण उनका सामाजिक व्यवहार भी भिन्न होता है। स्त्री–पुरुषों में पायी जाने वाली शारीरिक रचना की भिन्नता भी उनके कार्यों में भिन्नता पैदा करती है। नारी को प्रजनन का कार्य करना पड़ता है, अतः उसे ऐसे कार्य सौंपे गये हैं जो प्रजनन क्रिया के अनुकूल है। इसलिए ही उन्हें युद्ध, शिकार एवं शक्ति के कार्यों के स्थान पर बच्चों के लालन–पालन से संबंधित एवं घरेलू कार्य सौंपे गये हैं जिससे कि गर्भकाल में उन पर विपरीत प्रभाव न पड़े और वे घर के नजदीक रहें। इस प्रकार हम देखते हैं कि कई प्रदत्त एवं अर्जित पद यौन–भेद पर आधारित है।

स्त्री एवं पुरुषों की प्रस्थितियों में सांस्कृतिक कारणों से भी भिन्नता पायी जाती है। सदैव ही पुरुषों की तुलना में स्त्रियों को निम्न स्थान नहीं दिया जाता है। भारत में गारो खासी तथा नायर मातृ–सत्तात्मक परिवारों में पुरुषों की तुलना में स्त्री की प्रस्थिति ऊँची है वही परिवार की सुविधा होती है, संपत्ति एवं धार्मिक

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

कार्यों में वही प्रधान होती है वंश एवं उत्तराधिकार भी स्त्रियों के आधार पर ही तय किये जाते हैं। वर्तमान समय में स्त्री एवं पुरुषों को कुछ कार्यों को छोड़कर, शेष में समान रूप से नौकरी के अवसर प्रदान किये जाते हैं। फिर भी यह बात संदेहपूर्ण प्रतीत होती है कि लिंग विभेद के आधार पर श्रम–विभाजन एवं पदों की प्राप्ति कभी समाप्त हो सकेगी।

2. आयु भेद (age differences)– लिंग भेद की भांति आयु–भेद भी निश्चित एवं स्पष्ट शारीरिक लक्षण है किंतु आयु एक परिवर्तनशील तथ्य भी है। विश्व की सभी संस्कृतियों में आयु के आधार पर प्रस्थिति भेद पाया जाता है। आयु का विभाजन शिशु, बालक, युवा, प्रौढ़ एवं वृद्ध आदि स्तरों में किया जा सकता है। समाज में अलग–अलग आयु के लोगों को विभिन्न प्रस्थितियाँ प्रदान की जाती है तथा एक विशेष प्रस्थिति के लिए निश्चित आयु का होना भी आवश्यक है। बड़े भाई एवं छोटे भाई का भेद आयु पर निर्भर है। प्रायः बच्चों की तुलना में वृद्ध लोगों को समाज में अधिक सम्मान दिया जाता है। इसका कारण आयु के अतिरिक्त यह भी है कि उन्हें जीवन का अनुभव अधिक होता है तथा वे परंपरा एवं संस्कृतिक के रक्षक माने जाते हैं। भारत के राष्ट्रपति के लिए कम से कम 35 वर्ष की आयु होना आवश्यक है। इसी प्रकार से मत देने, उम्मीदवार होने तथा सरकारी नौकरी प्राप्त करने के लिए भी एक निश्चित आयु प्राप्त करना आवश्यक है। हिन्दू संयुक्त परिवार का मुखिया वयोवृद्ध पुरुष ही होता है। भारत में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम के विभाजन का मूल आधार आयु ही है। आयु के आधार पर प्रस्थिति का विशुद्ध रूप तक दिखायी पड़ता है जब उस पद को प्राप्त करने के लिए अन्य तत्वों का कोई हाथ न हो।

किंतु सदैव ही प्रस्थिति निर्धारण में आयु ही महत्वपूर्ण नहीं होती है वरन् उसके साथ लिंग, व्यक्ति के गुण, नातेदारी, क्षमता, शिक्षा, संपत्ति तथा सांस्कृतिक आधार भी जुड़े होते हैं। यही कारण है कि एक ही आयु के होने पर भी लोगों को भिन्न भिन्न प्रस्थितियाँ प्रदान की जाती है। जिन समाजों में आजीविका प्राप्त करना कठिन होता है, वहां युवा लोगों का अधिक महत्व होता है। एस्कीमो लोगों में वृद्ध व्यक्ति की हत्या करना नैतिक दायित्व माना जाता है। स्पष्ट है कि व्यक्ति की प्रस्थिति निर्धारण में आयु के महत्वपूर्ण तथ्य होते हुए भी इसे एकमात्र आधार नहीं माना जा सकता।

3. नातेदारी (kinship)– व्यक्ति को नातेदारी के आधार पर भी अनेक प्रस्थितियाँ प्राप्त होती है। एक व्यक्ति का अपने माता–पिता एवं रक्त संबंधियों से संबंध होता है, उनसे संबंधित होने के कारण ही वह अनेक प्रस्थितियां प्राप्त करता है। नातेदारी से संबंधित प्रस्थितियाँ प्रदत्त होती है क्योंकि हम हमारे माता–पिता एवं भाई–बहिन का चयन नहीं करते। नातेदारी जैविकीय एवं सांस्कृतिक दोनों ही तथ्यों का मिश्रित रूप है। समाज में हमें कई पद माता–पिता के द्वारा ही प्राप्त होते हैं। राजा का पुत्र राजपद ग्रहण करता है, हम अपने माता–पिता का वर्ग, धर्म और कभी कभी व्यवसाय भी ग्रहण करते हैं। भारत में जाति का आधार जन्म ही है। माता, पिता, भाई, बहिन, चाचा, मामा, जीजा, साला, दादा, दादी, सास–सुसर आदि सभी प्रस्थितियाँ नातेदारी के आधार पर ही तय होती है। नातेदारी के साथ व्यक्ति के कुछ अधिकार एवं दायित्व भी जुड़े होते हैं। समाज में माता–पिता की सामाजिक स्थिति के आधार पर ही बच्चे का भी मूल्यांकन किया जाता है और उनकी उच्च एवं निम्न स्थिति के अनुसार बच्चे को भी सामाजिक प्रस्थिति प्राप्त होती है। इसका कारण यह है कि प्राणीशास्त्रीय रूप से बच्चे की विशेषताओं को माता–पिता की विशेषताओं के समान समझा जाता है और बच्चे के समाजीकरण के दौरान भी उनका मुख्य हाथ होता है।

4. जन्म (Birth)– व्यक्ति का जन्म किस परिवार, जाति अथवा प्रजाति में हुआ है, इस आधार पर भी प्रस्थिति का निर्धारण होता है। शाही घराने एवं उच्च जाति में जन्म लेने वाले की सामाजिक प्रस्थिति निम्न परिवारों के लोगों की तुलना में ऊँची रही है।

5. शारीरिक विशेषताएँ (Physical abilities)– कई प्रस्थितियां व्यक्ति को उसकी शारीरिक विशेषताओं के आधार पर प्रदान की जाती है। काले एवं कुरूप की तुलना में सुंदर, निर्बल की तुलना में शक्तिशाली तथा बीमार, लूले–लंगड़े एवं अपंग व्यक्ति की तुलना में स्वस्थ एवं सक्षम व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति ऊँची होती है।

6. जाति एवं प्रजाति (Caste and Race)– भारत में जाति व्यक्ति की प्रस्थिति निर्धारण का मुख्य आधार है।

अर्जित प्रस्थिति (Achieved status)

दूसरी ओर समाज में कुछ प्रस्थितियाँ ऐसी भी होती हैं जिन्हें व्यक्ति अपने गुण, योग्यता एवं क्षमता के आधार पर ग्रहण करता है। ये अर्जित प्रस्थितियां कहलाती हैं। हार्टन एवं हंट के अनुसार, 'एक सामाजिक पद जिसे व्यक्ति अपनी इच्छा एवं प्रतिस्पर्द्धा के द्वारा प्राप्त करता है अर्जित प्रस्थिति के नाम से जाना जाता है।'' अर्जित प्रस्थितियों के लिए समाज में प्रतिस्पर्द्धा पायी जाती है और योग्य एवं सक्षम व्यक्ति इन प्रस्थितियों को प्राप्त कर लेते हैं। शिक्षा, व्यवसाय, संपत्ति संचय, विवाह, श्रम–विभाजन आदि का संबंध अर्जित प्रस्थितियों से ही है। व्यक्ति की सफलता एवं असफलता के आधार पर भी उसे सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। साधारणतः दयालु, बुद्धिमान, योग्य, प्रतिभाशाली, साहसी एवं शक्तिशाली व्यक्ति को सभी महत्व देते हैं। प्रो. डेविस कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति समाज में सदैव होते हैं जो इतने चतुर, प्रतिभाशाली, शक्तिशाली, क्षमताशील एवं महत्वाकांक्षी होते हैं कि अनेक बाधाओं पर विजय प्राप्त करके वे समाज के नेता बन जाते हैं। प्रत्येक देश एवं प्रत्येक समाज का इतिहास उनके अमर नामों से जगमगाता रहता है। वे इतिहास का निर्माण करते हैं, वे अन्य व्यक्तियों पर नियंत्रण रखने तथा समाज में परिवर्तन लाने में सक्षम होते हैं। अतः समाज में वे अपना

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

महत्वपूर्ण स्थान बना लेते हैं। इस संदर्भ में अनेक नेताओं के उदाहरणों से स्पष्ट है जो सामान्य व्यक्ति होते हुए भी अपने प्रयत्नों के कारण उच्च सामाजिक–राजनीतिक प्रस्थिति प्राप्त कर सके हैं। जिन प्रस्थितियों के लिए असामान्य प्रतिभा या योग्यता की आवश्यकता पड़ती है, वे सबके द्वारा अर्जित किये जा सकने के लिए स्वतंत्र रखी जाती है। आधुनिक समाज में जहाँ जन्म के स्थान पर व्यक्ति के गुणों को अधिक महत्व दिया जाता है अर्जित प्रस्थितियाँ अधिक पायी जाती है।

अर्जित प्रस्थिति के निर्धारण के आधार (Basis of determination of achieved status)

अर्जित प्रस्थिति के निर्धारण के कुछ प्रमुख आधार इस प्रकार है–

1. **संपत्ति** (Wealth) – व्यक्ति के पद का निर्धारण करने में संपत्ति एक महत्वपूर्ण कारक है। संपत्ति पर अधिकार होने या न होने के आधार पर ही व्यक्ति की ऊँची या नीची प्रस्थिति होती है। अक्सर गरीब की तुलना में पूंजीपति की सामाजिक प्रस्थिति ऊँची होती है। आधुनिक युग में जिन लोगों के पास भौतिक सुख–सुविधाएं अधिक हैं, वे ऊँचे माने जाते हैं। मात्र संपत्ति से ही व्यक्ति की प्रस्थिति निर्धारित नहीं होती है वरन् यह भी देखा जाता है कि वह संपत्ति किस प्रकार से अर्जित की गयी है। ईमानदार पूंजीपति की प्रस्थिति काला–बाजारी, स्मगलिंग एवं अनैतिक तरीके के धन कमाने वाले की तुलना में ऊँची होती है। किंतु कई बार संपत्ति त्यागने वाले को भी सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है।

2. **व्यवसाय** (Profession) – व्यवसाय भी व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति निर्धारित करता है। आई ए एस, डॉक्टर, इंजीनियर आदि का पद चपरासी, मिल मजदूर, कृषक एवं जूते ठीक करने वाले से ऊँचा माना जाता है।

3. **शिक्षा** (Education) – अशिक्षित की तुलना में शिक्षित का तथा कम पढ़े–लिखे व्यक्ति की तुलना में बी. ए., एम. ए. तथा अन्य डिप्लोमा और प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्ति की प्रस्थिति ऊँची होती है।

4. **राजनीतिक सत्ता** (Political authority)– राजनीतिक सत्ता के आधार पर ही शासक एवं शासित में भेद किया जाता है। साधारण–जन की अपेक्षा सत्ता एवं राजनीतिक अधिकार प्राप्त व्यक्ति की प्रस्थिति ऊँची होती है। प्रजातंत्र में शासक दल से संबंधित लोगों एवं विरोधी दल के प्रमुख नेताओं की सामाजिक प्रस्थिति ऊँची होती है।

5. **विवाह** (Marriage)– विवाह भी व्यक्ति को कई प्रस्थितियाँ प्रदान करता है। विवाह करने पर ही पति–पत्नी, माता–पिता एवं अन्य प्रस्थितियाँ जैसे जीजा, जंवाई, बहू, भाभी आदि प्राप्त की जाती है। विधवा या विधुर होने, सजाति एवं अन्तर्जातीय विवाह करने, एक विवाह एवं बहु–विवाह करने आदि के आधार पर भी समाज में भिन्न भिन्न सामाजिक प्रस्थितियाँ प्रदान की जाती है।

6. **उपलब्धियाँ** (Achievements)– व्यक्ति द्वारा परिश्रम करके प्राप्त विभिन्न उपलब्धियां भी उसकी सामाजिक प्रस्थिति का निर्धारण करती है। ये उपलब्धियां धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, शैक्षणिक, आर्थिक एवं खेलकूद आदि के क्षेत्र में हो सकती है। इसीलिए अच्छे खिलाड़ी, वैज्ञानिक, आविष्कारकर्त्ता, श्रेष्ठ साहित्यकार, संगीतकार, कलाकार, कवि आदि की सामाजिक प्रस्थिति ऊँची होती है।

7. प्रदत्त प्रस्थिति निर्धारण के उपर्युक्त आधारों का काफी महत्व है। परंतु समाज विशेष में प्रदत्त प्रस्थिति–निर्धारण के क्या आधार होंगे, यह बहुत कुछ सीमा तक समाज की सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्था पर निर्भर करता है। किसी समाज में धन को किसी में आध्यात्मिक प्रगति को और किसी अन्य में वीरता को, साहसिक कार्यों को विशेष महत्व दिया जाता है। जहाँ जिस कारक पर ज्यादा जोर दिया जाता है, वहाँ वही कारक या आधार प्रदत्त प्रस्थिति के निर्धारण में प्रमुख भूमिका निभाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समाज में व्यक्ति की प्रस्थिति के निर्धारण में अनेक कारकों का हाथ है। प्रदत्त प्रस्थिति के निर्धारण के लिए उपयुक्त कारकों में से लिंग–भेद, आयु भेद, नातेदारी, जन्म, शारीरिक विशेषताएँ, जाति एवं प्रजाति उत्तरदायी है। अर्जित प्रस्थिति के निर्धारण में संपत्ति, व्यवसाय, शिक्षा, राजनीतिक सत्ता, विवाह एवं उपलब्धियों का विशेष महत्व है।

प्रदत्त एवं अर्जित प्रस्थितियों में अंतर (Difference between ascribed and achieved statuses)

दोनों प्रकार की प्रस्थितियों को स्पष्टतः समझने के लिए इनमें पाये जाने वाले अंतरों का हम यहाँ उल्लेख करेंगे–

1. प्रदत्त प्रस्थिति समाज स्वयं व्यक्ति को प्रदान करता है जबकि अर्जित प्रस्थिति व्यक्ति अपनी योग्यता, कुशलता प्रयत्न एवं प्रतिस्पर्द्धा के आधार पर प्राप्त करता है।
2. प्रदत्त प्रस्थिति का स्रोत समाज की प्रथाएँ, परंपराएं एवं संस्कृति आदि है जबकि अर्जित प्रस्थिति का स्रोत स्वयं व्यक्ति और उसके गुण हैं।
3. प्रदत्त प्रस्थिति का निर्धारण जन्म लिंग, आयु, जाति, प्रजाति, नातेदारी, परिवार आदि के आधार पर होता है जबकि अर्जित प्रस्थिति का निर्धारण शिक्षा, आय, संपत्ति, व्यवसाय, व्यक्तिगत योग्यता, कुशलता, राजनीतिक अधिकार, कलात्मक गुण, आविष्कार की क्षमता आदि के आधार पर होता है।
4. प्रदत्त प्रस्थिति के आधार अपेक्षाकृत स्थायी है, उनमें परिवर्तन नहीं या बहुत कम होते हैं। इसलिए उनके द्वारा प्राप्त प्रस्थितियाँ भी अपेक्षतया स्थायी होती हैं जबकि अर्जित प्रस्थितियों के आधारों के परिवर्तनशील होने से अर्जित प्रस्थितियाँ भी बदलती रहती हैं।
5. प्रदत्त प्रस्थितियाँ अनिश्चित होती हैं तथा उनका अधिकार–क्षेत्र अधिक स्पष्ट नहीं होता। उदाहरणार्थ, पिता के अधिकारों की सीमा निर्धारित नहीं है, त्वचा की सुंदरता

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

को अंशों में मापा नहीं जा सकता, नातेदारों से प्राप्त अधिकार एकदम स्पष्ट नहीं है जबकि अर्जित पद अधिक निश्चित एवं स्पष्ट होते हैं। एक जज, प्राचार्य और राष्ट्रपति के क्या अधिकार हैं, यह कानून और संविधान द्वारा स्पष्ट है।

6. प्रदत्त प्रस्थितियों का आदिम, परंपरागत समाजों में अधिक महत्व पाया जाता है क्योंकि यहाँ प्रथाओं एवं परंपराओं का अधिक प्रभाव होता है। इसके विपरीत, अर्जित प्रस्थितियों का आधुनिक समाजों में अधिक महत्व है क्योंकि वहाँ व्यक्ति का मूल्यांकन उसके गुणों द्वारा होता है।
7. फिचर का मत है कि प्रदत्त प्रस्थिति और उससे संबंधित भूमिका में सामंजस्य होना आवश्यक नहीं है जबकि अर्जित प्रस्थितियों में अधिकांशतः दोनों में सामंजस्य पाया जाता है। उदाहरणार्थ, यह संभव है कि एक व्यक्ति पिता होने पर भी अपने बच्चों के लालन–पालन पर समुचित ध्यान न दे किंतु ऐसा नहीं होता है कि प्रशिक्षण प्राप्त डॉक्टर चिकित्सा कार्य का, एक इंजीनियर सड़क या पुल निर्माण का कार्य न कर सके।

प्रदत्त और अर्जित प्रस्थितियों में संबंध (Relation between ascribed and achieved statuses)

सैद्धांतिक रूप से प्रदत्त और अर्जित प्रस्थितियां एक दूसरे की विरोधी प्रतीत होती है किंतु कार्यात्मक रूप में ये दोनों परस्पर पूरक है। यही कारण है कि प्रत्येक समाज में दोनों ही प्रकार की प्रस्थितियां पायी जाती हैं। प्रदत्त प्रस्थितियों का जीवन में पहला स्थान है क्योंकि (1) इनके द्वारा ही सांस्कृतिक विरासत एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होती है। (2) ये ही व्यक्ति के सामान्य लक्ष्य को तय करती है जिनके आधार पर व्यक्ति को प्रशिक्षण दिया जाता है। (3) इनके द्वारा ही उन व्यक्तियों का निर्धारण होता है जो किसी पद पर कार्य करेंगे। (4) प्रदत्त प्रस्थिति के आधार पर ही एक व्यक्ति का लिंग, आयु–संबंध, वर्ग, धर्म, क्षेत्र, समुदाय तथा उसके माता–पिता का समुदाय जान लेने के बाद हम यह भली प्रकार जान सकते हैं कि उसका समाजीकरण और जीवन किस प्रकार का होगा। (5) प्रदत्त पद व्यक्ति को सुरक्षा की भावना प्रदान करते हैं जो अर्जित पद कभी प्रदान नहीं कर पाते। अर्जित प्रस्थितियां प्रतिस्पर्द्धा को जन्म देती है लेकिन जीवन के सभी पक्ष प्रतिस्पर्द्धा का विषय नहीं बनाये जा सकते। मजदूर, व्यवसायी एवं पदाधिकारी सभी इस बात का प्रयत्न करते हैं कि उनके वर्ग में कम से कम प्रतियोगिता हो। स्वयं समाज भी कई अवसरों को टालने का प्रयास करता है। किंतु समाज में अर्जित पदों का महत्व भी कम नहीं है। अर्जित पदों के कारण ही (1) उचित व्यक्ति उचित पद पर पहुँच पाता है। (2) व्यक्ति को कार्य करने की प्रेरणा मिलती है। (3) अर्जित प्रस्थितियां प्रतिस्पर्द्धा को जन्म देती है जिसके कारण अकर्मण्यता और एकाधिकार की प्रवृत्ति पर रोक लगती है। (4) प्रदत्त प्रस्थिति–प्रधान समाज में व्यक्तित्व के विकास के अवसर कम होते हैं जबकि अर्जित प्रस्थिति–प्रधान समाज में व्यक्तित्व के विकास के अनेक अवसर उपलब्ध होते हैं। व्यक्ति कठोर परिश्रम द्वारा अपनी योग्यता के अनुरूप पद प्राप्त कर सकता है। इससे समाज में संगठन एवं व्यवस्था बनी रहती है, व्यक्ति अपने कर्तव्य एवं दायित्वों के प्रति जागरूक रहता है। समाज व्यवस्था को जीवंत बनाये रखने में अर्जित प्रस्थितियों का विशेष योगदान है।

स्पष्ट है कि समाज में प्रदत्त और अर्जित प्रस्थितियों का समान महत्व है और प्रदत्त प्रस्थिति के लिए कुछ अर्जित एवं अर्जित प्रस्थिति के लिए कुछ प्रदत्त गुणों का होना आवश्यक है। उदाहरण के लिए, कोई राजा वंशानुगत अधिकार से जनता पर शासन करता है किंतु उसे राजा की तरह व्यवहार करना आना चाहिए। इसी प्रकार से अर्जित प्रस्थितियों को प्राप्त करने के लिए भी कुछ प्रदत्त गुणों का होना आवश्यक है। उदाहरण के लिए, अमरीका के राष्ट्रपति का पद अर्जित है और कोई भी व्यक्ति चुनाव जीत कर राष्ट्रपति बन सकता है। फिर भी संविधान ने कुछ प्रतिबंधों की व्यवस्था की है, जैसे अमरीका के राष्ट्रपति पद का उम्मीदवार अमरीका का नागरिक होना चाहिए और उसकी आयु 35 वर्ष से कम नहीं होनी चाहिए। इसी प्रकार से कुछ प्रथागत सीमाएं भी हैं। लगभग सभी समाजों में अर्जित पदों के लिए कुछ सीमाएं होती हैं । इस प्रकार समाज में प्रत्येक पद अंशतः प्रदत्त और अंशतः अर्जित होता है।

ऑगबर्न और निमकॉफ का मत है कि, 'समाज व्यक्ति की अपेक्षा उसकी प्रस्थिति में अधिक रुचि रखता है।' किसी भी व्यक्ति का महत्व समाज में उसकी प्रस्थिति के आधार पर ही आँका जाता है। किसी महत्वपूर्ण पद पर रहने के कारण ही समाज व्यक्ति में रुचि रखता है और ज्यों ही वह उस पद से अलग हो जाता है, उसकी स्थिति परिवर्तित हो जाती है। एक व्यक्ति अपनी प्रस्थिति के अनुसार ही अपनी भूमिका निभाता है, उसी के अनुरूप उसे अधिकार एवं शक्ति प्राप्त होती है। प्रस्थिति ही व्यक्ति की क्षमता एवं योग्यता की परिचायक है। प्रस्थिति ही व्यक्ति की सामाजिक संरचना में स्थिति को प्रकट करती है। विभिन्न प्रस्थितियों के योग से ही सामाजिक संरचना का निर्माण होता है। व्यक्ति का मूल्यांकन उसकी प्रस्थिति के आधार पर ही होता है।

भूमिका (Role)

भूमिका प्रस्थिति का गतिशील या व्यावहारिक पहलू है। प्रस्थितियाँ धारण की जाती है जबकि भूमिकाओं का निर्वाह किया जाता है। एक व्यक्ति जिस प्रकार से एक प्रस्थिति से संबंधित दायित्वों का निर्वाह और उससे संबंधित सुविधाओं एवं विशेषाधिकारों का उपयोग करता है, उसे ही भूमिका कहते हैं। एक प्रस्थिति धारण करने के कारण व्यक्ति जो कार्य करता है, वह उस पद की भूमिका है। उदाहरण के लिए, राष्ट्रपति का पद एक प्रस्थिति है, इस प्रस्थिति से संबंधित कुछ दायित्व तथा कर्तव्य हैं, ये ही राष्ट्रपति की भूमिका के अंतर्गत आयेंगे। राष्ट्रपति की

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

भूमिका निभाने वाले को कुछ सुविधाएँ एवं विशेषाधिकार भी प्राप्त होते हैं।

भूमिका का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and definition of role)

फेयरचाइल्ड के अनुसार, ''भूमिका किसी भी व्यक्ति का समूह में वह अपेक्षित कार्य या व्यवहार है जो समूह या संस्कृति के द्वारा परिभाषित किया गया है।

डेविस कहते हैं, ''भूमिका वह ढंग है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी स्थिति संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

इलियट व मेरिल के अनुसार, ''भूमिका वह कार्य है जिसे वह (व्यक्ति) प्रत्येक प्रस्थिति के अनुरूप निभाता है।

लिंटन के अनुसार, ''भूमिका शब्द का प्रयोग किसी विशेष प्रस्थिति से संबंधित सांस्कृतिक प्रतिमान की समग्रता के लिए किया जाता है। इस प्रकार भूमिका के अंतर्गत उन सभी अभिवृत्तियों, सामाजिक मूल्यों और व्यवहारों को सम्मिलित करते हैं जो किसी विशेष प्रस्थिति से संबंधित व्यक्ति या व्यक्तियों को समाज द्वारा प्रदान किये जाते हैं।'

हार्टन एवं हंट लिखते हैं, ''एक विशिष्ट सामाजिक पद धारण करने के फलस्वरूप व्यक्ति जिस प्रकार का व्यवहार करता है, उसे भूमिका कहते हैं।''

ब्रूम तथा सेल्जनिक के अनुसार ''एक विशिष्ट सामाजिक पद से संबंधित व्यवहार के प्रतिमान को भूमिका के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।

ऑगबर्न एवं निमकॉफ के अनुसार, ''भूमिका एक समूह में एक विशिष्ट पद से संबंधित सामाजिक प्रत्याशाओं एवं व्यवहार प्रतिमानों का एक योग है जिसमें कर्तव्यों एवं सुविधाओं दोनों का समावेश होता है।

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि एक प्रस्थिति धारण करने के कारण समाज जिस प्रकार के कार्यों की व्यक्ति से अपेक्षा करता है, वही भूमिका कहलाती है। भूमिका प्रस्थिति का व्यवहारात्मक एवं गत्यात्मक पहलू है। एक व्यक्ति अपनी प्रस्थिति से संबंधित भूमिका का निर्वाह कैसे करेगा, यह कई बातों पर निर्भर करता है, जैसे वह अपने कर्तव्यों के प्रति कितना जागरूक है, अपने दायित्व निर्वाह के लिए कितना कठिन परिश्रम करता है, उसमें कर्तव्य निष्ठा कितनी है, वह समाज के आदर्श नियमों के प्रति कितना सजग है और एक साथ कितनी भूमिकाएँ निभा रहा है, आदि। अधिक क्षमता एवं अनुभव रखने वाला व्यक्ति अपनी भूमिका का निर्वाह अच्छी प्रकार से करता है। आनुवांशिकता भी व्यक्ति की भूमिका निर्वाह की क्षमता को प्रभावित करती है। कोई भी व्यक्ति किसी पद पर कब तक बना रहेगा, यह इस बात पर निर्भर करता है कि वह अपनी भूमिका का पालन कितनी कार्य कुशलता से करता है।

समाज में कोई भी भूमिका अकेली या एकपक्षीय नहीं होती है। प्रत्येक भूमिका का महत्व अन्य प्रस्थितियों एवं भूमिकाओं के संदर्भ में ही होता है। उदाहरणार्थ,एक अध्यापक अपनी भूमिका छात्रों के संदर्भ में, एक डाक्टर अपनी भूमिका रोगियों के संदर्भ में और एक राजा अपनी भूमिका प्रजा के संदर्भ में ही निभाता है। एक व्यक्ति अपने जीवन काल में अनेक प्रस्थितियाँ धारण करता है, उसके अनुसार ही वह अलग–अलग प्रकार की भूमिकाएँ भी निभाता है। एक प्रस्थिति विशेष को धारण करने पर व्यक्ति किसी प्रकार की भूमिका निभायेगा, यह उस समाज की संस्कृति एवं सामाजिक मूल्यों द्वारा तय होता है। समाज एवं संस्कृति ही किसी भूमिका से संबंधित दायित्वों एवं अधिकारों को तय करते हैं। एक व्यक्ति एक समय में अनेक सामाजिक स्थितियों में होने पर अलग अलग प्रकार के कार्य करता है। सभी स्थितियों में एक–सी भूमिका निभाने वाले व्यक्ति जीवन में असफल होते देखे गये हैं। प्रत्येक प्रस्थिति से संबंधित एक विशिष्ट भूमिका होती है। यदि उसका निर्वाह उचित रूप से नहीं होता है तो समाज में असंतुलन एवं विघटन पैदा होता है। अतः प्रस्थिति और भूमिका निर्वाह के बीच संतुलन एवं सामंजस्य होना आवश्यक है।

भूमिका की विशेषताएँ (Characteristics of role)

भूमिका को और अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए हम उसकी विशेषताओं का यहाँ उल्लेख करेंगे :

1. भूमिका का संबंध उन व्यवहारों की संपूर्णता से है जिनकी एक विशिष्ट प्रस्थिति धारण करने के कारण समूह अथवा समाज द्वारा अपेक्षा की जाती है।
2. भूमिका का निर्धारण संस्कृति एवं सामाजिक मानदंडों के आधार पर होता है।
3. समाज में कोई भी भूमिका अकेली या एकपक्षीय नहीं होती है वरन् वह सदैव दूसरी प्रस्थितियों या भूमिकाओं के संदर्भ में ही निभायी जाती है।
4. भूमिका का संबंध प्रस्थिति के साथ जुड़ा होता है। चूंकि प्रस्थितियाँ 'प्रदत्त' और 'अर्जित' दो प्रकार की हैं, अतः भूमिकाएँ भी प्रदत्त और अर्जित होती हैं।
5. भूमिका गतिशील और परिवर्तनशील है। एक ही भूमिका विभिन्न लोगों द्वारा भिन्न भिन्न प्रकार से निभायी जाती है और विभिन्न समयों एवं संस्कृतियों में अलग–अलग प्रकार से निभायी जाती है।
6. प्रत्येक व्यक्ति अपनी भूमिका का निर्वाह स्वयं की योग्यता, क्षमता, रुचि, मनोवृत्ति आदि के आधार पर ही करता है।
7. व्यक्ति समाज में अनेक भूमिकाएँ निभाता है किंतु जिस भूमिका के कारण वह समाज में जाना जाता है, वह उसकी 'मुख्य भूमिका' कहलाती है। अन्य छोटी मोटी भूमिकाओं को 'सामान्य भूमिकाएँ' कहते हैं।
8. अलग–अलग भूमिकाओं का निर्वाह करने के लिए भिन्न भिन्न प्रकार का व्यवहार किया जाता है। सभी भूमिकाओं का निर्वाह एक ही प्रकार के व्यवहार द्वारा नहीं किया जाता।
9. प्रत्येक भूमिका के साथ कुछ न कुछ अधिकार एवं सुविधाएँ जुड़ी होती है।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

भूमिका से संबंधित कुछ अवधारणाएँ
(Few concepts related to role)

1. भूमिका पालन (Role playing) – जब एक व्यक्ति समाज द्वारा निर्धारित प्रतिमानों के अनुरूप अपनी भूमिका निभाता है तो उसे 'भूमिका पालन' करना कहा जाता है। समाज में पंडित, पादरी, पिता, पुत्र, अध्यापक आदि सभी को हम अपनी अपनी भूमिका का पालन करते दिखते हैं।

2. भूमिका ग्रहण (Role taking)– इस प्रक्रिया के दौरान व्यक्ति विशिष्ट भूमिकाओं को निभाना सीखता है। उदाहरण के लिए, सेना में भर्ती होने पर एक व्यक्ति सैनिक की भूमिका निभाना सीखता है।

3. अभिनय की भूमिका (Playing at role)– इस प्रक्रिया में व्यक्ति किसी अन्य पात्र की भूमिका का अभिनय करता है। उदाहरण के लिए, कोई व्यक्ति रामलीला या कृष्णलीला में राम, रावण, कृष्ण अथवा कंस की भूमिका का अभिनय करता है तो उसे अभिनय की भूमिका कहते हैं।

4. भूमिका वंचन (Role dispossession)– जब एक व्यक्ति एक प्रस्थिति को छोड़कर दूसरी प्रस्थिति धारण करता है तो उसे अपनी पहले की प्रस्थिति से संबंधित भूमिका त्यागनी पड़ती है। इसे ही भूमिका वंचन कहते हैं। एक भूमिका को त्याग कर दूसरी भूमिका ग्रहण करने के बीच की स्थिति को भूमिका संक्रमण कहते हैं।

5. असफल भूमिका (Role failure) – जब एक व्यक्ति अपनी प्रस्थिति के अनुरूप भूमिका निभाने में असफल रहता है तो उसे 'असफल भूमिका' कहा जाता है। स्थिर एवं संगठित समाजों में जहां प्रदत्त भूमिकाएँ अधिक होती है, भूमिकाओं का निर्वाह सफलतापूर्वक किया जाता है किंतु परिवर्तनशील एवं असंगठित समाजों में जहां अर्जित भूमिकाएँ अधिक होती है, भूमिका निर्वाह में असफलता, भी अधिक पायी जाती है। प्रत्येक प्रकार की भूमिका के सफल निर्वाह के लिए विशेष प्रकार के गुणों की आवश्यकता है।

6. भूमिका प्रत्याशा (Role expectation)– एक पद या प्रस्थिति धारण करने के फलस्वरूप समाज व्यक्ति से जिस प्रकार की भूमिका की अपेक्षा करता है, उसे भूमिका–प्रत्याशा कहते हैं। कई बार भूमिका–प्रत्याशा और व्यक्ति द्वारा निभायी जाने वाली वास्तविक भूमिका में अंतर होने पर समाज में अव्यवस्था पैदा हो जाती है।

7. भूमिका संघर्ष (Role conflict)– कई बार व्यक्ति को दो भिन्न परिस्थितियों की भूमिका एक साथ निभानी होती है और यदि उनमें विरोधाभास है तो उसे हम भूमिका–संघर्ष कहते हैं। उदाहरण के लिए, जब एक न्यायाधीश के सम्मुख उसके पुत्र को ही अपराधी के रूप में लाया जाता है, तब वह इस उलझन में पड़ जाता है कि वह पिता के रूप में या न्यायाधीश के रूप में उसे दंड दे। इन दोनों भूमिकाओं को एक साथ निभाना कठिन है, यह प्रस्थिति भूमिका संघर्ष की स्थिति है। भूमिका–संघर्ष के लिए समाज में सांस्कृतिक मूल्य भी उत्तरदायी है। आधुनिक एवं परिवर्तनशील समाजों में भूमिका संघर्ष अधिक पाया जाता है क्योंकि यहाँ नवीन एवं पुराने मूल्य साथ–साथ चलते हैं। भूमिका–संघर्ष मानसिक तनाव पैदा करता है। लुण्डबर्ग कहते हैं कि भूमिका–संघर्ष की स्थिति में व्यक्ति प्रभावशाली भूमिका को चुन लेता है और कमजोर भूमिका को छोड़ देता है तथा जो व्यक्ति ऐसा नहीं कर पाते, उनके व्यक्तित्व का विघटन होने लगता है। भूमिका संघर्ष की स्थिति में व्यक्ति किसी भूमिका का चयन करेगा व किसे छोड़ेगा, इसको तय करने के लिए समाज द्वारा प्राथमिकताओं की एक सूची बनी हुई है, उसी के अनुसार वह कम महत्वपूर्ण कार्य की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण कार्य को करता है।

राबर्ट मर्टन ने भूमिका एवं प्रस्थिति से संबंधित तीन अवधारणाएँ– भूमिका प्रतिमान, प्रस्थिति प्रतिमान एवं प्रस्थिति श्रृंखला दी है। उनका हम यहां संक्षेप में उल्लेख करेंगे :

8. भूमिका प्रतिमान (Role set) – समाज में कोई भी भूमिका एकपक्षीय या पृथक् नहीं होती वरन् वह दूसरों के संदर्भ में ही होती है। एक व्यक्ति अपनी प्रस्थिति से संबंधित विभिन्न प्रस्थितियों को धारण करने वाले व्यक्तियों के साथ अलग अलग प्रकार की जो भूमिका निभाता है, उसकी संपूर्णता को ही भूमिका प्रतिमान कहते हैं। उदाहरण के लिए, एक डॉक्टर, डॉक्टर होने के नाते दूसरे डॉक्टरों से, नर्सों से, मरीजों से एवं चिकित्सा अधिकारी से भिन्न भिन्न प्रकार की भूमिका निभाता है, उसे ही भूमिका प्रतिमान कहते हैं। इसे हम एक अन्य उदाहरण द्वारा भी स्पष्ट कर सकते हैं। मान लीजिए एक मंत्री है, मंत्री होने के नाते मुख्य मंत्री, अन्य मंत्रियों, जनता एवं प्रशासनिक अधिकारियों से भिन्न भिन्न प्रकार से व्यवहार करता है और सभी के साथ उसकी भूमिका भी अलग अलग होती है, इसे ही भूमिका प्रतिमान कहते हैं।

9. प्रस्थिति प्रतिमान (status pattern)– एक व्यक्ति अपने जीवन काल में अनेक प्रस्थितियाँ धारण करता है और उनके अनुसार अलग–अलग भूमिकाएँ भी निभाता है। विभिन्न प्रस्थितियों की इस संपूर्णता को ही प्रस्थिति–प्रतिमान कहते हैं। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति पिता, पति, भाई, वकील, ग्राहक, भू–स्वामी आदि अनेक प्रस्थितियां एक साथ धारण करता है। ये सभी प्रस्थितियाँ मिलकर उस व्यक्ति का प्रस्थिति–प्रतिमान कहलायेंगी।

10. प्रस्थिति श्रृंखला (status sequence)– व्यक्ति एक ही समय में कई प्रस्थितियां धारण नहीं करता वरन् विभिन्न समयों में भी अलग अलग प्रस्थितियाँ धारण करता है। प्रस्थितियों के इस उत्तरोत्तर क्रम से एक श्रृंखला बन जाती है, उसे ही हम प्रस्थिति–श्रृंखला कहते हैं। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति आज छात्र है, कल वह किसी पंचायत का सरपंच बनता है, फिर विधायक, फिर संसद–सदस्य और राष्ट्रपति। प्रस्थितियों का यह क्रम ही प्रस्थिति श्रृंखला कहलाता है। हम एक डॉक्टर के भूमिका प्रतिमान,

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

एक अध्यापक के प्रस्थिति प्रतिमान और एक राष्ट्रपति की प्रस्थिति–श्रृंखला को चित्र द्वारा अग्र प्रकार से प्रकट कर सकते हैं :

चित्र 1. एक डॉक्टर का भूमिका प्रतिमान

चित्र 2. एक प्राध्यापक का प्रस्थिति प्रतिमान

चित्र 3. एक राष्ट्रपति की प्रस्थिति–श्रृंखला

प्रस्थिति व भूमिका का संबंध (Relation between status and Role)

प्रस्थिति एवं भूमिका में सदैव भेद किया जाता है। प्रस्थिति एक समाजशास्त्रीय अवधारणा है, यह एक सामाजिक–सांस्कृतिक तथ्य है जबकि भूमिका सामाजिक मनोविज्ञान का विषय एवं प्रघटना है। विभिन्न प्रकार की भूमिकाओं का निर्वाह विभिन्न व्यक्तियों द्वारा अलग अलग प्रकार से किया जाता है। इसका कारण है– व्यक्तियों के व्यक्तित्वों, क्षमता एवं व्यवहार में भिन्नता का होना। यही कारण है कि राष्ट्रपति या प्राचार्य के पद की भूमिका सभी लोग समान रूप से नहीं निभा पाते। प्रत्येक व्यक्ति की भूमिका दूसरे व्यक्ति से भिन्न होती है। इसका एक कारण यह भी है कि समूह एवं संगठन के विकास के साथ–साथ उनके पदाधिकारियों के कार्यों एवं दायित्वों में भी परिवर्तन आ जाता है। इसलिए कहा जाता है कि भूमिका प्रस्थिति का गतिशील पहलू है।

प्रस्थिति एवं भूमिका के संबंध सदैव स्थिर न होकर बदलते रहते हैं– नये विचारों, नये मूल्यों एवं मान्यताओं के साथ–साथ प्रस्थिति व भूमिकाओं के संबंध भी परिवर्तित होते रहते हैं। मजदूर एवं मालिक के संबंध जैसे मध्ययुग में थे वैसे आज के औद्योगिक युग में नहीं है। पति–पत्नी, माता–पिता और संतानों के संबंध, शासक और जनता के संबंध, गुरु और शिष्य के संबंध जैसे वैदिककाल में थे वैसे आज नहीं है। इनमें से कई प्रस्थितियों की प्रतिष्ठा एवं भूमिकाओं में अंतर आया है।

प्रस्थिति एवं भूमिका का इतना घनिष्ठ संबंध है कि दोनों को एक ही सिक्के के दो पहलू कहा जाता है। कुछ लोग कहते हैं, 'बिना प्रस्थिति के कोई भूमिका नहीं होती और बिना भूमिका के कोई प्रस्थिति नहीं होती। उदाहरण के लिए, यदि किसी संस्था में प्राचार्य की प्रस्थिति ही न हो तो कोई भी व्यक्ति बिना प्राचार्य की भूमिका निभाये प्राचार्य कैसे हो सकता है। किंतु बीरस्टीड इस मत से सहमत नहीं है। वे कहते हैं कि दोनों ही पृथक पृथक भी हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर द्वारा पद त्याग देने पर नये वाइस चांसलर की नियुक्ति तक प्रशासन द्वारा उसके कार्यों का बँटवारा कर दिया जाता है इस स्थिति में वाइस चांसलर की भूमिका निभाने वाले व्यक्ति को न तो हम वाइस चांसलर ही कह सकते हैं और न ही उसे वे सारी सुविधाएं ही प्राप्त होती है जो वास्तविक वाइस चांसलर को प्राप्त होती है।

इसी प्रकार से बिना एक प्रस्थिति को धारण किये भी एक व्यक्ति उस पद से संबंधित भूमिका निभा सकता है। उदाहरण के लिए, प्राचार्य के छुट्टी चले जाने पर अन्य प्राध्यापक उसकी भूमिका निभा सकता है। फिर भी वह प्राचार्य नहीं कहला सकता। इसलिए ही बीरस्टीड कहते हैं कि 'प्रस्थिति संस्थागत भूमिका है।' फिर भी प्रस्थिति और भूमिका एक दूसरे के पूरक और परस्पर संबंधित तथ्य है।

प्रस्थिति और भूमिका का समाजशास्त्रीय महत्व (Sociological importance of status and role)

प्रस्थिति और भूमिका का वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों ही दृष्टियों से निम्नांकित महत्व है–

1. प्रस्थिति व भूमिकाएँ मिलकर ही समाज व्यवस्था का

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

निर्माण करते हैं और सामाजिक संगठन को सुचारू रूप से चलाने के लिए इनमें पारस्परिक संतुलन एवं ताल–मेल होना आवश्यक है।

2. प्रस्थिति व भूमिकाएँ समाज में श्रम–विभाजन कर सामाजिक कार्यों को सरल बना देती है।
3. ये समाज में सामाजिक नियंत्रण बनाये रखने में योग देते हैं क्योंकि प्रत्येक प्रस्थिति एवं भूमिका से संबंधित सामाजिक प्रतिमान एवं नियम होते हैं और व्यक्ति से उनके अनुरूप आचरण करने की अपेक्षा की जाती है।
4. ये व्यक्ति का समाजीकरण करने में भी योग देते हैं क्योंकि व्यक्ति के जन्म के पूर्व ही ये समाज में विद्यमान होते हैं और व्यक्ति उनके अनुसार आचरण करना सीखता है।
5. प्रस्थिति एवं भूमिका व्यक्ति की क्रियाओं का मार्गदर्शन करते हैं और उसे बताते हैं कि किस प्रस्थिति में उसे किस प्रकार की भूमिका निभानी होगी।
6. इनके द्वारा हम किसी भी व्यक्ति के व्यवहार का पूर्वानुमान लगा सकते हैं। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति प्रधानमंत्री बनता है तो हम उसके कार्यों के बारे में पूर्वानुमान लगा सकते हैं और भविष्यवाणी कर सकते हैं क्योंकि संविधान एवं सामाजिक प्रथाओं द्वारा उसके कार्य निर्धारित कर दिये गये हैं।
7. भूमिकाओं के निर्वाह से समाज की प्रकार्यात्मक आवश्यकताएँ पूरी होती रहती है, इससे समाज में निरंतरता एवं स्थिरता बनी रहती है।
8. एक प्रस्थिति और उससे संबंधित भूमिका व्यक्ति में एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति को जन्म देते हैं। व्यापारी, अध्यापक, छात्र, सैनिक की मनोवृत्तियों के निर्धारण में उनकी प्रस्थिति एवं भूमिका का भी प्रभाव होता है।
9. प्रस्थितियां व्यक्ति में जागरूकता एवं उत्तरदायित्व की भावना पैदा करती है।
10. समाज में ऊँची एवं नीची प्रस्थितियाँ होती हैं। ये व्यक्ति को प्रयत्न करने के लिए प्रेरित करती है और प्रयत्नों के कारण ही उसकी प्रगति संभव हो पाती है।

वर्तमान समय में सामाजिक व्यवस्था में तेजी से परिवर्तन हो रहे हैं। इससे प्रस्थिति एवं भूमिका के पारस्परिक ताल–मेल में असंतुलन पैदा हो गया है। आज भूमिका–प्रत्याशा एवं भूमिका ग्रहण में काफी अंतर हो गया है। इसके कारण वैयक्तिक एवं सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न होने लगी है। उदाहरण के लिए, छात्र, अध्यापक, राजनेता, न्यायाधीश, प्रशासक आदि सभी अपनी भूमिकाओं को उसी प्रकार नहीं निभा रहे हैं जिस प्रकार की उनसे अपेक्षा की जाती है। इसलिए ही समाज में असंतोष, अपराध एवं विघटन की प्रवृतियाँ बलवती होती दिखायी दे रही हैं, तथा वैयक्तिक एवं पारिवारिक विघटन की मात्रा बढ़ती जा रही है। समाज व्यवस्था की सुचारू रूप से चलाने के लिए यह आवश्यक है कि वैयक्तिक स्तर पर एवं सामाजिक स्तर पर प्रस्थिति एवं भूमिका में संतुलन बना रहे और लोग बदलती हुई सामाजिक–सांस्कृतिक व्यवस्था के अनुरूप अपनी भूमिका निभाते रहें।

महत्त्वपूर्ण बिन्दु

- समाज एक अमूर्त अवधारणा है, व्यक्तियों के बीच पाये जाने वाले सामाजिक संबंधों के आधार पर निर्मित व्यवस्का को समाज कहा जाता है।
- समाज की अवधारणा एक व्यापक अवधारणा है, समाज के अंतर्गत अनेक समितियाँ, समूह, समुदाय, सम्मिलित होते हैं।
- समुदाय ऐसे व्यक्तियों का संकलन है जो एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करते हैं तथा जिनके सदस्यों के मध्य हम की भावना पायी जाती है।
- समुदाय एक मूर्त अवधारणा है, समुदाय का स्वतः विकास होता है तथा इसके लक्ष्य व्यापक होते हैं।
- समूह व्यक्तियों का ऐसा संकलन है जिसमें व्यक्तियों के मध्य निश्चित प्रकार के सामाजिक संबंध पाये जाते हैं तथा समूह का प्रत्येक सदस्य समूह और उसके प्रतीकों के प्रति सचेत होते हैं।
- प्राथमिक समूह वे समूह है जिनके सदस्यों के मध्य प्रत्यक्ष, आमने–सामने के वैयक्तिक एवं घनिष्ठ सामाजिक संबंध पाये जाते हैं।
- द्वितीयक समूह वे समूह हैं जिनके सदस्यों के मध्य अप्रत्यक्ष, अवैयक्तिक एवं औपचारिक संबंध पाये जाते हैं।
- समनर ने सदस्यता के आधार पर अन्तःसमूह एवं बाह्यसमूह का उल्लेख किया है।
- प्रस्थिति समूह में व्यक्ति के पद का प्रतिनिधित्व करती है।
- भूमिका प्रस्थिति से संबंधित व्यक्ति के कर्त्तव्य हैं।
- भूमिका प्रस्थिति का गत्यात्मक पक्ष है।
- सामाजिक प्रस्थिति दो प्रकार की होती है प्रदत्त प्रस्थिति एवं अर्जित प्रस्थिति।
- प्रदत्त प्रस्थिति ऐसी प्रस्थिति है जिसे एक व्यक्ति जन्म के आधार पर प्राप्त करता है।
- अर्जित प्रस्थिति ऐसी प्रस्थिति है जिसे एक व्यक्ति योग्यता के आधार पर प्राप्त करता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. 'समाज' नामक पुस्तक के लेखक कौन हैं?
   (अ) पारसंस (ब) मार्क्स
   (स) बॉटोमोर (द) मैकाइवर एवं पेज

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

2. सामाजिक संबंधों के जाल को हम क्या कहते हैं?
   (अ) समुदाय (ब) संस्था
   (स) समाज (द) समिति
3. व्यक्तियों के उस संगठन को क्या कहते हैं जो एक निश्चित भू–भाग पर रहता है।
   (अ) समूह (ब) समुदाय
   (स) समिति (द) संस्था
4. निम्नलिखित में से किसे एक समुदाय के रूप में स्वीकार किया जा सकता है–
   (अ) छात्र संघ (ब) जनजाति
   (स) परिवार (द) भीड़
5. किस समाजशास्त्री ने समूह का विभाजन प्राथमिक और द्वितीयक समूह में किया है–
   (अ) चार्ल्स कूले (ब) समनर
   (स) चार्ल्स विनिक (द) गिलिन एवं गिलिन
6. प्राथमिक समूह में संबंध किस प्रकार के होते हैं–
   (अ) औपचारिक (ब) अनौपचारिक
   (स) नकारात्मक (द) सकारात्मक
7. कूले के अनुसार कौन–सा प्राथमिक समूह का उदाहरण है–
   (अ) परिवार (ब) पड़ोस
   (स) क्रीड़ा समूह (द) उपर्युक्त सभी
8. ''प्रस्थिति संस्थात्मक भूमिका है।'' यह कथन किस विद्वान का है–
   (अ) सदरलैण्ड (ब) फिचर
   (स) बीरस्टीड (द) विलियम गुडे
9. ''भूमिका प्रस्थिति का गत्यात्मक पक्ष है।'' यह कथन किस विद्वान का है–
   (अ) मर्टन (ब) बीरस्टीड
   (स) जॉनसन (द) लिंटन
10. प्रदत्त प्रस्थितियों की बहुलता किस प्रकार के समाज की द्योतक है–
   (अ) द्वितीयक समाज (ब) मुक्त समाज
   (स) बंद समाज (द) वृहद् समाज
11. अर्जित प्रस्थिति किससे संबंधित होती है।
   (अ) योग्यता से (ब) जन्म से
   (स) शक्ति से (द) जाति से
12. वह प्रस्थिति कौन सी है जो किसी व्यक्ति को जन्म के आधार पर प्राप्त होती है और जिसे प्राप्त करने के लिए उसे मेहनत नहीं करनी पड़ती–
   (अ) प्रदत्त प्रस्थिति (ब) अर्जित प्रस्थिति
   (स) प्रदत्त भूमिका (द) अर्जित भूमिका
13. व्यक्तिगत गुणों व योग्यता के आधार पर प्राप्त प्रस्थिति को क्या कहते हैं–
   (अ) प्रदत्त प्रस्थिति (ब) अर्जित प्रस्थिति
   (स) चमत्कारिक प्रस्थिति (द) मनोवैज्ञानिक प्रस्थिति
14. निम्नांकित में से कौन–सी प्रदत्त प्रस्थिति नहीं है–
   (अ) प्रजाति (ब) जाति
   (स) वर्ग (द) लिंग
15. प्रस्थिति और भूमिका की अवधारणा किस विद्वान से संबंधित है–
   (अ) मैकाइवर एवं पेज (ब) किंग्स्ले डेविस
   (स) रॉल्फ लिंटन (द) विल्बर्ट मूर
16. मुख्य प्रस्थिति किसकी अवधारणा है–
   (अ) मर्टन (ब) दुर्खीम
   (स) लिंटन (द) हिलर

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न–

1. समाज किसे कहते हैं?
2. समुदाय की परिभाषा दीजिए।
3. समूह को परिभाषित कीजिए।
4. प्राथमिक समूह की अवधारणा किसने दी है?
5. द्वितीयक समूह का क्या तात्पर्य है?
6. संदर्भ समूह किसे कहते हैं?
7. प्रस्थिति को परिभाषित कीजिए।
8. प्रदत्त प्रस्थिति का क्या तात्पर्य है।
9. अर्जित प्रस्थिति किसे कहते हैं?
10. भूमिका को परिभाषित कीजिए।
11. प्रस्थिति संकुल का क्या तात्पर्य है।
12. भूमिका प्रतिमान का क्या तात्पर्य है?
13. सदस्यता समूह किसे कहते हैं।
14. आदिम समाज का क्या तात्पर्य है।
15. नकारात्मक समूह का अर्थ बताइये।

लघूत्तरात्मक प्रश्न–

1. समाज की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
2. मेकाइवर एवं पेज द्वारा स्पष्ट समाज की परिभाषा स्पष्ट कीजिए।
3. समुदाय के आवश्यक तत्वों का उल्लेख करें।
4. समाज एवं समुदाय में अंतर स्पष्ट कीजिए।
5. समूह की विशेषताओं का उल्लेख करें।
6. संदर्भ समूह की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
7. प्राथमिक समूह की विशेषताओं को स्पष्ट कीजिए।
8. प्रस्थिति एवं भूमिका का संबंध बताइये।
9. प्रदत्त प्रस्थिति के आधारों को स्पष्ट कीजिये।
10. अर्जित प्रस्थिति के आधारों को स्पष्ट कीजिये।

निबंधात्मक प्रश्न–

1. समाज को परिभाषित कीजिए। समाज की विभिन्न विशेषताओं की विस्तृत से व्याख्या कीजिए।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

2. समुदाय से आप क्या समझते हैं? समुदाय के विभिन्न लक्षणों का विस्तृत रूप से विवेचन करें।
3. समूह को परिभाषित कीजिए। समूह के विभिन्न प्रकारों का विवेचन करें।
4. समूह क्या है? प्राथमिक एवं द्वितीयक समूह में अंतर स्पष्ट कीजिए।
5. प्रस्थिति को परिभाषित कीजिए। प्रस्थिति के विभिन्न प्रकारों का विवेचन करें।

उत्तरमाला—1. (द) 2. (स) 3. (ब) 4. (ब) 5. (अ) 6. (ब) 7. (द) 8. (स) 9. (द) 10. (स) 11. (अ) 12. (अ) 13. (ब) 14. (स) 15. (स) 16. (द)

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

3. मूलभूत अवधारणाएँ–II
संस्था, समिति, संगठन, मूल्य एवं मानदंड

संस्था
(Institution)

सामान्य अर्थों में समिति एवं संस्था को एक ही माना जाता है लेकिन समाजशास्त्रीय दृष्टि से उन दोनों अवधारणाओं में आधारभूत अंतर है। मानव की असीमित आवश्यकताएँ होती हैं जिसकी पूर्ति मनुष्य स्वयं नहीं कर सकता है ऐसी स्थिति में अनेक व्यक्ति मिल जुलकर अपनी आवश्यकताओं एवं उद्देश्यों की पूर्ति हेतु एक संगठन बना लेते हैं। व्यक्तियों के इसी संगठन को समिति कहा जाता है। इन आवश्यकताओं एवं उद्देश्यों की पूर्ति निरंतर एवं विधिवत रूप से करने के लिए निश्चित प्रकार के नियम एवं विधियों व कार्यप्रणालियों का निर्माण कर उपयोग किया जाता है इन्हीं नियमों एवं कार्यप्रणालियों को संस्था कहा जाता है। उदाहरण के रूप में परिवार एक समिति है जिसका मुख्य लक्ष्य संतानोत्पत्ति, बच्चों का पालन पोषण और सदस्यों की विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करना है। इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए विवाह नामक संस्था पायी जाती है। प्रत्येक परिवार का एक संस्थात्मक रूप पाया जाता है। सदस्यों के संबंधों को नियमित करने, प्रस्थिति के अनुरूप कार्यों का निर्धारण करने तथा विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति एक–दूसरे के साथ सहयोग करने संबंधी निश्चित नियम तथा तरीके पाये जाते हैं। इन्हीं से मिलकर संस्था का निर्माण होता है।

मेकाइवर एवं पेज के अनुसार मंदिर, मस्जिद, चर्च तथा राज्य आदि का मूर्त स्वरूप समिति है जबकि इनमें से प्रत्येक से संबंधित नियमों, कार्यप्रणालियों की व्यवस्था संस्था है। इस प्रकार समिति एक मूर्त अवधारणा है क्योंकि समति का निर्माण व्यक्तियों से होता है और व्यक्ति दिखायी देते हैं वहीं संस्था अमूर्त अवधारणा है क्योंकि संस्था का निर्माण नियमों एवं कार्यप्रणालियों से होता है, जो कि दिखायी नहीं देते हैं इसी कारण से मेकाइवर एवं पेज ने कहा है कि ''हम समिति के सदस्य होते हैं न कि संस्था के''। हम किसी 'क्लब, संघ, राजनीतिक दल के सदस्य तो हो सकते हैं परंतु शिक्षा प्रणाली अथवा विवाह संस्था के नहीं।

संस्था का अर्थ– (Meaning of Institution)

संस्था वे उपकरण, नियम या कार्यप्रणालियाँ हैं जिनके द्वारा व्यक्ति, समितियाँ या संगठन अपने उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं ये नियम, कार्यप्रणालियाँ समाज द्वारा मान्यता प्राप्त होती है विवाह, उत्तराधिकार, परीक्षा प्रणाली, प्रजातंत्र इत्यादि संस्थाओं के प्रमुख उदाहरण हैं।

संस्था की परिभाषाएँ (Meaning of Institution)

आगबर्न तथा निमकाफ (Ogburn and Nimkaff) के अनुसार– कुछ आधारभूत मानवीय आवश्यकताओं की संतुष्टि हेतु संगठित एवं स्थापित प्रणालियों को सामाजिक संस्थाएँ कहते हैं।''

मेकाइवर एवं पेज (Maciver and Page) के अनुसार– संस्थाएं सामूहिक क्रिया की विशेषता बताने वाली कार्यप्रणाली के स्थापित स्वरूप या अवस्था को कहते हैं।''

बोगार्डस (Bogaurds) के अनुसार– एक सामाजिक संस्था समाज की ऐसी संरचना है जिसे मुख्यतः सुस्थापित प्रणालियों के द्वारा लोगों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए संगठित किया गया है।

किंग्सले डेविस (Kingsley Davis) के अनुसार–''एक संस्था को किसी एक या अधिक प्रकार्यों के चारों ओर निर्मित अन्तर्सम्बंधित जनरीतियों (लोकाचारों), रूढ़ियों और कानूनों के समुच्चय के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि संस्थाएँ मनुष्य की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति के रूप में समाज द्वारा स्वीकृत नियमों एवं कार्यप्रणालियों की संगठित व्यवस्था है।

संस्था की विशेषताएं (Characteristics of institution)

1. **सुपरिभाषित उद्देश्य** (Well defined objectives)– प्रत्येक सामाजिक संस्था के निश्चित एवं सुस्पष्ट उद्देश्य होते हैं जिनकी पूर्ति के लिए संस्था का निर्माण किया जाता है।
2. **स्थायित्व** (Permanency)–संस्थाओं का विकास एक दीर्घ अवधि के बाद होता है। जब कोई कार्यविधि दीर्घ समय तक समाज के व्यक्तियों की आवश्यकताओं को निरंतर रूप से पूरा करती रहती है तो उसे एक संस्था के रूप में स्वीकार किया जाता है।
3. **सुस्पष्ट उद्देश्य** (Well defined)–प्रत्येक संस्था के अपने एक या अनेक सुस्पष्ट निश्चित उद्देश्य होते हैं जो मानवीय आवश्यकताओं से संबंधित होते हैं। उदाहरण के रूप में जिस प्रकार शैक्षणिक संस्थाओं के कुछ सुस्पष्ट उद्देश्य होते हैं।
4. **सांस्कृतिक उपकरण** (Cultural equipments)– प्रत्येक संस्था से संबंधित भौतिक एवं अभौतिक उपकरण होते हैं जो संस्था के उद्देश्यों की दृष्टि से उपयोगी है। उदाहरण के रूप में हिन्दू समाज में विवाह के दौरान होम–वेदी, मंडप, कलश, धूप, नैवेद्य इत्यादि भौतिक उपकरण हैं एवं जप, मंत्र, इत्यादि विवाह संस्था से संबंधित अभौतिक तत्व है।
5. **प्रतीक** (Symbols)–प्रत्येक संस्था का अपना एक प्रतीक होता है जिसका भौतिक या अभौतिक स्वरूप हो सकता है जिस प्रकार मंगल कलश विवाह का प्रतीक

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

माना जाता है। इन्हीं प्रतीकों के माध्यम से संस्थाओं की पहचान होती है।

6. **परम्परा** (Tradition)—प्रत्येक संस्था की अपनी परम्पराएँ होती हैं जो कि लिखित या अलिखित होती है। ये परंपराएँ लोगों के व्यवहारों में अनुरूपता लाने में अपना योगदान देती है।

संस्थाओं के प्रकार– प्रत्येक समिति के एक या अनेक उद्देश्य होते हैं। इन उद्देश्यों की प्राप्ति सुचारू रूप से होती रहे इसके लिए प्रत्येक समिति के निश्चित नियम एवं कार्यप्रणालियाँ होती हैं जिनके माध्यम से उद्देश्यों की प्राप्ति होती है। मेकाइवर एवं पेज के अनुसार प्रत्येक समिति का एक संस्थात्मक पक्ष होता है 'जिसके अभाव में समिति अपने लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकती है विभिन्न विद्वानों ने तालिका के माध्यम से समिति, संस्थाओं एवं उनके विशेष हितों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है जो कि इस प्रकार है–

समिति (Association)	विशिष्ट संस्थाएँ (Characteristic Institutions)	विशेष हित (Special Interests)
परिवार	विवाह, घर, उत्तराधिकार,	घर, वंशावली, सुरक्षा
महाविद्यालय	व्याख्यान, परीक्षा–प्रणाली, स्नातकत्व	शिक्षण व्यावसायिक तैयारी
व्यापार	हिसाब–किताब की प्रणाली, संस्थापन, अंश–पूंजी	लाभ
व्यापारिक–संघ (मजदूर संघ)	सामूहिक सौदेबाजी, हड़ताल, धरना	नौकरी की सुरक्षा, मजदूरी–दरें, कार्य की दशाएं
चर्च (गिरजाघर) (धार्मिक समिति)	संप्रदाय, धर्म, भ्रातृत्व उपासना के तरीके	धार्मिक विकास
राजनीतिक दल	प्राथमिक इकाइयां, दल–यंत्र, राजनीतिक मंच	कार्यालय, शक्ति सरकारी नीति
राज्य	विधान, वैधानिक संहिता, सरकार के स्वरूप	सामाजिक व्यवस्था का सामान्य नियमन

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि जहाँ विभिन्न प्रकार की समितियाँ पायी जाती हैं, वहाँ साथ ही विभिन्न प्रकार की संस्थाएँ भी। विभिन्न संस्थाओं को प्रमुखतः निम्नलिखित श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है–

1. सामाजिक संस्थाएँ (Social Institutions)
2. आर्थिक संस्थाएँ (Economic Institutions)
3. राजनीतिक संस्थाएँ (Political Institutions)
4. धार्मिक संस्थाएँ (Religious Institutions)
5. शैक्षणिक संस्थाएँ (Educational Institutions)
6. मनोरंजनात्मक संस्थाएँ (Recreational Institutions)

ये संस्थाएँ मनुष्य के विभिन्न हितों या उद्देश्यों की पूर्ति के माध्यम के रूप में कार्य करती है। इनमें से प्रत्येक प्रकार की संस्था के अंतर्गत नियम, विधि–विधान और कार्य–प्रणाली की व्यवस्था आती है।

संस्था का उद्विकास (Evolution of Institutions)

अमरीकन समाजशास्त्री समनर ने संस्था के उद्विकास को प्रकट किया है। वे लिखते हैं, संस्थाएँ जनरीतियों से प्रारंभ होती है। ये प्रथाएँ बन जाती है। जब प्रथाओं में कल्याण का दर्शन जुड़ जाता है तो वे लोकाचारों के रूप में विकसित होती है। इसके पश्चात् व्यवहार में लाये जाने वाले नियमों, निर्धारित कार्यों एवं उपकरणों द्वारा लोकाचार और भी निश्चित और विशिष्ट बन जाते हैं। इससे एक ढांचा निर्मित होता है और इस प्रकार एक संस्था पूर्ण हो जाती है।'' इस प्रकार स्पष्ट है कि किसी भी संस्था का प्रारंभ मानव की आवश्यकता को पूरा करने के विचार से होता है और जब वह विचार कार्यरूप में परिणित होता है तो उसे हम क्रिया कहते हैं। किसी भी क्रिया को बार–बार दुहराने पर वह व्यक्ति की आदत बन जाती है। यही आदत जब सारे समूह की आदत बन जाती है तब उसे जनरीति या लोकरीति कहते हैं। जब जनरीति में भूतकाल का सफल अनुभव जुड़ जाता है और समाज उसको मान्यता प्रदान कर देता है तो वह प्रथा का रूप धारण कर लेती है। जब इस प्रथा में सामूहिक स्वीकृति और सामूहिक कल्याण की भावना जुड़ जाती है तब उसे रूढ़ि या लोकाचार कहते हैं और लोकाचारों के चारों ओर जब एक ढांचा या कार्य प्रणाली विकसित हो जाती है तो वह एक संस्था का रूप धारण कर लेती है। संस्था के उद्विकास को हम इस प्रकार से व्यक्त कर सकते हैं।

1.	आवश्यकता पूर्ति से संबंधित एक उपाय	विचार या अवधारणा (Idea or Concept) ↓
2.	विचार+क्रिया की पुनरावृत्ति = व्यक्तिगत आदत	आदत (Habit) ↓
3.	आदत + सामूहिक पुनरावृत्ति = जनरीति	जनरीति (Folkways) ↓
4.	जन रीति + सामूहिक अनुभव + मान्यता = प्रथा	प्रथा (Custom) ↓
5.	प्रथा + समूह की स्वीकृति + जनकल्याणकारी भावना + बाध्यता = लोकाचार	लोकाचार या रूढ़ि (Mores) ↓
6.	लोकाचार + निश्चित नियम या कार्यप्रणाली + एक निश्चित ढांचा = संस्था	संस्था (Institution)

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

(1) विचार या अवधारणा (Idea or Concept)

मनुष्य की अनेक प्रकार की आवश्यकताएँ हैं जिनकी पूर्ति के लिए वह कुछ–न–कुछ विचार और साधनों को ढूंढने का प्रयत्न करता ही रहता है। इस प्रकार आवश्यकता पूर्ति मानव को साधन ढूंढने हेतु विचार करने को प्रेरित करती है।

(2) वैयक्तिक आदत (Individual Habit)

आवश्यकता पूर्ति से संबंधित विचारों को जब व्यक्ति कार्यरूप में परिणित करता है तो उसे क्रिया कहते हैं। जब व्यक्ति किसी भी क्रिया या कार्य को बार–बार दुहराता है अथवा प्रयोग में लाता है तो उससे आदत का निर्माण होता है। इस प्रकार जब तक आवश्यकता की पूर्ति के लिए वह किसी कार्य द्वारा सफलता प्राप्त करता है और भविष्य में भी वैसी ही आवश्यकता महसूस होने पर उसी कार्य को दुहराता है तो वह व्यक्ति की आदत बन जाती है। इस प्रकार आदत का निर्माण विचार और क्रिया को दुहराने से होता है।

(3) समूह की आदत या जनरीति (Group Habit or Folkways)

जब लोग किसी एक तरीके द्वारा व्यक्ति को अपनी आवश्यकता पूर्ति में सफल होते हुए देखते हैं तो उस तरीके को समाज के अन्य लोग भी अपना लेते हैं। जब समाज के अनेक व्यक्ति उस तरीके की बार–बार पुनरावृत्ति करते हैं तो वह क्रिया समूह की आदत या जनरीति बन जाती है। इस प्रकार जनरीति समूह की आदत का ही दूसरा नाम है।

(4) प्रथा (Custom)

जब जनरीति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित किया जाता है और उसमें भूतकाल का सफल अनुभव जुड़ा होता है तथा जिसे समाज द्वारा मान्यता प्राप्त हो जाती है तो वह प्रथा का रूप धारण कर लेती है।

(5) रूढ़ि या लोकाचार (Mores)

जब प्रथा में सामूहिक कल्याण की भावना जुड़ी होती है और उसे सारे समूह की स्वीकृति मिल जाती है तथा समाज के अधिकांश लोग उसका पालन करने लगते हैं तो वह रूढ़ियाँ लोकाचार का रूप धारण कर लेती है।

(6) ढांचा (Structure)

चूंकि रूढ़ियों और लोकाचारों को समाज के लिए कल्याणकारी माना जाता है, इसलिए उनकी रक्षा हेतु उनके चारों ओर कई छोटे छोटे नियमों, उपनियमों, कानूनों, एवं कार्य–विधियों का एक ढांचा खड़ा कर दिया जाता है, फलस्वरूप संस्था का जन्म होता है।

(7) संस्था (Institution)

संस्था विचार, आदत, जनरीति, प्रथा एवं लोकाचारों से निर्मित एक व्यवस्थित संरचना है जिसका उद्देश्य मानव आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। संस्था नियमों की एक व्यवस्था अथवा कार्यप्रणाली होती है।

संस्था के कार्य व महत्व
(Functions and Importance of Institutions)

1. मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति एवं कार्य की दिशा (Institution fulfils Human Needs and directs his Functions)

प्रत्येक संस्था का विकास किसी न किसी मानवीय आवश्यकता को लेकर होता है। इसी कारण संस्थाओं को मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन के रूप में देखा जाता है। जब संस्थाएँ आवश्यकताओं को पूरा करने का कार्य बंद कर देती है तो उनका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। यही बात स्पष्ट करते हुए मेकाइवर एवं पेज ने लिखा है कि सामाजिक संस्थाएं मनुष्य को पराजित करने के अपने अधिकार पर जीवित नहीं है अपितु केवल उनकी सेवा करने के लिए है और जब वे सेवा करना बंद कर देती है तो कोई भी प्राचीनता और कोई भी पवित्रता उन्हें मरने से नहीं बचा सकती। शिक्षण–संस्था, विवाह संस्था एवं परिवार नामक संस्था मनुष्यों की कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति करती है।

2. व्यक्तियों के कार्य को सरल बनाती है (Simplify the work of individuals)

संस्था मानव व्यवहार के सभी आचरणों को एक सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करके यह स्पष्ट करती है कि व्यक्तियों को क्या कार्य करना है अथवा उनके कार्यों की दिशा क्या होनी चाहिए। इस प्रकार संस्था कार्य करने की एक निश्चित विधि या प्रणाली का निर्धारण कर देती है। व्यक्ति साधारणतः इसी प्रणाली के अनुरूप कार्य करते रहते हैं। ऐसी स्थिति में संस्थाएं व्यक्तियों का मार्ग दर्शन करती है, उनके कार्य को सफल बनाती है और उन्हें हर समय यह सोचने की आवश्यकता नहीं पड़ती कि उन्हें क्या करना और क्या नहीं करना है।

3. व्यवहारों में अनुरूपता (Conformity in Behaviour) –

संस्था से संबंधित एक निश्चित कार्य–प्रणाली, कुछ नियम एवं परंपराएँ होती हैं। व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इन्हीं का सहारा लेता है। जब एक समूह के लोग अपनी कुछ विशिष्ट संस्थाओं के नियमों एवं परंपराओं को ध्यान में रखते हुए व्यवहार करते हैं तो उनके व्यवहारों में अनुरूपता या समानता होना स्वाभाविक है। अन्य शब्दों में संस्थाएँ, व्यक्तियों के व्यवहारों में अनुरूपता उत्पन्न करने में योग देती है।

4. व्यवहारों पर नियंत्रण (Control over the Behaviuour)–

संस्थाएं सामाजिक नियंत्रण का प्रमुख साधन है। प्रत्येक संस्था व्यक्तियों के कार्य की दिशा अथवा व्यवहार का एक

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

तरीका निश्चित कर उन्हें उसी के अनुरूप कार्य करने का आदेश देती है। जो व्यक्ति किसी संस्था के अंतर्गत मान्य व्यवहार मानदंडों के विरूद्ध आचरण करता है, उसे दंडित भी किया जा सकता है। परिवार और जाति नामक संस्थाएँ हजारों वर्षों से समाज के सदस्यों के व्यवहारों को नियंत्रित कर रही है।

5. संस्कृति की वाहक (Vehicle of Culture)

संस्था संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित करने का महत्वपूर्ण कार्य करती है। संस्थाओं के माध्यम से ही संस्कृति की रक्षा होती है, उसे स्थायित्व प्राप्त होता है। परिवार संस्कृति के हस्तांतरण का एक प्रमुख साधन है। परिवार ही बच्चों का, समाज की परंपराओं, प्रथाओं, आचार–व्यवहार, खान–पान, धर्म आदि से परिचित कराता है और संस्कृति को स्थायित्व प्रदान करता है। समाज की धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, पारिवारिक एवं शैक्षणिक संस्थाएँ भी संस्कृति को हस्तांतरित करने का कार्य करती है।

6. स्थिति एवं कार्य का निर्धारण (Determination of Status and Role)–

संस्था व्यक्ति को स्थिति (पद) प्रदान करने और इससे संबंधित कार्य (भूमिका) का निर्धारण करती है। विवाह–संस्था के द्वारा एक पुरुष को पति की और स्त्री को पत्नी की प्रस्थिति प्राप्त होती है तथा साथ ही इनसे संबंधित कार्य भी निर्धारित होते हैं। एक महाविद्यालय में किसी को आचार्य की, किसी को व्यवस्थापक की, तो किसी को पुस्तकालयाध्यक्ष की स्थिति प्राप्त होती है और साथ ही इनसे संबंधित कार्य भी।

7. सामाजिक परिवर्तन में सहायक (Helpful in Social Change)–

संस्थाएँ प्रकृति से ही रूढ़िवादी होती है और इनसे शीघ्रता से कोई परिवर्तन नहीं आ पाता है लेकिन जब परिस्थितियाँ काफी कुछ बदल जाती हैं तो परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार संस्थाओं में बदलाव आना भी आवश्यक हो जाता है। ऐसी दशा में संस्थाएँ बदलती हैं। समय के साथ–साथ संस्थाओं को बदलने का प्रयत्न भी किया जाता है। जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक परिवर्तन संभव हो पाता है। कभी–कभी संस्थाएं प्रगति में बाधक सिद्ध होती है। जब सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ बहुत कुछ बदल जाती हैं तो सामाजिक संस्थाओं को बदलना भी आवश्यक हो जाता है। परंतु रूढ़िवादिता के कारण ये साधारणतः नहीं बदलती हैं।

उपर्युक्त विवरण से इतना स्पष्ट है कि सामाजिक संस्थाएं अनेक उपयोगी कार्य करती हैं। ये कार्य व्यक्ति, समाज और संस्कृति की दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है।

समिति और संस्था में अंतर

(Distinction between Association and Institution)

समिति	संस्था
1. समिति व्यक्तियों का एक संगठित समूह है।	1. संस्था नियमों, विधि–विधानों और कार्य प्रणालियों की एक व्यवस्था है।
2. व्यक्तियों के समूह के रूप में समिति को देखा जा सकता है। अतः यह मूर्त है।	2. संस्था अमूर्त है क्योंकि यह नियमों, कार्यप्रणाली आदि की व्यवस्था है जिसे देखा नहीं जा सकता।
3. समिति स्थापित की जाती है। यह बताया जा सकता है कि किस समिति की स्थापना किसने की।	3. संस्था का धीरे धीरे स्वतः ही विकास होता है और इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि इसकी कब किसने उत्पत्ति की या विकास किया।
4. समिति अस्थायी होती है।	4. संस्था अपेक्षाकृत स्थायी होती है।
5. समिति का अपना एक नाम होता है।	5. संस्था का अपना एक प्रतीक होता है, जैसे चर्च का प्रतीक क्रास तथा किसी शिक्षण–संस्था का जलती हुई मशाल।
6. समिति व्यक्तिगत हित या कल्याण पर जोर देती है।	6. संस्था सामूहिक कल्याण पर जोर देती है।
7. समिति के कुछ औपचारिक नियम होते हैं जो साधारणतः लिखित रूप में होते हैं।	7. संस्था के अलिखित अनौपचारिक नियम जनरीतियाँ, प्रथाओं, परंपराओं और रूढ़ियों के रूप में होते हैं।
8. समिति की नियंत्रण शक्ति अपेक्षाकृत कमजोर या शिथिल होती है।	8. संस्था की नियंत्रण–शक्ति अधिक होती है। संस्था द्वारा मान्य रीति–नीति के विरूद्ध आचरण करना अनुचित और असामाजिक समझा जाता है।
9. समिति विशेष हितों या उद्देश्यों की पूर्ति करती है।	9. संस्था सामान्यतः मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति में योग देती है, जैसे संतानोत्पत्ति, भोजन आदि।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

10. हितों की भिन्नता के कारण समितियों के कई प्रकार पाये जाते हैं। समिति के हितों की पूर्ति के लिए किसी न किसी प्रकार की संस्था का होना आवश्यक है।	10. संस्थाएँ विभिन्न समितियों के हितों की पूर्ति हेतु साधन के रूप में काम करती है।
11. समिति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित नहीं होती है।	11. संस्था एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होती है।
12. मनुष्य समितियों के सदस्य होते हैं।	12. मनुष्य संस्थाओं के सदस्य नहीं हो सकते हैं क्योंकि संस्था नियमों और कार्यप्रणालियों की व्यवस्था है।

समिति और संस्था दोनों ही अपने आप में साध्य नहीं होकर मानवीय हितों या उद्देश्यों की पूर्ति के माध्यम या साधन हैं।

हम समितियों के सदस्य होते हैं संस्थाओं के नहीं।
(WE BELONG TO ASSOCIATIONS AND NOT TO INSTITUTIONS)

समिति और संस्था के उपर्युक्त विवेचन से यह भली भांति स्पष्ट है कि हम समितियों के सदस्य होते हैं, न कि संस्थाओं के। इस संबंध में भ्रम का मूल कारण यह है कि समिति और संस्था शब्दों का साधारणतः पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयोग किया जाता है। समाजशास्त्रीय शब्दावली में समिति और संस्था का भिन्न भिन्न अर्थ है जैसा कि इनकी परिभाषाओं से स्पष्ट है। इन दोनों के अर्थ और विशेषताओं पर थोड़ा सा ध्यानपूर्वक विचार करने से भ्रम का निवारण स्वतः ही हो जाता है। फिर भी विद्यार्थियों की सुविधा के लिए यहां उपर्युक्त कथन को प्रमाणित करने की दृष्टि से कुछ तर्क दिये जा रहे हैं–

मेकाइवर एवं पेज के इस कथन से कि 'हम समितियों के सदस्य होते हैं, न कि संस्थाओं के'। समिति से मनुष्यों के एक संगठित समूह का बोध होता है जबकि संस्था में एक कार्य–प्रणाली का। परिवार, महाविद्यालय, धार्मिक–संगठन, राजनीतिक दल आदि व्यक्तियों के समूह के रूप में समितियाँ हैं और नियमों, विधि–विधाओं और कार्य–प्रणालियों के ढांचे के रूप में संस्थाएँ। जब समितियाँ बनायी जाती है तो उनके कार्य–संचालन के कुछ नियम, विधि विधान और कार्य–प्रणालियाँ भी विकसित हो जाती है जो संस्थाओं के नाम से जानी जाती है। मैकाइवर और पेज के अनुसार यदि किसी व्यवस्था पर संगठित समूह के रूप में विचार करते हैं तो वह एक समिति है, और यदि कार्य–प्रणाली के रूप में तो वह संस्था है। समिति से सदस्यता का पता चलता है, संस्था से कार्य–प्रणाली या सेवा के तरीके के साधन का।

हम यहां कुछ उदाहरणों द्वारा उपर्युक्त कथन को स्पष्टतः समझने का प्रयत्न करेंगे। महाविद्यालय एक समिति और संस्था दोनों ही है। जब हम महाविद्यालय पर एक संगठित समूह के रूप में विचार करते हैं अर्थात् प्राचार्य, विभागाध्यक्षों, प्राध्यापकों, अन्य कर्मचारियों एवं विद्यार्थियों की दृष्टि से सोचते हैं तो यह एक समिति है जिसके कुछ उद्देश्य हैं। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए महाविद्यालय की शिक्षण की पद्धति, समय–सारिणी, नियम एवं आचरण संबंधी बातें तथा परीक्षा की एक प्रणाली आदि होते हैं। यह सब मिलकर महाविद्यालय को एक संस्था का रूप प्रदान करते हैं। अन्य शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि जब हम महाविद्यालय पर नियमों, कार्य–प्रणाली अर्थात् कार्य के ढंग, शिक्षण–पद्धति, परीक्षा–प्रणाली आदि के रूप में विचार करते हैं तो वह एक संस्था है। स्पष्ट है कि समिति मनुष्यों का एक संगठित समूह है जबकि संस्था नियमों एवं कार्य प्रणाली की एक व्यवस्था। हम मनुष्यों के समूह के ही सदस्य हो सकते हैं, नियमों एवं कार्य–प्रणाली की व्यवस्था के नहीं। हम महाविद्यालय रूपी समिति के प्राचार्य, प्राध्यापक, अन्य कर्मचारी या विद्यार्थी के रूप में तो सदस्य हो सकते हैं, परंतु महाविद्यालय रूपी संस्था अर्थात् नियमों, शिक्षण पद्धति, परीक्षा प्रणाली या संपूर्ण कार्य–प्रणाली के सदस्य नहीं बन सकते। हम मानव के रूप में मूर्त्त है, समिति भी संगठित समूह के रूप में मूर्त है। अतः मूर्त मानव, मूर्त संगठित समूह अर्थात् समिति का सदस्य तो बन सकता है, परंतु यह अमूर्त नियमों, विधि–विधानों एवं कार्य–प्रणाली अर्थात् संस्था (जो अमूर्त है) का सदस्य नहीं बन सकता।

महाविद्यालय के जैसे ही परिवार, आर्थिक संघ, धार्मिक संघ, राजनीतिक दल, राज्य, अस्पताल, लोक–सभा आदि में से प्रत्येक समिति और संस्था दोनों ही है। ये सब संगठित समूह भी है और इनके सबके अपने–अपने नियम, विधि–विधान एवं कार्य–प्रणालियां भी हैं। संगठित समूह के रूप में इनमें से प्रत्येक समिति है और नियमों व कार्य–प्रणाली की व्यवस्था के रूप में संस्था। हम समिति (संगठित समूह) के सदस्य तो हो सकते हैं और होते हैं परंतु नियमों एवं कार्य–प्रणाली की व्यवस्था (संस्था)के नहीं। इस प्रकार स्पष्ट है कि हम समितियों के सदस्य होते हैं, न कि संस्थाओं के।

समिति
(Association)

समाजशास्त्र में समिति शब्द का उपयोग विशिष्ट संदर्भ में किया जाता है। जिसका अपना एक विशिष्ट अर्थ है। मनुष्य

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

की अनेक आवश्यकताएँ होती हैं जिसकी पूर्ति वह स्वयं नहीं कर सकता है अतः उसे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु समाज के अन्य सदस्यों की आवश्यकता होती है। इस प्रकार से मनुष्य पारस्परिक सहयोग के आधार पर अन्य लोगों के साथ मिल–जुलकर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इससे स्पष्ट है कि कुछ लोग या अनेक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु सहयोग करते हैं या संगठन बनाकर उद्देश्यों की पूर्ति हेतु सहयोग करते हैं या संगठन बनाकर उद्देश्यों की पूर्ति हेतु प्रयत्न करते हैं तो ऐसे संगठन को समिति कहा जाता है।

समिति का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and definition of association)

समिति व्यक्तियों का समूह या संकलन है जो किसी विशेष हित या हितों की पूर्ति हेतु बनाया जाता है । राजनीतिक दल, कॉलेज, परिवार, स्कूल इत्यादि समितियाँ हैं जिनका निर्माण विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है। साथ ही अनेक ऐसी समितियों का गठन किया जाता है जिन्हें तात्कालिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु बनाया जाता है। ऐसी समितियों के उद्देश्य पूरे होते ही इनका अस्तित्व समाप्त हो जाता है इस कारण से समितियों की सदस्यता ऐच्छिक होती है। फेयरचाइल्ड के अनुसार समिति एक संगठनात्मक समूह है जिसका निर्माण सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया गया है और जिसका अपना एक आत्मनिर्भर प्रशासकीय ढांचा तथा कार्यकर्त्ता होते हैं।

मोरिस गिब्सबर्ग– समिति एक–दूसरे से सम्बद्ध सामाजिक प्राणियों का समूह है। यह किसी निश्चित हित या हितों की पूर्ति हेतु बनाया एक सामान्य संगठन है।

मेकाइवर एवं पेज के अनुसार– सामान्य हित या हितों की पूर्ति के लिए दूसरों के साथ सोच–विचारकर संगठित किए गए समूह को समिति कहते हैं।

अतः समिति मनुष्यों के द्वारा विचारपूर्वक बनाये गये एक ऐसे संगठन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसके एक या अनेक उद्देश्य होते हैं जिसकी अपनी एक कार्यकारिणी होती है।

समिति की विशेषताएँ (Characteristics of Association)

समिति की विभिन्न परिभाषाओं से इसकी कुछ विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं। इनमें से प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं–

1. **व्यक्तियों का समूह** (Group of Individuals)– समिति का निर्माण दो या दो से अधिक व्यक्तियों द्वारा किया जाता है।
2. **निश्चित उद्देश्य** (Definite purpose)– प्रत्येक समिति के अपने निश्चित उद्देश्य होते हैं। इन उद्देश्यों की पूर्ति हेतु दो या दो से अधिक व्यक्ति सहयोग करते हैं।
3. **विचारपूर्वक स्थापना** (Consciously established) – समिति विचारपूर्वक स्थापित किया गया एक संगठन है जिसकी स्थापना व्यक्तियों के द्वारा कुछ या अनेक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु की जाती है।
4. **एक निश्चित संगठन** (Definite organization)– प्रत्येक समिति के अपने निश्चित उद्देश्य होते हैं इन उद्देश्यों की पूति हेतु एक निश्चित संगठन का निर्माण किया जाता है।
5. **नियमों पर आधारित** (Based on rules)– उद्देश्यों की पूर्ति हेतु समिति का अपना एक संगठन होता है जिसकी अपनी एक कार्यप्रणाली या नियमों की व्यवस्था होती है जिसके आधार पर समिति के विभिन्न सदस्य कार्य करते हैं।
6. **ऐच्छिक सदस्यता** (Optional membership)– किसी भी समिति का सदस्य बनना या नहीं बनना व्यक्ति की स्वयं की इच्छा पर निर्भर करता है। व्यक्ति अपने हित एवं रुचियों के आधार पर विभिन्न समितियों की सदस्यता ग्रहण करता है।
7. **अस्थायी प्रकृति** (Temporary nature)– समिति की स्थापना एक या अनेक विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति हेतु की जाती है और जैसे ही इन समितियों के उद्देश्यों की पूर्ति हो जाती है उनका अस्तित्व समाप्त हो जाता है।
8. **मूर्त संगठन** (Concrete organization)– समिति से तात्पर्य व्यक्तियों के ऐसे संगठन से है जिसे कुछ उद्देश्यों की पूर्ति हेतु संगठित किया गया है चूंकि समिति का निर्माण व्यक्तियों से होता है और व्यक्ति मूर्त दिखाई देते हैं अतः समिति एक मूर्त संगठन है।
9. **औपचारिक संबंध** (Formal relations)– चूंकि समिति की सदस्यता व्यक्ति अपने उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए ग्रहण करता है इस कारण से समिति में उद्देश्य महत्वपूर्ण होते हैं इस वजह से समिति के विभिन्न सदस्यों के मध्य औपचारिक संबंध पाये जाते हैं।
10. **समिति साधन है, साध्य नहीं है** (Association is a mean, not an end)– समिति का निर्माण उद्देश्यों की पूर्ति हेतु किया जाता है अतः व्यक्ति अपने उद्देश्यों की पूर्ति हेतु किसी समिति की सदस्यता ग्रहण करता है इस प्रकार से समिति में उद्देश्य व्यक्ति के लिए महत्वपूर्ण होते हैं न संबंध बनाना। अतः समिति की सदस्यता ग्रहण करना हित पूर्ति का एक साधन है।

समिति के प्रकार– समाज में व्यक्तियों के अनेक हित या उद्देश्य होते हैं इस कारण से समाज में अनेक प्रकार की समितियों का निर्माण होता है जिसे निम्न प्रकारों में वर्गीकृत किया जा सकता है–

1. हित आर्थिक समितियाँ, व्यापारिक समितियाँ– मजदूर

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

संगठन

2. सांस्कृतिक समितियाँ– लोक कला मंडल
3. शैक्षणिक समितियाँ– भारतीय समाजशास्त्रीय परिषद
4. राजनैतिक समितियाँ– राजनीतिक दल
5. मनोरंजनात्मक समितियाँ– संगीत मंडल, खेल मंडल

मेकाइवर एवं पेज ने अपनी पुस्तक सोसाइटी में हितों के आधार पर समितियों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया है–

हित (Interest)	समितियाँ (Associations)
1. अविशेषीकृत (Unspecialised)	वर्ग एवं जातीय संगठन, जनजातीय तथा सरल समाजों के अर्द्ध राजनीतिक संगठन, आयु समूह और लिंग समूह पितृसत्तात्मक परिवार
विशेषीकृत (Specialised)	
(1) द्वैतीयक (सभ्यता संबंधी या उपयोगितावादी) अ– आर्थिक हित	प्रकार– व्यापारिक तथा औद्योगिक, वित्तीय तथा कृषि संबंधी संगठन, व्यावसायिक एवं रोजगार संबंधी संगठन, रक्षात्मक एवं बीमा समाज, दान एवं मानवोपकारी समाज।
ब– राजनीतिक हित	प्रकार– राज्य, नगरपालिका, दल, मंडल, प्रचारवादी समूह।
स– तकनीकी हित	प्रकार– तकनीकी अनुसंधान तथा विभिन्न प्रकार की व्यावहारिक समस्याओं के समाधान हेतु समितियाँ
(2) मध्यस्थ शैक्षणिक हित	प्रकार– स्कूल, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय अध्ययन, समूह सुधार, गृह आदि।
(3) प्राथमिक सांस्कृतिक अ– सामाजिक संपर्क	प्रकार– क्लब, अन्य हितों की पूर्ति के लिए विभिन्न संगठन
ब– स्वास्थ्य व मनोरंजन	प्रकार– खेल कूद, नृत्य, व्यायाम आदि
स– प्रजनन	प्रकार– परिवार
द– धर्म	प्रकार– चर्च धार्मिक प्रचारवादी मठ आदि
य– सौन्दर्यात्मक हित, कला, संगीत साहित्य आदि	प्रकार– इनसे संबंधित समितियाँ
र– विज्ञान एवं दर्शन	प्रकार– विद्वत् समाज

यहाँ एक तथ्य का ध्यान रखना है कि एक ही समुदाय में अनेक समितियाँ पायी जाती हैं जैसे एक समुदाय है और उसमें आर्थिक संघ, राजनीतिक संगठन, मनोरंजन संघ, महिला संगठन तथा पंचायत आदि कई समितियाँ हैं। मैकाइवर ने बताया है कि समिति एक समुदाय नहीं है बल्कि समुदाय के अंतर्गत ही एक संगठन है।

संगठन
(Organization)

हमारे जीवन से जुड़े हुए कई स्त्रोत हैं, उन सभी का संबंध संगठनों से है। हम कैसी शिक्षा प्राप्त करेंगे, हमारी सार्वजनिक स्वास्थ्य सुविधाएँ कैसी होंगी, पीने का पानी किस भांति मिलेगा, राष्ट्रीय मुद्रा व्यवस्था कैसे चलेगी, पर्यावरण पर नियंत्रण कैसे रखा जाएगा, ऐसी अनेकानेक घटनाएँ हैं जो संगठनों के कामकाज के अंतर्गत आती है। ये सब संगठन छोटे या बड़े एक प्रकार के समूह हैं।

सभी संगठन चाहे वे सार्वजनिक क्षेत्र या निजी क्षेत्र के हों या भाषाई, सांस्कृतिक, क्षेत्रीय हों, सभी में किसी न किसी तरह का अधिकारीतंत्र अवश्य होता है। ऐसी अवस्था में जब संगठन और उसकी विशेषताओं की चर्चा करते हैं तो अनिवार्य रूप से इन संगठनों को चलाने वाले अधिकारी तंत्र की चर्चा करना भी अनिवार्य हो जाता है।

संगठन का अर्थ और परिभाषा (Meaning and definition of Organization)

जानसन– ने समाजशास्त्र में संगठन के नाम पर औपचारिक संगठनों की चर्चा की है। उनका कहना है कि सामान्यतया जब हम औपचारिक संगठन की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य अधिकारीतंत्र (bureaucracy) से होता है। एक

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

व्यापारिक निगम वस्तुतः शासनतंत्र है। जब हम किसी भी संगठन की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य संगठन में होने वाली अन्तःक्रियाओं से होता है। इन अन्तःक्रियाओं के कुछ लक्ष्य होते हैं और अधिकारीतंत्र इसमें होने वाली अन्तःक्रियाओं में तालमेल स्थापित करता है। जॉनसन का कहना है कि संगठन का मुख्य आधार उसमें होने वाली अन्तःक्रियाएँ हैं। इन अन्तः क्रियाओं को जॉनसन तकनीकी भाषा में अन्तः क्रिया प्रणाली कहते हैं। अधिकतर संगठन काफी अंशों तक औपचारिक होते हैं। उनमें अन्तःक्रिया के अनेक पक्ष होते हैं और संगठन इन अन्तःक्रियाओं को अमल में लाने का प्रयास करता है। औपचारिक संगठन के प्रमुख उदाहरण सेना, सरकारी विभाग, राजनीतिक दल, व्यापारिक निगम, स्कूल, विश्वविद्यालय, अस्पताल और पुस्तकालय हैं। ऐसे समूहों का न केवल संगठनात्मक पक्ष संपूर्ण क्रिया प्रणाली से बँधा होता है वरन् प्रत्येक औपचारिक संगठन के सदस्यों के बीच अनौपचारिक संबंध भी स्थापित हो जाते हैं।

जॉनसन ने औपचारिक संगठन को परिभाषित करते हुए कहा है– संगठन अन्तःक्रिया प्रणाली है। प्रत्येक अन्तःक्रिया प्रणाली के कुछ लक्ष्य होते हैं जिनके लिये सदस्य व्यक्तियों की गतिविधियों में सामंजस्य बिठाना कुछ अंशों तक आवश्यक होता है।

एन्थोनी गिडेन्स इस विचारधारा के हैं कि दुनिया भर के देशों में औपचारिक संगठन महत्वपूर्ण द्वितीय समूह हैं। इस कारण इनकी व्याख्या विशद् और विस्तृत रूप में होनी चाहिये। वे आग्रहपूर्वक कहते हैं कि आज के समय में हमारी प्रत्येक श्वास–प्रश्वास औपचारिक संगठनों से उधार ली हुई है। आज हम पारस्परिक रूप से एक दूसरे पर जितने निर्भर हैं, उतने पहले कभी नहीं थे। ऐसे लोग जिन्हें हम कभी मिल नहीं पाते, जो हमारे लिये पूरी तरह गुमनाम हैं उनके द्वारा हमारी कई बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। इनमें ऐसे लोग भी हैं जो हमसे हजारों किलोमीटर दूर बसे हुए हैं। संगठन ही इन बिखरे हुए लोगों में समन्वय स्थापित करता है। कुछ ऐसे ही संदर्भ में एन्थोनी गिडेन्स ने संगठन की परिभाषा दी है।

"एक संगठन लोगों की ऐसी वृहत् समिति है जिसकी गतिविधियाँ अवैयक्तिक संबंधों द्वारा संचालित होती है। यह संगठन निश्चित लक्ष्यों की पूर्ति करता है।"

एन्थोनी गिडेन्स कहते हैं कि कई शताब्दियों तक परंपरागत समाजों में रीति–रिवाज और लोगों की आदतों के आधार पर समाज की व्यवस्था चलती रही, लेकिन आज के समाज संगठन के आधार पर चलाये जाने वाले समाज हैं। अब संगठनों को इस तरह बनाया जाता है कि वे निश्चित उद्‌देश्यों की प्राप्ति में कामयाब हो सकें। ये संगठन गगनचुंबी भवनों में काम करते हैं और इनका आकार चौंकाने वाला होता है। भारत सरकार का निर्वाचन भवन या उद्योग भवन इसका दृष्टांत है। निजी क्षेत्र में बड़े बड़े चिकित्सालय, उदाहरण के लिये एस्कोर्ट या जसलोक चिकित्सालय, जो कई मंजिलों के है, संगठनों के दृष्टांत हैं।

संभवतः मेक्स वेबर पहले सामाजिक विचारक थे, जिन्होंने औपचारिक संगठन की शाखा अधिकारीतंत्र के संदर्भ में की है। उनसे पहले जर्मन समाजशास्त्री लोरेन्ड्रा वान स्टैन तथा डीकेन्स ने भी संगठन और अधिकारीतंत्र पर एक संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की थी। इन दोनों लेखकों ने अधिकारीतंत्र के उद्‌गम और उसकी कार्यप्रणाली पर अच्छी जानकारी दी है लेकिन वेबर का कार्य वास्तव में एक अधिकृत कार्य है। उन्होंने अधिकारीतंत्र पर एक आदर्श प्रारूप रखा है। कई बार वेबर के इस योगदान को सही अर्थों में नहीं समझा जाता। वेबर ने किसी वास्तविक अधिकारीतंत्र का विवरण नहीं दिया है। उन्होंने तो केवल एक आदर्श प्रारूप के रूप में यानि अमूर्त रूप में अधिकारीतंत्र को रखा है। यदि वेबर द्वारा दी गयी संगठन की परिभाषा की बात करें तो स्पष्ट है, उन्होंने ऐसी कोई व्याख्या नहीं दी है। वे तो केवल यही कहते हैं कि संगठन लोगों का ऐसा समूह है जिसमें शक्ति को बाँटा जाता है। इसमें संपूर्ण अन्तःक्रियाएँ, प्रस्थिति के अनुरूप होती है। इस संगठन में व्यक्ति विशेष का कोई स्थान नहीं होता।

मिचेल्स ने संगठन और अधिकारीतंत्र की अवधारणाओं को दूसरे संदर्भ में रखा है। वे अधिकारीतंत्र पर जोर नहीं देते। उनकी व्याख्या तो यह है कि संगठन एक तरह की ऐच्छिक समिति है। संगठन की सदस्यता व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर है। दूसरे शब्दों में, वह चाहे तो किसी संगठन का सदस्य बन सकता है। दृष्टांत स्वरूप वे कहते हैं कि प्रथम विश्व युद्ध के पहले यूरोप में राजनीतिक दलों और श्रमिक संगठनों की सदस्यता व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर थी। वास्तव में मिचेल्स की लोकप्रियता उनके कुलीनतंत्र के लौह कानून (Iron law of Oligarchy) के कारण है। वे यह मानकर चलते हैं कि सभी संगठनों के पीछे कुलीनतंत्र की भावना बलवती होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि सभी संगठनों की प्रवृत्ति किसी न किसी तरह के कुलीनतंत्र को विकसित करने की होती है। अतः मिचेल्स की परिभाषा में संगठन वे हैं जिनका मूलसंदर्श कुलीनतंत्र को विकसित करने की होती है। अतः मिचेल्स की परिभाषा में संगठन वे हैं जिनका मूल संदर्श कुंलीनतंत्र होता है।

औपचारिक संगठन की व्याख्या के मूल में अधिकारीतंत्र निहित हैं । वे सभी विचारक, चाहे लोरेन्झ वान स्टैन, डीकेन्स, मेक्स वेबर, मिचेल्स या एन्थोनी गिडेन्स हों, जिन्होंने संगठन को परिभाषित किया है, इसके मूल में अधिकारीतंत्र हैं। संगठन यानी अधिकारीतंत्र, संगठन की तरह अधिकारीतंत्र भी द्वितीयक समूह है।

संगठन के लक्षण (Characteristics of Organization)

सभी दृष्टियों से एक संगठन अधिकारीतंत्र है, यदि संगठन है तो उसे बनाये रखने के लिए, कार्यरत रखने के लिये अधिकारीतंत्र की आवश्यकता अवश्य पड़ती है। अतः जब संगठन की विशेषताओं का विवरण देते हैं तब हमें यह

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

आग्रहपूर्वक कहना चाहिये कि संगठन अनिवार्य रूप से अधिकारीतंत्र है। इस संबंध में एक और बात कहनी चाहिये वह यह कि सामान्यतया समाजशास्त्रियों ने संगठन को प्रकार्यात्मक रूप से देखा है। इन प्रकार्यवादी समाजशास्त्रियों के लिए संगठन और कुछ न होकर एक व्यवस्था मात्र है। तात्पर्य यह है कि संगठन की जो अभिधारणा समाजशास्त्रियों में प्रचलित है, वह अनिवार्य रूप से प्रकार्यात्मक है। पीटर ब्लाऊ ने वेबर द्वारा निर्मित अधिकारीतन्त्र की जो व्याख्या की है कि हर दृष्टि से वेबर का अधिकारीतन्त्र प्रकार्यात्मक है। जब संगठन को प्रकार्यात्मक संदर्भ में देखा जाता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि यह एक व्यवस्था है जिसके भाग पारस्परिक रूप से एक–दूसरे से जुड़े हैं।

फिलिप सेल्जनिक ने संगठन की व्याख्या निश्चित रूप से एक व्यवस्था के रूप में की है। वे यह मानकर चलते हैं या उनकी यह धारणा है कि व्यवस्था के नाते संगठन की प्राथमिक आवश्यकता यह है कि वह अपनी निरंतरता बनाये रखे, किसी तरह जीवित रहे। फिलिप के शब्दों में–

किसी भी व्यवस्था की कुछ बुनियादी आवश्यकताएँ होती है और इन आवश्यकताओं में निश्चित रूप से व्यवस्था अपने आपको बनाए रखना चाहती है। संगठन के सदस्य इस दबाव में होते हैं कि वे इस भाँति काम करें कि व्यवस्था बराबर बनी रहे।

संगठन के लक्षणों को निश्चित बिन्दुओं में रखने से पहले हम एक और बात कहेंगे। संगठनों में प्रायः व्यावसायिक लोग भाग लेते हैं। वेबर ने एक स्थान पर तर्क दिया है कि अधिकारीतन्त्र मूलभूत रूप से यह मानकर चलता है कि संगठन पर विशेषज्ञों का नियंत्रण होगा। इस दृष्टि से अधिकारीतन्त्र का बहुत बड़ा लक्षण यह है कि इसमें विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञ होते हैं और इसी कारण वे इस तन्त्र में विवेकशील होकर अपना काम करते हैं। अतः जब हम संगठन और अधिकारीतन्त्र की चर्चा करते हैं तब हमारा यह कहना है कि संगठन में विशेषज्ञों के शक्ति और प्राधिकार होते हैं। उदाहरण के लिये हम किसी कार्यालय के इंजीनियर, ओवरसीयर या डिस्पेच बाबू को देखें तो ये सभी अपने–अपने क्षेत्र में उस्ताद होते हैं यानी अपने काम को करने में कुशल होते हैं। इस दृष्टि से देखें तो कहना होगा कि संगठन से जुड़े हुए अधिकारीतन्त्र में छोटे–बड़े सभी तरह के विशेषज्ञ होते हैं। संगठन से जुड़ी हुई बुनियादी बातों की प्रारंभिक रूपरेखा देने के बाद हम संगठन के कतिपय सामान्य लक्षणों को निम्न बिन्दुओं में रखेंगे:

1. संगठन लोगों की विशाल समिति है (Organization is a Big Association of People)

कोई भी संगठन हो, उसमें लोगों की सदस्यता होती है। इन सदस्यों के संबंध संगठन के उद्देश्यों से जुड़े होते हैं लेकिन ये संबंध अवैयक्तिक होते हैं।

2. शक्ति एवं प्राधिकार का बँटवारा (Distribution of Power and Authority)

संगठन में काम करने वाले लोग सोपानिक व्यवस्था की तरह संगठन से जुड़े होते हैं। इनमें गैर–बराबरी होती है और इसीलिए इसे सोपानिक व्यवस्था कहते हैं। संगठन कैसा भी हो–छोटा या बड़ा–इसमें व्यक्तियों के प्राधिकार होते हैं। ये प्राधिकार गैर–बराबर होते हैं। अतः संगठन बहुत थोड़े में कहें तो कहना होगा कि शक्ति और प्राधिकार की एक ऐसी गठरी है जो अपने सदस्यों को उच्चोच्च व्यवस्था में रख देती है।

3. संगठन वस्तुतः अधिकारीतन्त्र है (Organization thus is Bureaucracy)

संगठन एक अधिकारीतन्त्र है। ऐसी अवस्था में इसके पीछे मूल धारणा यह है कि इसके सदस्य उसकी निरंतरता को बराबर बनाये रखने का प्रयास करते हैं। सरकार किसी की भी बने, कोई भी प्रधानमंत्री या मुख्य सचिव बने, सरकार का संगठन तो बराबर बना रहता है। अधिकारीतन्त्र और संगठन की यह प्रकृति अपने आप में जीवित रहने का प्रयास करती है।

4. संगठन प्रकार्यात्मक है, यह एक व्यवस्था है (Organization is Functional, it is a System)

संगठन की प्रकृति प्रकार्यवादी है। अधिकतर विचारकों के अनुसार संगठन की बुनियादी धारणा व्यवस्था सिद्धांत से जुड़ी है। मेक्स वेबर वस्तुतः प्रकार्यवादी थे और इसी तरह फिलिप भी प्रकार्यवादी थे। हर दृष्टि से संगठन की प्रकृति प्रकार्य और व्यवस्था से बंधी हुई है।

5. संगठन विशेषज्ञों का जमावड़ा है (Organization Consists of Experts)

बर्न्स, स्टालकर, फिलिप, जैसे कई समाजशास्त्री हैं जिनके अनुसंधान बताते हैं कि संगठन अपने मूल में विशेषज्ञों का जोड़ है। अमिताई एटिजिओनी ने एक जगह तर्क दिया है कि जब संगठन व्यावसायिक निर्णय लेता है तो इसका आधार विशेषज्ञों द्वारा दी गई तकनीकी सलाह है। यदि सार्वजनिक निर्माण विभाग किसी पुलिया के बनाने के लिए निर्णय लेता है तो इसके पीछे इंजीनियर का विशिष्ट ज्ञान होता है। कुछ इसी तरह चिकित्सालय, विश्वविद्यालय आदि के निर्णयों का आधार भी विशिष्ट और तकनीकी ज्ञान पर निर्भर होता है।

6. संगठन बना रहना चाहता है (Organization wants to Survival)

एक बार जब संगठन का आविर्भाव हो जाता है तब ताकतवर प्रवृत्ति अपने आपको टिकाए रखने की होती है। संगठन में भी पुनरावृत्ति, निरंतरता और जीवित रहने की क्षमता है। श्रमिक संगठन, राजनीतिक दल संगठन हैं। एक बार जब ये अस्तित्व में आ जाते हैं तो इन्हें समाप्त करना कठिन हो जाता है। यह संभव है कि समय की शक्ति के साथ संगठन की स्थिति खराब हो जाए, फिर भी बने रहने की इसकी क्षमता इसका शक्तिशाली लक्षण है।

7. संगठन में वैचारिकी होती है (Organization has Ideology)

कई बार संगठन के साथ में वैचारिकी को जोड़ा जाता

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

है। यह कहना आज एक फैशन बन गया है कि सिद्धांत का वैचारिकी के साथ कोई संबंध नहीं होता। इसके लिए यह तर्क दिया जाता है कि सिद्धांत मूल्य निरपेक्ष है। इसी कारण सिद्धांतों में कोई वैचारिकी निहित नहीं होती। एल्विन गुल्डनर इस तर्क से सहमत नहीं हैं। वे कहते हैं कि कोई भी सिद्धांत मूल्य मुक्त हो, ऐसा नहीं है। जैसे समाजशास्त्र मूल्य मुक्त नहीं है, वैसे ही गुल्डनर कहते हैं कि संगठन भी मूल्य मुक्त नहीं है। संगठन कोई भी हो, कैसी ही इसकी संरचना हो, इसमें कोई न कोई वैचारिकी अवश्य होती है। गुल्डनर का तर्क यह है कि जब कोई व्यक्ति किसी सिद्धांत से प्रतिबद्ध होता है तो इसका प्रभावशाली कारण यह होता है कि अमुक सिद्धांत के प्रति व्यक्ति संवेगात्मक रूप से जुड़ा होता है। इस संवेगों का संबंध वैचारिकी से होता है। इसी कारण गुल्डनर का निष्कर्ष है कि औद्योगिक समाज में जो भी संगठन है वे किसी न किसी वैचारिकी से अवश्य जुड़े होते हैं।

8. उद्देश्य और संसाधन (Goals and Resources)–

संगठन का निर्माण शून्य में नहीं होता है। इसके लिए कुछ आधारभूत संसाधन होते हैं। संसाधन का मोल तौल करके ही संगठन के उद्देश्य निर्धारित किये जाते हैं। ऐसा कहीं नहीं होता कि रेगिस्तानी इलाकों में कारखानों के श्रमिकों के संगठन बनाये जाये। श्रमिक संगठन बनने का बहुत बड़ा स्रोत कल–कारखाने होते हैं। इसी कारण से जिस देश या समाज में औद्योगिक संसाधन होंगे, वहीं कुछ निश्चित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए संगठनों का निर्माण होगा। संगठन है, तो निश्चित रूप से उसके स्रोत और उद्देश्य होते हैं।

मूल्य एवं मानदंड
(Values and Norms)

सामाजिक मूल्य (SOCIAL VALUES)

सामाजिक मूल्य किसी भी समाज के प्रमुख तत्व होते हैं। सामाजिक मूल्यों के आधार पर ही किसी भी समाज की उन्नति, अवनति अथवा परिवर्तन की दिशा निर्धारित होती है। सामाजिक मूल्यों को एक ऐसे पैमाने या मानक के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिनके आधार पर हम किसी व्यवहार, वस्तु, भावना, लक्ष्य एवं साधन को उचित एवं अनुचित, अच्छा या बुरा तथा सही या गलत ठहराते हैं। इस प्रकार मूल्य सामान्य मानक है। ये उच्चस्तरीय मानदंड कहे जाते हैं। स्वयं मानदंडों का मूल्यांकन भी मूल्यों के आधार पर किया जाता है। फिर भी इन दोनों में इतना घनिष्ठ संबंध है कि कभी कभी इन दोनों को एक ही समझ लिया जाता है। प्रत्येक समाज के अपने पृथक पृथक मूल्य होते हैं। इस प्रकार एक ही तथ्य से संबंधित सामाजिक मूल्य विभिन्न समाजों में भिन्न भिन्न होते हैं। सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं एवं कार्य–कलापों से संबधित मूल्यों में भी भिन्नता पायी जाती है। परिवार, शिक्षण संस्था, बैंक, राजनीति, आर्थिक जीवन, धर्म आदि से संबंधित मूल्यों में अंतर पाया जाता है। सामाजिक मूल्य समाज में लोगों के पारस्परिक संबंधों को निर्धारित एवं परिभाषित करते हैं। सामाजिक मूल्य समाज की ही उपज होते हैं। अतः समाज के सदस्य उनके प्रति जागरूक होते हैं, उनके अनुरूप व्यवहार करते हैं और उनके विपरीत आचरण करने वालों की निंदा एवं आलोचना की जाती है। सामाजिक मूल्य का संबंध किसी व्यक्ति विशेष से न होकर संपूर्ण समाज से होता है। ये समाज सभी सदस्यों के मूल्य होते हैं। इसलिए ये सभी व्यक्तियों के व्यवहारों को प्रभावित करते हैं और उन्हें एक विशेष ढंग से व्यवहार करने को प्रेरित और बाध्य तक करते हैं।

सामाजिक मूल्यों का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and definition of Social values)

सामाजिक मूल्यों को परिभाषित करते हुए राधाकमल मुकर्जी लिखते हैं, 'मूल्य समाज द्वारा मान्यता प्राप्त इच्छाएँ तथा लक्ष्य है, जिनका आन्तरीकरण सीखने या समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से होता है और जो प्राकृतिक अधिमान्यताएँ, मानक तथा अभिलाषाएं बन जाती है।''

जॉनसन के अनुसार, ''मूल्यों को एक धारणा या मानक के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो कि सांस्कृतिक हो सकता है या केवल व्यक्तिगत और जिसके द्वारा वस्तुओं की एक साथ तुलना की जाती है और वे एक–दूसरे के संदर्भ में स्वीकार या अस्वीकार की जाती है, वांछित या अवांछित, अच्छी या बुरी, अधिक या कम उचित पायी जाती है। जॉनसन का मत है कि मूल्यों के द्वारा सभी प्रकार की वस्तुओं, भावनाओं, विचार, क्रिया, गुण, पदार्थ, व्यक्ति, समूह, लक्ष्य एवं साधन आदि का मूल्यांकन किया जाता है।

फिचर के अनुसार, ''समाजशास्त्रीय दृष्टि से मूल्यों को उन कसौटियों के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसके द्वारा समूह या समाज व्यक्तियों, मानदंडों, उद्देश्यों और अन्य सामाजिक सांस्कृतिक वस्तुओं के महत्व का निर्णय करते हैं। इस प्रकार मूल्य वे कसौटियाँ हैं जो कि संपूर्ण संस्कृति एवं समाज को अर्थ एवं महत्व प्रदान करती है।

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सामाजिक मूल्य वे मानक या धारणाएं हैं जिनके आधार पर हम किसी व्यक्ति के व्यवहार, वस्तु के गुण, लक्ष्य, साधन एवं भावनाओं आदि को उचित या अनुचित, अच्छा या बुरा ठहराते हैं। मूल्य एक प्रकार से सामाजिक माप या पैमाना है जिसके आधार पर किसी वस्तु का मूल्यांकन किया जाता हैं। इन मूल्यों को व्यक्ति समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा सीखता है और आंतरीकृत करता है। तथा इन्हीं के अनुरुप आचरण करने की सोचता है। सामाजिक मूल्यों को प्राप्त करना व्यक्ति की इच्छा बन जाती है। सामाजिक मूल्यों का निर्माण संपूर्ण समूह एवं समाज के सदस्यों की पारस्परिक अन्तःक्रिया के दौरान होता है। अतः वे सारे समूह या समाज की वस्तु है। समाज एवं संस्कृति भिन्नता के कारण ही सामाजिक मूल्यों में भी मित्रता पायी जाती है। सामाजिक मूल्यों को और अधिक स्पष्टतः समझने के लिए हम यहां उनकी प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करेंगे।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

सामाजिक मूल्यों की विशेषताएँ (Characteristics of social values)

1. सामाजिक मूल्य सामूहिक होते हैं (Social values are collective)–सामाजिक मूल्यों का संबंध किसी व्यक्ति विशेष से नहीं होता है परंतु ये सारे समूह एवं समाज की धरोहर होते हैं और सारे समूह की इन्हें मान्यता प्राप्त होती है। इनका निर्माण किसी एक व्यक्ति के द्वारा नहीं किया जाता वरन् ये सामूहिक अन्तःक्रिया की उपज एवं परिणाम होते हैं।

2. सामाजिक मूल्य सामाजिक मानक है (Social values are Social Standards)– मानक का तात्पर्य है जिनके द्वारा हम किसी वस्तु को मापते हैं। सामाजिक मूल्य भी मानक है जिनके द्वारा हम किसी वस्तु, व्यवहार, लक्ष्य, साधन, गुण आदि को अच्छा या बुरा, उचित या अनुचित, वांछित एवं अवांछित ठहराते हैं। इन्हें हम उच्चस्तरीय सामाजिक मानदंड कह सकते हैं।

3. सामाजिक मूल्यों के बारे में समूह में एकमतता पायी जाती है (There is consensus about Social Values in the Group)– समूह एवं समाज के सभी लोगों में सामाजिक मूल्यों के बारे में एकमतता पायी जाती है। वे सभी इन्हें स्वीकार करते हैं और मान्यता प्रदान करते हैं। अतः जब भी सामाजिक मूल्यों का उल्लंघन होता है तो सारे समूह द्वारा प्रतिक्रिया व्यक्त की जाती है।

4. सामाजिक मूल्यों के पीछे उद्वेग भावनाएँ होती हैं (Social values involve Emotions)– सामाजिक मूल्यों के साथ लोगों की भावनाएँ जुड़ी होती हैं। यही कारण है कि वे व्यक्तिगत हितों को तिलांजलि देकर भी उनकी रक्षा करते हैं। स्वतंत्रता के मूल्य की रक्षा के लिए भारतीयों ने हँसते–हँसते प्राणोत्सर्ग किया, सीने पर गोलियां झेलीं और जेल के सींखचों में बंद हुए। देशभक्ति के मूल्य की रक्षा के लिए ही लोग युद्ध में बलिदान देते हैं। सतीत्व की रक्षा के लिए भारतीय वीरांगनाओं ने जौहर किया। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि सामाजिक मूल्यों का संबंध भावनाओं से जुड़ा होता है।

5. सामाजिक मूल्य गतिशील होते हैं (Social values are dynamic)– सामाजिक मूल्य सदैव ही एक समान नहीं होते। समय एवं परिस्थितियों के साथ इनमें परिवर्तन आता रहता है। सामाजिक मूल्यों का उद्देश्य सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। अतः जब समाज की आवश्यकताएँ बदलती हैं तो सामाजिक मूल्य भी परिवर्तित होते हैं।

6. सामाजिक मूल्यों में विभिन्नता पायी जाती है (Social values are different)–प्रत्येक समाज के अपने मूल्य होते हैं जो दूसरे समाज के मूल्यों से भिन्न होते हैं। भारतीय समाज एवं पश्चिमी समाजों के मूल्यों में भिन्नता पायी जाती है। हम पर्दा प्रथा, जाति, अन्तर्विवाह, सती प्रथा, विधवा विवाह निषेध आदि प्रथाओं को उचित मानते रहे हैं किंतु पश्चिमी समाजों में इन्हें अनुचित माना गया है। इसी प्रकार से सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों से संबंधित सामाजिक मूल्यों में भिन्नता पायी जाती है। परिवार, विवाह, जाति, शिक्षा, व्यापार, खेल–कूद, मनोरंजन आदि सभी से संबंधित मूल्यों में भिन्नता पायी जाती है।

7. सामाजिक मूल्य सामाजिक कल्याण एवं सामाजिक आवश्यकताओं के लिए महत्वपूर्ण समझे जाते हैं (Social values are considered important for Social welfare and social needs)– सामाजिक मूल्य समूह के कल्याण एवं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक है। इनके अनुरूप आचरण करने पर ही समूह संगठन, एकमतता एवं एकरूपता बनी रहती है। इसी कारण आवश्यकताओं की पूर्ति निरंतर होती रहती है।

मूल्यों का वर्गीकरण (Classification of values)

विभिन्न विद्वानों ने मूल्यों का वर्गीकरण विभिन्न प्रकार से किया जाता है। पेरी ने मूल्यों को नकारात्मक, सकारात्मक, विकासवादी एवं वास्तविक आदि भागों में वर्गीकृत किया है। कुछ विद्वान मूल्यों को सुखवादी, सौन्दर्यवादी, धार्मिक, आर्थिक, नैतिक एवं तार्किक आदि भागों में बांटते हैं। स्प्रेंगर ने मूल्यों को सैद्धांतिक, आर्थिक, सौन्दर्यात्मक, सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक आदि भागों में विभक्त किया है। सी. एम. केस (C.M. Case) ने सामाजिक मूल्यों को निम्नलिखित चार भागों में बाँटा है :

1. सावयवी मूल्य (Organic values)– इस प्रकार के मूल्यों का संबंध आग, पानी आदि से है।

2. विशिष्ट मूल्य (Specific values)– प्रत्येक व्यक्ति की अपनी व्यक्तिगत विशेषताएँ, रुचि एवं विचार होते हैं। उन्हीं के आधार पर वह किसी वस्तु का मूल्यांकन करता है, उदाहरण के लिए, विधवा पुनर्विवाह एवं बाल विवाह को कोई व्यक्ति उचित मानता है तो कोई अुनचित।

3. सामाजिक मूल्य (Social values)– कुछ मूल्यों का संबंध सामाजिक जीवन से होता है। सामाजिक व्यवहार, परंपराओं एवं आदतों के संबंध में प्रत्येक समाज में कुछ मूल्य पाये जाते हैं।

4. सांस्कृतिक मूल्य (Cultural values)– इनका संबंध संस्कृति से होता है। इनमें उपकरणों, प्रतीकों, सत्यता, सुंदरता एवं उपयोगिता आदि से संबंधित मूल्य आते हैं।

सामाजिक मूल्य का एक अन्य वर्गीकरण धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सौन्दर्यात्मक के रूप में किया गया है जिनका संबंध धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक जीवन एवं सौन्दर्य बोध से है। इन विभिन्न क्षेत्रों में व्यवहारों एवं वस्तुओं का मूल्यांकन उस समाज में प्रचलित मूल्यों के आधार पर ही किया जाता है।

सामाजिक मूल्यों का महत्व (Importance of social values)

मानव की आधारभूत इच्छाओं तथा आवश्यकताओं की संतुष्टि करने में मूल्यों का महत्वपूर्ण योगदान होता है। डा.

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

मुकर्जी का मत है कि कोई भी समाज यदि अपने अस्तित्व को बनाये रखना चाहता है तो उसे व्यक्तित्व के सर्वोच्च मूल्यों की नियमित रूप से पूर्ति करनी चाहिए। मानव समाज व मानव कल्याण के लिए मूल्यों का पालन एवं संरक्षण आवश्यक है। दुर्खीम भी सामाजिक मूल्यों को सामूहिक जीवन के लिए आवश्यक मानते हैं। वे इन्हें सामाजिक तथ्य की संज्ञा देते हैं जो समाज की ही उपज है। दुर्खीम सामाजिक मूल्यों का पालन व्यक्ति के लिए बाध्यकारी मानते हैं। दुर्खीम के अनुसार सामाजिक मूल्य सामूहिक चेतना की उपज है, अतः व्यक्ति उनके सम्मुख झुकता है। सामाजिक मूल्य समाज में एकता पैदा करने का कार्य भी करते हैं। चार्ल्स बगल भी सामाजिक मूल्यों को समूह–कल्याण की भावना से ओत प्रोत मानते हैं। उनका मत है कि समूह में ही सामाजिक मूल्यों का विकास होता है, अतः उनके पीछे सामूहिक स्वीकृति होती है और व्यक्ति इन सामूहिक मूल्यों को अपने व्यक्तिगत मूल्य समझने लगते हैं। सामाजिक मूल्य समाज में एकता, संगठन एवं नियंत्रण बनाये रखते हैं। फिचर के अनुसार सामाजिक मूल्यों का महत्व या कार्य इस प्रकार है–

1. समाज में एकरूपता उत्पन्न करते हैं– सामाजिक मूल्य सामाजिक संबंधों एवं व्यवहारों में एकरूपता उत्पन्न करते हैं। सभी व्यक्ति समाज में प्रचलित मूल्यों के अनुसार ही आचरण करते हैं। इसके परिणामस्वरूप सभी के व्यवहारों में समानता उत्पन्न होती है।

2. व्यक्ति के लिए महत्व– सामाजिक मूल्यों का व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन से भी घनिष्ठ संबंध है। सामाजिक मूल्य सारे समूह एवं समाज की देन होते हैं। व्यक्ति समाजीकरण द्वारा इन सामाजिक मूल्यों को आत्मसात् करता है और अपने व्यवहार, आचरण एवं जीवन को उनके अनुरूप ढालने का प्रयत्न करता है। इसके परिणामस्वरूप वह सामाजिक परिस्थितियों से अनुकूलन सरलता से कर लेता है तथा साथ ही अन्य सदस्यों के व्यवहार मानदंडों से भी एकरूपता स्थापित कर लेता है। इस कारण वह अपने को समूह से अलग न मानकर उसी का एक अंग मानने लगता है। व्यक्ति का समूह के साथ एकीकरण व्यक्ति की सुरक्षा एवं सामाजिक प्रगति दोनों की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

3. सामाजिक संगठन एवं एकीकरण– सामाजिक मूल्य समाज में एक विशिष्ट प्रकार के स्वीकृत एवं प्रतिभाजित व्यवहारों को जन्म देते हैं। समूह के सदस्यों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे इन प्रतिमानित व्यवहारों के अनुरूप आचरण करे ताकि समाज में संगठन एवं एकीकरण बना रहे। समान आदर्शों, व्यवहारों एवं मूल्यों को स्वीकार करने के कारण आत्मीयता एवं सामुदायिक भावना का विकास होता है। समान मूल्यों में विश्वास करने वाले लोग अपने को अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक निकट समझते हैं। वे मिलकर कार्य करते एवं परस्पर सहयोग करते हैं। जॉनसन कहते हैं, ''मूल्य व्यक्ति को या सामाजिक अन्तः क्रिया की प्रणाली को एकीकृत करने में सहायक होते हैं।

4. सामाजिक क्षमता का मूल्यांकन– सामाजिक मूल्यों द्वारा ही समाज के व्यक्ति यह जानने में समर्थ होते हैं कि दूसरे लोगों की दृष्टि में उनका क्या स्थान है, वे सामाजिक संस्तरण में कहाँ स्थित है। समूह एवं व्यक्ति की क्षमता का मूल्यांकन सामाजिक मूल्यों के आधार पर किया जाता है।

5. भौतिक संस्कृति का महत्व बढ़ाते हैं– भौतिक संस्कृति के कुछ तत्व कुछ लोगों या समूह के लिए चाहे इतने अधिक महत्वपूर्ण न भी हो किंतु उनके पीछे सामाजिक मूल्य होते हैं। अतः लोग उन वस्तुओं को रखने में रुचि रखते हैं। उदाहरण के लिए, टेलीविजन, कार एवं टेलीफोन कुछ व्यक्तियों के लिए अधिक उपयोगी न होने पर भी वे उन्हें इसलिए रखना चाहते हैं कि इससे उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा में वृद्धि होती है क्योंकि सामाजिक मूल्य इन वस्तुओं को उपयोगी एवं प्रतिष्ठासूचक मानते हैं।

6. समाज के आदर्श विचारों एवं व्यवहारों के प्रतीक– सामाजिक मूल्यों में आदर्श निहित होते हैं। सामाजिक मूल्यों को सामाजिक स्वीकृति एवं मान्यता प्राप्त होती है। यही कारण है कि सामाजिक मूल्यों को उस समाज के आदर्श विचारों एवं व्यवहारों के प्रतीक माना जाता है। ये लोगों के विचारों और व्यवहारों को निश्चित एवं निर्धारित करते हैं।

7. सामाजिक भूमिकाओं का निर्देशन– सामाजिक मूल्य यह भी तय करते हैं कि एक व्यक्ति किसी विशिष्ट प्रस्थिति में किस प्रकार भूमिका निभायेगा। समाज उससे किस प्रकार का आचरण करने की अपेक्षा करता है। सामाजिक मूल्यों में अन्तर के कारण ही सामाजिक भूमिकाओं में भी अंतर पाया जाता है। भारत में पति पत्नी की भूमिका अमरीका व इंग्लैंड में पति–पत्नी की भूमिका से इसलिए भिन्न है कि इन देशों की मूल्य व्यवस्था में भी अंतर है और ये मूल्य ही भूमिका निर्वाह का निर्देशन करते हैं।

8. सामाजिक नियंत्रण– सामाजिक मूल्य सामाजिक नियंत्रण के सशक्त साधन हैं। ये व्यक्ति एवं समूह पर एक निश्चित प्रकार का व्यवहार करने या न करने के लिए दबाव डालते हैं। समाज द्वारा मूल्यों के विपरीत आचरण करने वालों के लिए दंड एवं मूल्यों के अनुरूप आचरण करने वालों के लिए पुरस्कार की व्यवस्था की जाती है। इस प्रकार सामाजिक नियंत्रण की दृष्टि से महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

9. अनुरूपता एवं विपथगमन को स्पष्ट करते हैं– सामाजिक मूल्यों के आधार पर ही हम सामाजिक व्यवहार को अनुरूपता तथा विपथगमन में बांटते हैं। जो व्यवहार सामाजिक मूल्यों के अनुकूल होते हैं उन्हें अनुरूपता एवं जो व्यवहार इनके विपरीत होते हैं, उन्हें विपथगमन कहते हैं। समाज में अनुरूपता एवं विपथगमन का अध्ययन सामाजिक मूल्यों के ज्ञान के आधार पर ही किया जा सकता है। इन्हीं के आधार पर हम अपराध की व्याख्या करते हैं। सामाजिक मूल्य

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

सामाजिक अस्तित्व के लिए आवश्यक है। अतः कोई भी समाज उनके उल्लंघन की आज्ञा नहीं देता। ऐसा करने वाले को दोषी ठहराया और दंड दिया जाता है। इस प्रकार सामाजिक विघटन को रोकने, सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने एवं पुनर्निर्माण के लिए सामाजिक मूल्य आवश्यक है।

इन उपयोगिताओं के होते हुए भी कभी–कभी सामाजिक मूल्य समाज में विघटन भी पैदा करते हैं। यदि वे समय एवं परिस्थिति के साथ परिवर्तित नहीं होते हैं या समाज के लोगों की आकांक्षाओं की पूर्ति में बाधक होते हैं, तो लोग विद्रोही होकर ऐसे मूल्यों को तोड़ते हैं। उदाहरण के लिए, राजतंत्र में राजा के प्रति भक्ति दिखाना एक राजनीतिक मूल्य है जिसकी सभी नागरिकों से अपेक्षा की जाती है। किंतु यदि कोई राजा दुराचारी एवं शोषक हो तो ऐसी स्थिति में राजा के प्रति वफादारी के मूल्य का पालन नहीं किया जायेगा। लोग विद्रोही होकर उन मूल्यों को तोड़ेंगे। भारतीय समाज में प्रचलित बाल–विवाह, सती–प्रथा, पर्दा–प्रथा, जागीर प्रथा आदि से संबंधित पुराने रूढ़िवादी मूल्य वर्तमान परिस्थितियों से मेल नहीं खाते, उनका पालन पिछड़ेपन का सूचक माना जाता है। अतः लोग इनसे संबंधित पुराने मूल्यों को त्याग कर नवीन मूल्य ग्रहण करते जा रहे हैं। इस प्रकार से प्रत्येक समाज की दिशा निर्धारित करने में सामाजिक मूल्यों की सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

सामाजिक मानदंड (Social Norms)

समाज में व्यवस्था बनाये रखने के लिए सामाजिक मानदंडों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मानव समाज व पशु समाज में सबसे बड़ा अंतर यह है कि मानव के पास संस्कृति है जबकि पशुओं के पास नहीं है। मानव न केवल संस्कृति को अपने जन्म के समय विरासत में प्राप्त करता है बल्कि वह स्वयं संस्कृति का निर्माता भी है। पशुओं का व्यवहार जहाँ एक ओर उनकी शारीरिक आवश्यकताओं से प्रेरित होता है वहाँ दूसरी ओर मानव के व्यवहार को संस्कृति प्रतिक्षण नियंत्रित करती रहती है। पशुओं का व्यवहार मानव की भांति संस्कृति द्वारा निर्देशित नहीं होता वरन् मूल प्रवृत्तियों द्वारा होता है। मानव को अपनी प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति के लिए संस्कृति द्वारा निर्धारित मार्ग का अनुसरण करना होता है। हम अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु संस्कृति द्वारा अनुमोदित जिन तरीकों को अपनाते हैं वे ही मोटे अर्थों में सामाजिक मानदंड है। सामाजिक मानदंड समाज में विपथगामी व्यवहार को नियंत्रित करते हैं तथा सामाजिक व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने में सहायता पहुँचाते हैं। यदि सामाजिक मानदंड का अस्तित्व नहीं हो तो समाज में अव्यवस्था फैल जाएगी। मनुष्य समाज अपनी सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाए रखने के लिए और नयी नयी परिस्थितियों और समस्याओं का हल खोजने के लिए समय–समय पर मानदंडों की रचना करता रहता है इसलिए मैरिल ने कहा है कि मानव मानदंडों का निर्माण करने वाला प्राणी है।

विभिन्न सामाजिक स्थितियों में विभिन्न प्रस्थितियों के व्यक्तियों के मध्य परस्पर अन्तःक्रिया होती रहती है, इन व्यक्तियों के मध्य अन्तःक्रिया निर्धारित सामाजिक मानदंडों के आधार पर होती है। हमारे दैनिक जीवन के सभी आयाम लघु अथवा महत् मानदंडों पर निर्भर करते हैं। अध्यापक एवं विद्यार्थियों के बीच परस्पर अभिवादन के तरीकों जैसे लघु मानदंडों से लेकर व्यक्ति की व्यक्तिगत संपत्ति पर उसका अधिकार व उपभोग जैसे महत् मानदंड हमारे जीवन के सभी पक्षों को प्रभावित करते हैं। अगर हम इन मानदंडों की गणना आरंभ करें तो उनकी संख्या अपरिमित सी लगेगी। खाने–पीने के तरीके, कपड़े पहिनने की शैली, बातचीत का तौर–तरीका, व्यवसाय में अपने पदानुरूप व्यवहार से लेकर कई मानदंड संस्थात्मक स्वरूप प्राप्त कर विवाह, परिवार जैसी सार्वभौमिक संस्थाओं के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं। ये मानदंड, समाज का संगठन, व्यवस्था व संचालन इस तरह से करते हैं जिससे कि समाज की निरंतरता बनी रहे एवं विभिन्न व्यक्ति अपने लक्ष्यों को विधिवत् रूप से प्राप्त करने में सफल हों। मानदंडों का निर्माण, संचित अनुभव, विश्वास, आस्था, तर्क व अन्तःक्रिया के माध्यम से होता है।

प्रश्न यह उठता है कि क्या समाज द्वारा निर्धारित मानदंडों का हमेशा पालन होता है? डेविस ने इस प्रश्न पर विचार करते हुए लिखा है कि प्रत्येक समाज में दो प्रकार की वास्तविकताएं पायी जाती हैं, जो निम्नलिखित हैं–

1. आदर्शात्मक व्यवस्था (Normative order)
2. यथार्थ व्यवहार (Factual order)

आदर्शात्मक व्यवस्था बतलाती है कि किस प्रकार से व्यवहार करना चाहिए अर्थात् आदर्शात्मक व्यवस्था ''क्या होना चाहिए'' की व्याख्या है। दूसरे शब्दों में, समाज अपने सदस्यों से जो अपेक्षाएँ रखता है वे आदर्श व्यवस्था का रूप है। उदाहरण के लिए, रेल्वे स्टेशन पर टिकिट लेने वाले व्यक्तियों से ये अपेक्षा की जाती है कि वे व्यवस्था रखने के लिए पंक्ति में खड़े होकर टिकिट लें। इसके अतिरिक्त समाज में एक दूसरे प्रकार की भी वास्तविकता पायी जाती है जो यथार्थ व्यवहार का बोध कराती है, वहाँ यथार्थ व्यवहार यह बताता है कि वास्तव में किस प्रकार का व्यवहार होता है। यथार्थ व्यवहार दो प्रकार का हो सकता है :

1. सामाजिक मानदंडों के अनुरूप (Inconfirmity with social norms)

2. सामाजिक मानदंडों के प्रतिकूल (In non-confirmity with social norms)

अर्थात् वास्तविक स्थिति में व्यक्ति सामाजिक मानदंडों के अनुकूल भी व्यवहार कर सकते हैं तथा सामाजिक मानदंडों के प्रतिकूल भी। जब तक सामाजिक मानदंडों के अनुकूल व्यवहार होता है तब तक तो समाज में व्यवस्था बनी रहती है, किंतु जब सामाजिक मानदंडों का उल्लंघन होने लगता है तो समाज में दुर्खीम के शब्दों में, अमानदंडता की स्थिति आ जाती

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

है जिससे समाज विघटित होने लगता है। कहने का तात्पर्य यह कि उस समाज में सामाजिक मानदंड तो होते हैं किंतु उनके निरंतर उल्लंघन से अमानदंडता की स्थिति आ जाती है जिससे अस्वस्थ समाज का निर्माण होता चला जाता है।

यह सही है कि यथार्थ व्यवहार का मूल्यांकन आदर्शात्मक अवस्था को मानदंड मान कर होता है। कोई भी व्यवहार सामाजिक है या नहीं, यह आदर्शात्मक व्यवस्था से निश्चित होता है। यह भी सही है कि यथार्थ व्यवहार को आदर्शात्मक व्यवहार नियंत्रित करता है, किंतु अनेक बार यथार्थ व्यवहार आदर्शात्मक व्यवहार को भी नियंत्रित रखता है। यदि हमारे आदर्श अव्यावहारिक होंगे तो हमारे वास्तविक व्यवहार में उनका पालन नहीं होगा जिसके फलस्वरूप आदर्शात्मक व्यवहार की बात निरर्थक हो जाएगी।

सामाजिक मानदंड किसी भी स्वस्थ समाज की रीढ़ है। बिना सामाजिक मानदंडों के समाज का ढांचा सीधा खड़ा नहीं रह सकता।

सामाजिक मानदंड (आदर्श नियम) का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and definition of social norms)

सामाजिक मानदंड समाज के वे नियम हैं जो समाज द्वारा स्वीकृत होते हैं, जिनका पालन समाज के अधिकांश व्यक्ति करते हैं, जो हमारे व्यवहारों पर नियंत्रण रखते हैं और जो हमें उचित अनुचित का भेद बताते हैं जिनका पालन करने पर समाज उचित पुरस्कार देता है और उल्लंघन करने पर दंड की व्यवस्था की जाती है। सरल शब्दों में समाज में आचरण के नियम ही सामाजिक मानदंड कहलाते हैं। सामाजिक मानदंडों को परिभाषित करते हुए किंगसले डेविस लिखते हैं, 'आदर्श नियम एक प्रकार के नियंत्रण है। मानव समाज इन्हीं नियंत्रणों के बल पर अपने सदस्यों के व्यवहार पर इस प्रकार अंकुश रखता है जिससे वे सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन के रूप में कार्य करते रहे, भले ही उनकी प्राणीशास्त्रीय आवश्यकताओं में इससे बाधा पहुंचती हो। प्रो. डेविस की परिभाषा से स्पष्ट होता है कि सामाजिक मानदंड या आदर्श नियम मानव व्यवहारों को नियंत्रित करने वाले साधन हैं, इनके द्वारा मानव की मूल प्रवृत्तियों पर अंकुश रखने और उन्हें समाज के अनुकूल कार्य करने के लिए प्रेरित किया जाता है।

वुड्स के अनुसार ''सामाजिक मानदंड वे नियम हैं जो मानव व्यवहार को नियंत्रित करते हैं, व्यवस्था में सहयोग देते हैं तथा किसी विशेष स्थिति में व्यवहार की भविष्यवाणी करना संभव बनाते हैं। वुडस की परिभाषा में भी सामाजिक प्रतिमानों को नियंत्रण के रूप में स्वीकार किया गया है। नियंत्रण के द्वारा ही समाज को व्यवस्थित करने में सामाजिक मानदंड सहयोग देते हैं। चूंकि समाज में मानदंड पूर्व निश्चित होते हैं इसलिए हम इनके आधार पर मानव व्यवहार की भविष्यवाणी भी कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, बड़ों को नमस्कार करना सामाजिक मानदंड है। अतः दिन में पहली बार जब एक छात्र अपने गुरु से, पुत्र अपने पिता से, बाबू अपने अधिकारी से मिलेगा तो कैसा व्यवहार करेगा हम इसकी भविष्यवाणी कर सकते हैं।

किम्बाल यंग लिखते हैं, ''सामाजिक मानदंड समूह की अपेक्षाएँ हैं।'' इस परिभाषा से स्पष्ट है कि प्रत्येक समूह या समाज अपने सदस्यों से कुछ आशाएँ एवं अपेक्षाएँ रखता है कि उन्हें किन परिस्थितियों में क्या करना चाहिए। ये अपेक्षाएँ समाज द्वारा मान्य होती है और इन्हीं के अनुसार मानव का व्यवहार नियमित एवं संचालित होता हैं। समाज स्वीकृत इन अपेक्षाओं को ही सामाजिक मानदंड कहते हैं।

राबर्ट बीरस्टीड के अनुसार, ''सामाजिक मानदंड, संक्षेप में कार्य–प्रणालियों की प्रमाणित विधियां हैं। कार्य सम्पन्न करने का एक तरीका है जो हमारे समाज द्वारा स्वीकृत है।'' इस प्रकार बीरस्टीड ने मानदंडों की श्रेणी में तीन बातों– नियमों, अपेक्षाओं और प्रमाणित कार्य–प्रणालियों को सम्मिलित किया हैं। सामाजिक मानदंड एक प्रकार के आदर्श नियम हैं जो एक परिस्थिति विशेष में हमारे व्यवहार का मार्ग दर्शन करते हैं। सामाजिक मानदंडों के अनुसार ही समाज हमसे कुछ अपेक्षाएं करता है, अतः सामाजिक मानदंड सामाजिक अपेक्षा भी है। यह हमारे व्यवहार को मापने का एक पैमाना भी है जिसके आधार पर हम यह देख सकते हैं कि हमारा व्यवहार कितना सामाजिक है और कितना समाज विरोधी? सामाजिक मानदंड हमारे आचरण को मार्ग दर्शन देने वाला सांस्कृतिक निर्देश भी है। यह कार्यों को पूरा करने का समाज द्वारा नियोजित तरीका है और सामाजिक नियंत्रण का एक अनिवार्य साधन भी है।

हारालाम्बोस के अनुसार, प्रत्येक संस्कृति में ऐसे निर्देश बड़ी संख्या में पाये जाते हैं जो विशिष्ट परिस्थितियों में व्यवहार को निर्देशित करते हैं। ऐसे निर्देशों को ही मानदंड कहते हैं।

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सामाजिक मानदंड समाज में व्यवहार करने के निश्चित एवं प्रमाणित तरीके हैं जो समाज द्वारा स्वीकृत है और हमारे जीवन के हर क्षेत्र में विद्यमान है। उदाहरण के लिए, पत्र लिखने का एक तरीका है कि हम सर्वप्रथम अपना नाम स्थान व दिनांक आदि लिखें। उसके बाद अभिवादन के लिए, 'पूज्य पिताजी', 'प्रिय बंधु', 'मान्यवर' आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं और अंत में अपने हस्ताक्षर करते हैं। यदि हम पत्र लिखने के इन नियमों का पालन न करें तो असुविधा होगी। सामाजिक मानदंड जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पाये जाते हैं, उनकी संख्या अनगिनत है, इनकी सूची बनाना कठिन है। खाने–पीने, उठने–बैठने, नृत्य करने, वस्त्र पहनने, लिखने, गाने, बोलने, स्वागत करने, विदा करने आदि सभी से संबंधित सामाजिक मानदंड पाये जाते हैं। ये हमारे व्यवहार के पथ–प्रदर्शक हैं। इनके अभाव में मानव जीवन अव्यवस्थित हो जायेगा। इनके पालन से हम परिष्कृत होते हैं। इनका पालन करने पर समाज प्रशंसा करता है और

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

इनके विपरीत आचरण कर निंदा। ये हमारे व्यवहार को नियंत्रित करते हैं तथा सामाजिक संबंधों को नियमित करते हैं एवं समाज व्यवस्था को स्थिरता प्रदान करते हैं।

सामाजिक मानदंडों की विशेषताएँ (CHARACTERSTICS OF SOCIAL NORMS)

सामाजिक मानदंडों की प्रकृति को और अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए हम यहां उनकी विशेषताओं का उल्लेख करेंगे–

1. सामाजिक मानदंड का अर्थ उन सामाजिक नियमों से है जिनका पालन करने की अपेक्षा समाज के सभी सदस्यों से की जाती है।
2. सामाजिक मानदंडों में अनेक छोटे एवं बड़े नियम और उपनियम होते हैं।
3. सामाजिक मानदंड सभी समाजों में अनिवार्य रूप से पाये जाते हैं। हम ऐसे मानव समाज की कल्पना नहीं कर सकते हैं जिसके कोई आदर्श नियम न हो।
4. मानव समाज की आदर्श व्यवस्था लाखों वर्ष पुरानी है। इसका विकास मानव समाज के एक अंग के रूप में हुआ है क्योंकि यह मौलिक सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति में सहायक है। सामाजिक मानदंड मानव समाज के साथ ही उत्पन्न हुए हैं।
5. सामाजिक मानदंड भिन्न–भिन्न मानव समूह के बीच उत्पन्न होने वाले संघर्षों में सामाजिक अस्तित्व की रक्षा करते हैं।
6. सामाजिक मानदंडों का पालन बाह्य दबाव के कारण ही नहीं किया जाता वरन् इसलिए भी किया जाता है कि लंबे समय से उनका पालन करने के कारण वे मानव व्यवहार के अभिन्न अंग बन चुके हैं और मानव स्वचालित रूप से अपने व्यवहार में आजीवन उनका पालन करता है।
7. सामाजिक मानदंड मानव का पथ–प्रदर्शन करते हैं तथा उसके अपने व अन्य व्यक्तियों के बारे में निर्णयों को निर्धारित करते हैं। सामाजिक मानदंडों के पालन तथा उल्लंघन से ही व्यक्तित्व तथा समाज की बहुत सी समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।
8. सामाजिक मानदंड सापेक्ष होते हैं अर्थात् सामाजिक मानदंड सभी व्यक्तियों पर अथवा सभी परिस्थितियों में समान रूप में लागू नहीं होते। उदाहरण के लिए, जो मानदंड स्त्रियों के लिए उचित हैं, वे सदैव ही पुरुषों के लिए भी उचित हों, यह आवश्यक नहीं है। सैनिक से संबंधित मानदंड डॉक्टर के मानदंडों से भिन्न होते हैं। इसी प्रकार से विवाह के मानदंड जन्मोत्सव के मानदंड से भिन्न होते हैं।
9. सामाजिक मानदंड नैतिक कर्तव्य की भावना से संबंधित होते हैं अर्थात् ये यह बताते हैं कि किसी भी व्यक्ति को विद्यमान परिस्थितियों के अनुसार ही कुछ विशेष प्रकार के व्यवहार करने चाहिए, अवश्य करने चाहिए अथवा अनिवार्य रूप से करने चाहिए। इनमें कर्तव्य पालन की भावना निहित है।
10. सामाजिक मानदंडों में विकल्प भी होते हैं। वे यह संकेत करते हैं कि किसी एक मानदंड की तुलना में दूसरा कौनसा मानदंड चुनना चाहिए लेकिन पूर्णतया किसी एक मानदंड को चुनने के लिए व्यक्ति को बाध्य नहीं किया जाता। उदाहरण के लिए, सभ्य समाज से यह अपेक्षा की जाती है कि व्यक्ति अपनी दाढ़ी बनाये। किंतु यह व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर है कि वह सेफटीरेजर, उस्तरा या बिजली की मशीन में से किसका प्रयोग करें। किसी एक का प्रयोग करने के लिए उस पर दबाव नहीं डाला जाता है।
11. सामाजिक मानदंड व्यक्ति को प्रभावित करते हैं, साथ ही उनसे प्रभावित भी होते हैं।
12. सामाजिक मानदंड लिखित एवं अलिखित दोनों ही प्रकार के होते हैं। प्रथा, परंपरा, रूढ़ियां एवं फैशन अलिखित सामाजिक मानदंड हैं तो कानून लिखित मानदंड है।
13. सामाजिक मानदंडों का संबंध सामाजिक उपयोगिता एवं आवश्यकताओं से है। अतः आवश्यकताओं के बदलने के साथ–साथ सामाजिक मानदंडों में भी परिवर्तन आता है। समय के साथ यदि उनमें परिवर्तन नहीं होता है तो वे सामाजिक कुरीतियों के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं।
14. सामाजिक मानदंडों का संबंध समाज की वास्तविक परिस्थितियों से होता है। उदाहरण के लिए, यदि समाज यह मानदंड बना दे कि हर व्यक्ति के पास अपनी कार होनी चाहिए, लेकिन कार खरीदने के पैसे एवं सुविधाओं के अभाव में यह मानदंड व्यर्थ होगा।
15. सामाजिक मानदंड सामाजिक नियंत्रण के वे साधन हैं जो मानवीय व्यवहारों को नियंत्रित एवं व्यवस्थित करते हैं। ये सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन के रूप में कार्य करते हैं।

सामाजिक मानदंडों (आदर्श नियमों) का वर्गीकरण (Classification of social norms)

सामाजिक मानदंड का विस्तृत विवेचन करने के लिए उनका वर्गीकरण करना आवश्यक है। किंतु उनका व्यवस्थित वर्गीकरण करना एक कठिन कार्य है। सभी समाजशास्त्रियों ने अपनी–अपनी सूची प्रस्तुत की है और उनमें एकमतता का अभाव है। सामाजिक मानदंडों के वर्गीकरण के लिए अपनाये गये कुछ प्रमुख आधार इस प्रकार है :

1. **मान्यता के आधार पर–** कुछ मानदंड ऐसे होते हैं जिनका पालन न करने से समाज उस व्यक्ति की थोड़ी बहुत निंदा कर देता है, जबकि कुछ मानदंडों का पालन बलपूर्वक करवाया जाता है।
2. **महत्व की मात्रा के आधार पर–** कुछ मानदंड समाज

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

में अधिक महत्वपूर्ण होते हैं जबकि कुछ कम महत्वपूर्ण।

3. **नियमों को क्रियान्वित करने की विधि के आधार पर–** कुछ मानदंडों का पालन कानून द्वारा कराया जाता है जबकि कुछ का पालन लोग अचेतन रूप में करते हैं क्योंकि वे व्यवहार के अंग बन चुके होते हैं।
4. **स्वेच्छा या स्वाभाविकता की मात्रा** के आधार पर।
5. **नियमों की परिवर्तनशीलता की तीव्रता** के आधार पर अर्थात् वे मानदंड जो धीमी गति से बदलते हैं, जैसे रूढ़ियां व प्रथाएं और वे मानदंड जो तेज गति से बदलते हैं जैसे फैशन एवं धुन।

सामाजिक मानदंडों का एक वर्गीकरण सकारात्मक व नकारात्मक है। जिन कार्यों को करने के लिए कहा जाता है, वे सकारात्मक मानदंड हैं, जैसे 'सदा सच बोलना चाहिए'। जिन व्यवहारों को करने की मनाही की जाती है, वे नकारात्मक मानदंड हैं, जैसे 'कभी चोरी नहीं करनी चाहिए।'

सामाजिक मानदंडों का एक वर्गीकरण औपचारिकता एवं अनौपचारिकता के आधार पर किया जाता है। प्रथा, जनरीति, रूढ़ि आदि अनौपचारिक मानदंड हैं, जबकि कानून औपचारिक मानदंड है।

बीरस्टीड ने सामाजिक मानदंडों का वर्गीकरण इस आधार पर भी किया है कि वे किन किन लोगों पर लागू होते हैं। इस आधार पर आपने मानदंडों को दो भागों में बाँटा है : प्रथम, सामुदायिक मानदंड एवं द्वितीय, संघात्मक मानदंड। जिन मानदंडों का संबंध सारे समाज या समुदाय से है, उन्हें सामुदायिक मानदंड कहते हैं जैसे अभिवादन करना, वस्त्र पहनना। दूसरी ओर जिन मानदंडों का संबंध किसी समूह विशेष से ही होता है, उन्हें संघात्मक मानदंड कहते हैं। उदाहरण के लिए शिक्षक को अच्छी तरह पढ़ाना आना चाहिए, यह केवल शिक्षकों तक सीमित है। 'परीक्षा में नकल नहीं करना चाहिए' यह मानदंड छात्रों तक ही सीमित है।

बीरस्टीड ने सभी प्रकार के मानदंडों को तीन श्रेणियों में बांटा है–

1. जनरीतियाँ, 2. रूढ़ियाँ, 3. कानून।

सामाजिक मानदंडों का एक वर्गीकरण इस प्रकार है– 1. निर्धारित मानदंड, 2. अधिमान्य मानदंड, 3. स्वीकृत मानदंड, 4. निषेधात्मक मानदंड। समाज द्वारा जिस प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा की जाती है, उसे निर्धारित मानदंड कहते हैं, जैसे सड़क के बायीं ओर चलना चाहिए, पुत्र को पिता की और छात्र को गुरु की आज्ञा का पालन करना चाहिए। अधिमान्य मानदंडों में विकल्प होता है और एक की तुलना दूसरे को अच्छा माना जाता है, जैसे माता–पिता को चाहिए कि वे अपने बच्चों को शिक्षा दिलायें। इस प्रकार के मानदंडों का पालन करने पर प्रशंसा की जाती है। स्वीकृत मानदंड ऐसे व्यवहार हैं जिन्हें सहन कर लिया जाता है, जैसे अध्यापक के पढ़ाते समय चुपचाप उठकर बाहर आ जाना, किसी भाषण के दौरान खांसी आने पर हल्का खांस लेना। निषेधात्मक मानदंड वे हैं जो हमारे किसी व्यवहार पर रोक लगाते हैं, जैसे माता–पिता यह ध्यान रखें कि बच्चे गली में नंगे नहीं घूमें, मेहमानों के आने पर हम तौलिया लपेट कर नहीं बैठे आदि।

प्रो. किंग्सले डेविस ने सामाजिक मानदंडों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है। जनरीतियां, रूढ़ियाँ, कानून, संस्थाएं, नैतिकता और धर्म, परिपाटी, शिष्टाचार, फैशन एवं धुन। हम यहाँ कुछ प्रमुख सामाजिक मानदंडों का उल्लेख करेंगे।

जनरीतियां अथवा लोकरीतियाँ (Folkways)

जनरीतियां अपेक्षाकृत स्थायी व्यवहार है जिनका पालन करना एक परिस्थिति में आवश्यक माना जाता है। जनरीति का अर्थ लोगों द्वारा अपनी इच्छाओं व आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपनाये गये तरीकों से लिया गया है, जिस प्रकार समाज की संस्कृति एवं विचारों में भिन्नता होती है, उसी प्रकार से समाज की जनरीतियां भी भिन्न–भिन्न होती है। जनरीतियों का पालन मनुष्य अचेतन रूप से करता रहता है, इनका विकास स्वतः एवं मानव अनुभवों के आधार पर होता है। इनका निर्माण योजनाबद्ध तरीकों से नहीं होता, अतः ये अनियोजित होती है। सभी युगों तथा संस्कृति की सभी अवस्थाओं में मनुष्यों के समस्त जीवन पर प्रारंभिक नियंत्रण जनरीतियों के एक विशाल समूह से होता रहा है और यह मानव समाज के साथ ही चली आयी है। जनरीतियां मानव की किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति अवश्य करती है। अतः आवश्यकताओं में परिवर्तन होने पर इनमें भी परिवर्तन होता रहता है। इस प्रकार जनरीतियों का उपयोगी पक्ष भी है।

लोकाचार अथवा रूढ़ियाँ (MORES)

सामान्यतः रूढ़ि शब्द का प्रयोग दकियानूसी, पिछड़े एवं बिगड़े हुए प्रथागत व्यवहारों के लिए किया जाता है जबकि 'मूरस' का अर्थ ऐसे व्यवहारों से है जिनमें समूह–कल्याण की भावना होती है। इसलिए हम Mores के लिए रूढ़ियां शब्द के स्थान पर 'लोकाचार' शब्द का ही प्रयोग करेंगे। लोकाचार को स्पष्ट करते हुए समनर के अनुसार– ''लोकाचार से मेरा तात्पर्य ऐसी लोकप्रिय रीतियों और परंपराओं से है जिनमें जनता के इस निर्णय का समावेश हो चुका है कि वे सामाजिक कल्याण में सहायक है और ये व्यक्ति पर यह दबाव डालती है कि वह अपना व्यवहार उनके अनुकूल रखे यद्यपि कोई सत्ता ऐसे करने के लिए बाध्य नहीं करती। लोकाचार मानव व्यवहार के वे मानदंड हैं जिन्हें समूह कल्याणकारी समझता है तथा इसका उल्लंघन करना समाज का अपमान करना समझा जाता है। ये एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होते हैं। जिन्हें बिना किसी विचार अथवा तर्क के स्वीकार कर लिया जाता है।'' इस प्रकार लोकाचार वे सामाजिक व्यवहार हैं जिनकी समूह द्वारा अपेक्षा की जाती है और जो नैतिकता की भावना पर आधारित होते हैं। लोकाचारों में समूह–कल्याण की भावना निहित होती है। इसलिए उन्हें अधिक दृढ़तापूर्वक स्वीकृति प्रदान की जाती

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

है। समूह द्वारा किसी लोकाचार की भावना के उल्लंघन को बहुत गंभीर समझा जाता है। लोकाचार का संबंध समूह की आधारभूत आवश्यकताओं से होता है। ये सामाजिक नियंत्रण का एक अनौपचारिक साधन है। जनरीतियाँ ही आगे चलकर लोकाचार में परिवर्तित हो जाती है।

प्रथा (CUSTOM)

प्रथा शब्द का प्रयोग ऐसी जनरीतियों के लिए होता है जो समाज में बहुत समय से प्रचलित हों। प्रथा में भी समूह–कल्याण के भाव निहित होते हैं। यही कारण है कि कई बार प्रथा एवं लोकाचार का प्रयोग पर्यायवाची के रूप में किया जाता है। जब जनरीतियों को पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तान्तरित किया जाता है तो वे प्रथाओं के नाम से जानी जाती है। प्रथाएँ नवीनता की विरोधी होती हैं और ये कार्य करने के परंपरागत मार्ग पर ही जोर देती है। डेविस के अनुसार, ''प्रथा शब्द विशेषकर उन व्यवहारों की ओर संकेत करता है जो पीढ़ी–दर–पीढ़ी होता चला आया है, अथवा प्रथाएँ वे व्यवहार हैं जिनका पालन केवल इसलिए किया जाता है कि बीते हुए समय में उनका पालन किया गया था। इस प्रकार यह लोकाचारों की अपेक्षा लोकरीतियों के अधिक निकट हैं, लेकिन यह दोनों के परंपरागत, स्वचालित तथा सामूहिक चरित्र को स्पष्ट करती है। प्रथाएँ हमारी सांस्कृतिक धरोहर हैं, उनमें तर्क होना आवश्यक नहीं हैं।

परंपरा (TRADITION)

मानव को अपने जीवन काल में दो प्रकार की विरासत मिलती है– एक प्राणीशास्त्रीय, जो कि उसे शारीरिक रचना व लक्षण प्रदान करती है। इसे हम वंशानुक्रमण कहते हैं। दूसरी समाज द्वारा प्रदत्त सामाजिक विरासत है जो व्यक्ति के जीवनयापन के लिए अनेक भौतिक और अभौतिक वस्तुएँ प्रदान करती है। घड़ी, पेन, रेडियो, टेलीविजन, पंखा, वस्त्र आदि हजारों प्रकार की वस्तुएँ भौतिक विरासत हैं। धर्म, विचार, दर्शन, प्रथाएँ, नियम, रीति–रिवाज आदि अभौतिक सामाजिक विरासत है। सामाजिक विरासत का अभौतिक पक्ष ही 'परंपरा' कहलाता है।

'Tradition' शब्द की उत्पत्ति 'Tradera' शब्द से हुई है जिसका अर्थ है, 'हस्तांतरित करना' (Handing down aor Transmission)। 'Tradition' का संस्कृत शब्द परंपरा है जिसका अर्थ है विरासत में मिलना। इस प्रकार परंपरा का संबंध उन बातों से है जो अत्यंत प्राचीन काल से चली आ रही हों और जो पीढ़ी–दर–पीढ़ी हस्तांतरित होती रही हों। इस संदर्भ में एक बात उल्लेखनीय है कि परंपरा लंबे समय से संरक्षित तो होती है किन्तु यह पूर्णतः अपरिवर्तनशील या नितांत रूढ़िवादी नहीं होती वरन् सामूहिक अनुभवों के अनुरूप इसमें आंशिक रूप में परिवर्तन होता रहता है।

परंपरा को परिभाषित करते हुए गिन्सबर्ग लिखते हैं, ''परंपरा का अर्थ उन संपूर्ण विचारों, आदतों और प्रथाओं के योग से है जो एक समूह की विशेषता है तथा जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होती रहती हैं।

रॉस के अनुसार, परंपरा का अर्थ है, चिन्तन और विश्वास करने की विधि का हस्तांतरण।

जेम्स ड्रीवर के अनुसार, ''परंपरा कानून, प्रथा, कहानी और पौराणिक कथाओं का वह संग्रह है जो मौखिक रूप में एक पीढ़ी द्वारा दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित किया जाता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि परंपराएं किसी भी समाज में प्रचलित प्रथाओं व जनरीतियों का संपूर्ण योग है जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होती रहती है। परंपराओं का पालन लोगों द्वारा बिना किसी तर्क वितर्क के स्वतः ही किया जाता है। परंपरा की विशेषताएं इस प्रकार हैं–

1. परंपराएँ लंबे समय की देन होती है, उनमें निरंतरता होती है।
2. परंपराएँ पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित की जाती है।
3. परंपराओं का पालन अचेतन रूप से एवं बिना विचारे किया जाता है।
4. परंपराओं में परिवर्तन धीमी गति से होता है।
5. परंपराओं का हस्तांतरण लिखित व मौखिक– किसी भी प्रकार से हो सकता है।
6. परंपराओं में कठोरता पायी जाती है।

परंपराओं का महत्व (Importance of Traditions)

परंपराएँ दृढ़ता की प्रबल शक्ति है। **सिसरो** के अनुसार 'यदि पूर्व की घटनाओं की स्मृतियां वर्तमान को अतीत के साथ सम्बद्ध न करें तो फिर मानव जीवन है ही क्या? परंपरा के बिना मानव जीवन विश्रृंखलित हो जायेगा। मैक्डूगल के अनुसार, –हम जीवितों की अपेक्षा मृतकों से अधिक संबंधित होते हैं। समस्याओं को सुलझाने एवं परिस्थितियों का सामना करने के पुराने ढंगों के आधार पर नये ढंगों की खोज की जा सकती है। परंपरा हमें धैर्य, साहस एवं आत्मविश्वास प्रदान करती है।

1. परंपराएँ सामाजिक जीवन को सरल बनाती है, हमारे व्यवहार का मार्गदर्शन करती है तथा समाजीकरण में योग देती है।
2. परंपराएँ सामाजिक जीवन में एकरूपता लाती है।
3. परंपराएँ व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित करती है।
4. ये व्यक्ति को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करती है।
5. परंपराओं में भूतकाल का अनुभव निहित होता है। अतः हम उनके सहारे नवीन संकटों एवं परिस्थितियों का मुकाबला आसानी से कर सकते हैं।
6. परंपराएँ राष्ट्रीय भावना के विकास में सहायक होती है। गिन्सबर्ग लिखते हैं, 'परंपराएँ राष्ट्रीयता के विकास में महत्वपूर्ण योगदान देती है। परंपरा सामाजिक तनाव को कम करके सामाजिक विकास की एक दिशा निर्धारित

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

करती है। परंपराओं से सामाजिक व धार्मिक संस्थाओं का अस्तित्व बना रहता है।''

नैतिकता तथा धर्म (Morality and religion)

नैतिकता शब्द कर्तव्य की आंतरिक भावना पर बल देता है अर्थात इसका संबंध सद् और असद् उचित और अनुचित से है। आचार संबंधी नियमों का पालन चरित्र की दृढ़ता और पवित्रता से संबंधित है। नैतिकता का पालन व्यक्ति इसलिए नहीं करता है कि उसके पूर्वज भी प्राचीन काल से ऐसा करते रहे हैं या उसके आस पास के लोग भी उसका पालन कर रहे हैं वरन् इसलिए करता है कि इसके पीछे न्याय, पवित्रता और सच्चाई के भाव होते हैं। नैतिकता का संबंध व्यक्ति के स्वयं के अच्छे और बुरे महसूस करने पर निर्भर करता है। नैतिकता प्रथा की अपेक्षा आत्मचेतना से अधिक प्रेरित होती है। नैतिकता लोकाचारों के अधिक निकट है क्योंकि उनमें भी उचित–अनुचित के भाव होते हैं। नैतिकता जनरीतियों व लोकाचारों की अपेक्षा अधिक स्थायी होती है। इसमें तार्किकता पायी जाती है। गुरविच के अनुसार, ''नैतिकता अत्यधिक गयात्मक, रचनात्मक तथा रूढ़िवादी तत्वों का विरोध करने वाली होती है। न्याय, ईमानदारी, सच्चाई, निष्पक्षता, कर्तव्यपरायणता, अधिकार, स्वतंत्रता, दया और पवित्रता आदि नैतिक धारणाएँ ही हैं।

नैतिकता का संबंध किसी विशिष्ट वर्ग के सामाजिक मानदंडों से भी है। जैसे हम कहते हैं, न्यायाधीश की नैतिकता, डॉक्टर की नैतिकता आदि। बौद्धिक एवं दार्शनिक स्तर पर नैतिकता नीतिशास्त्र या आचारशास्त्र बन जाती है। ''नीति'' शब्द असाधारण विचारकों के अमूर्त चिन्तन का विषय भी रहा है, जैसे हम कहते हैं– अरस्तू का नीतिशास्त्र आदि। नैतिकता का संबंध सामाजिक मूल्यों से है। प्रत्येक समाज के मूल्य एक–दूसरे से भिन्न होते हैं इसलिए प्रत्येक समाज के नैतिकता के नियमों में अंतर पाया जाता है।

नैतिकता का संबंध धर्म से भी है। प्रत्येक धर्म में हमें नैतिक नियम देखने को मिलते हैं। हम नैतिक नियमों का पालन धार्मिक भय के कारण भी करते हैं। क्योंकि कुछ नैतिक नियमों की उत्पत्ति ईश्वरीय एवं अलौकिक मानी जाती है। उनका पालन न करने का अर्थ है– ईश्वर को रूष्ट करना। ऐसा माना जाता है कि ईश्वरीय शक्तियाँ ही नैतिक सिद्धांतों की पुष्टि एवं उनका पोषण करती है। धार्मिक नियमों का पालन करने पर ईश्वर प्रसन्न होता है और पुरस्कार प्रदान करता है और उल्लंघन करने पर नाराज होकर दंड देता है। धार्मिक नियमों का उद्देश्य व्यक्ति को पवित्र आचरण करने का प्रोत्साहन देना और उसे सही रास्ते पर ले जाना है। धर्म में स्वर्ग एवं नरक की कल्पना की गयी है। इनके भय से भी व्यक्ति धार्मिक नियमों का पालन करता है। धार्मिक नियमों को मानना पुण्य है और उससे मुक्ति एवं स्वर्ग प्राप्त होता है जबकि इनके उल्लंघन करने पर पाप लगता है, नरक में जाना होता है। धर्म में तर्क का कोई स्थान नहीं है, वह विश्वास तथा भावनाओं पर जोर देता है।

धर्म सामाजिक जीवन को नियंत्रित एवं निर्देशित करता है। प्रत्येक धर्म में कुछ आदर्श होते हैं, उनके अनुसार आचरण करने की धर्मावलंबियों से अपेक्षा की जाती है। धर्म के महत्व को प्रकट करते हुए डासन के अनुसार, ''मानवता के संपूर्ण इतिहास में धार्मिक नियम सदैव एक महान व्यक्ति का कार्य करते रहे हैं। मानव के भाग्य का निर्माण करने, उसे परिवर्तित करने और व्यक्ति तथा समाज को घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध करने में यह नियम सदैव महत्वपूर्ण रहे हैं। धार्मिक नियमों का इतिहास उतना ही पुराना है जितनी कि मानव की सामाजिक चेतना। फ्रायड के अनुसार धर्म का मानव के अचेतन मस्तिष्क से संबंध है। धर्म नैतिकता को शक्ति प्रदान करता है और उसका संबंध दैवी शक्ति से जोड़ता है। किंतु सभी नैतिक नियम धर्म में सम्मिलित नहीं होते हैं, कुछ कम महत्वपूर्ण नैतिक नियम धर्मनिरपेक्ष भी होते हैं।

कानून (Law)

सामाजिक मानदंडों में कानून सर्वाधिक शक्तिशाली है। कानून वे नियम हैं जिनके पीछे राज्य की शक्ति होती है।

कानून को परिभाषित करते हुए मैकाइवर लिखते हैं, ''कानून नियमों की वह व्यवस्था है जिन्हें राज्यों के न्यायालयों द्वारा मान्यता प्राप्त होती है, न्यायालयों द्वारा उनकी विवेचना होती है और किसी विशेष परिस्थिति के अनुसार ही इन्हें लागू किया जाता है।''

रॉस के अनुसार, ''कानून मानव व्यवहार को नियंत्रित करने वाले औपचारिक विशिष्ट नियमों का स्वरूप है, जो उन लोगों द्वारा बनाये जाते हैं जिन्हें राज्य में राजनीतिक शक्ति प्राप्त होती है और उन्हीं सत्ताधारियों द्वारा कानून लागू किया जाता है।

हाबल के अनुसार, ''कानून एक सामाजिक नियम है जिसका उल्लंघन होने पर धमकी देने या वास्तव में शारीरिक बल प्रयोग करने का एकाधिकार एक समूह को होता है, जिसे ऐसा करने का समाज द्वारा मान्य विशेषाधिकार प्राप्त है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि कानून वे नियम हैं जिन्हें बनाने, लागू करने एवं उनका उल्लंघन करने पर दंड देने की शक्ति समाज के एक संगठित समूह में होती है, जिसे हम सरकार कहते हैं। इस वर्ष में आदिम एवं निरक्षर समाजों में कानून नहीं होते क्योंकि कानून लिखित होते हैं और उनका किसी न किसी रूप में लेखा–जोखा रखा जाता है। कुछ विद्वान इस बात को स्वीकार नहीं करते कि आदिम समाजों में प्रचलित लोकाचारों एवं जनरीतियों आदि को ही आदिम कानून की संज्ञा देते हैं। किंतु यदि हम लोकाचारों, जनरीतियों एवं कानूनों में भेद करना चाहते हैं तो हमें कानून को लिखित एवं औपचारिक नियमों के रूप में स्वीकार करना होगा।

प्रो. डेविस ने कानूनों को दो भागों में बांटा है– प्रथागत कानून और वैधानिक कानून।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

प्रथागत कानून (Customary law)

प्रथागत कानून उन समाजों में पाये जाते हैं जिसमें सामाजिक नियमों का पालन करवाने के लिए कोई विशिष्ट संगठन नहीं होते हैं। इस प्रकार के नियमों को प्रथागत कानून इसलिए कहते हैं क्योंकि वे समुदाय की अमर परंपरा के अंश होते हैं। इन्हें लागू करने के लिए कोई वैधानिक संस्था नहीं होती और ये सांस्कृतिक विरासत के भाग होते हैं। इन्हें हम जनरीतियाँ एवं पूर्णतः विकसित कानूनों के बीच की अवस्था कह सकते हैं। प्रो. डेविस के अनुसार 'आरंभ में यदि मानव समाज में कोई विधियां थीं तो वे ऐसी ही प्रथागत विधियाँ थीं। प्रथागत कानून हमें आदिम जातियों एवं कृषक समाजों में देखने को मिलते हैं। इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण अफ्रीका की बुशमैन तथा होटेण्टोट जनजातियाँ हैं।

वैधानिक कानून (Emacted Law)

जब लोकाचारों के प्रवर्तन के लिए किसी विशेष संगठन का जन्म होता है तब हम उन्हें विधि कहते हैं। आधुनिक जटिल समाजों में केवल जनमत, अनौपचारिक शक्ति और नैतिक चेतना के द्वारा ही व्यवस्था स्थापित नहीं की जा सकती, बल्कि वहाँ किसी प्रकार का राजनैतिक संगठन आवश्यक हो जाता है। जब जनसंख्या एवं राज्य के कार्य क्षेत्र में वृद्धि होती है तो सारे समुदाय से यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि वह अपराधियों को पकड़ने के लिए स्वयं दौड़ पड़े तथा उन्हें दंड दे। इस कारण हमें समाज के नियमों को लागू करने एवं व्यवस्था बनाये रखने के लिए किसी विशिष्ट संस्था की आवश्यकता पड़ती है। इसके लिए पुलिस की व्यवस्था की जाती है। सामाजिक जीवन में जटिलता एवं विभिन्नता के बढ़ने पर नवीन परिस्थितियों में प्राचीन लोकाचार अनुपयुक्त होते जाते हैं, तब समुदाय के लिए कानून के रूप में नये नियम बनाये जाते हैं। विधान मंडल द्वारा यह कार्य किया जाता है। कानूनों को औपचारिक रूप से लागू किया जाता है, उनकी व्याख्या के लिए वकील होते हैं, उनके उल्लंघन को रोकने के लिए पुलिस एवं जेल व्यवस्था होती है, उनकी रक्षा तथा निर्णय करने के लिए न्यायालय होता है, ये कानून लिखित एवं पूर्णतः परिभाषित होते हैं।

परिपाटी एवं शिष्टाचार (Convention and Etiquette)

परिपाटी एवं शिष्टाचार विशिष्ट प्रकार की लोकरीतियाँ हैं, इनका कोई गहन अर्थ नहीं होता। ये हमारे सामाजिक संबंधों में सरलता उत्पन्न करती हैं। परिपाटी किसी भी कार्य करने का एक परंपरात्मक तरीका है। यह व्यवहार के अपेक्षाकृत एक निश्चित स्वरूप को प्रकट करती हैं जिसका किसी एक विशेष परिस्थिति में पालन किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए, भारत में सड़क के बायीं ओर तथा अमरीका में सड़क के दायीं ओर चलना एक परिपाटी है। कोई व्यक्ति यह नहीं सोचता है कि यह एक पवित्र नियम है या इसके पीछे कोई रहस्य निहित है। प्रत्येक व्यक्ति इसका पालन इसलिए करता है कि उसे समाज ने स्वीकार कर लिया है और ऐसा पहले से होता आया है। वह यह भी जानता है कि यदि इस नियम का पालन नहीं किया गया तो सड़क पर चलना खतरनाक हो सकता है। परिपाटी के पालन से एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के कार्यों में बाधा डालने से बच जाता है। यह हमारे 'प्रयत्न और भूल' को दूर और मानवीय अंतःक्रियाओं के भ्रम समाप्त करती है। परिपाटी का पालन नैतिक आधार पर नहीं किया जाता वरन् इसलिए किया जाता है कि विभिन्न परिस्थितियों में यह हमारे व्यवहार को सुगम बना देती है, हमारा निर्देशन करती है। परिपाटी हमें पारस्परिक तनावों एवं संघर्षों से भी बचाती है साथ ही परिपाटी सभी लोगों को एक–सा व्यवहार करने को प्रेरित कर व्यवहार में एकरूपता लाने में सहायक होती है।

शिष्टाचार का तात्पर्य किसी कार्य को करने का एक उचित ढंग है। समाज में व्यवहार करने के कई तरीके हो सकते हैं, उनमें से हम एक अच्छा तरीका चुन लेते हैं। इस प्रकार एक कार्य को करने में व्यक्ति के सामने कई विकल्प होते हैं। इनमें प्राथमिकता का क्रम होता है और व्यक्ति सबसे उत्तम तरीके को ही चुनता हैं। उदाहरण के लिए हम अभिवादन कैसे करते है; भोजन किस तरह से करते हैं; वस्त्र किस तरह से पहनते हैं; अपने मित्रों का परिचय किस प्रकार करवाते हैं ये सभी शिष्टाचार को प्रकट करते हैं। शिष्टाचार में व्यक्ति के इरादे को भी देखा जाता हैं। बीरस्टीड ने शिष्टाचार के तीन उद्देश्य बताये हैं– 1. अन्य प्रतिमानों की तरह यह भी कुछ व्यवहारों को स्वीकृत करता है जिसका विशेष अवसरों पर प्रयोग किया जाना चाहिए। 2. यह महत्वपूर्ण सामाजिक विशेषताओं को प्रकट करता है। 3. यह उन लोगों से एक निश्चित सामाजिक दूरी बरतता है जहाँ अधिक परिचय एवं घनिष्ठता नहीं हैं। शिष्टाचार में औपचारिकता अधिक होती हैं और यह उन लोगों के साथ अधिक प्रयुक्त होता है जिनसे घनिष्ठता न हो। शिष्टाचार के आधार पर हम एक व्यक्ति के वर्ग एवं सामाजिक प्रस्थिति का भी निर्धारण कर सकते हैं। शिष्टाचार एक साधन है जिससे समाज के विभिन्न स्तर के व्यक्तियों की पहचान होती है। शिष्टाचार दूसरों के प्रति हमारी बाह्य सद्भावना को भी व्यक्त करता है।

फैशन तथा धुन (Fashion and Fad)

मानव सदैव नवीनता एवं भिन्नता के लिए परिवर्तन चाहता है व प्राचीन आदर्शों के अनुकरण के साथ नवीनता एवं परिवर्तन का प्रेमी होता है। इस विरोधाभास की पूर्ति वह इस प्रकार के सामाजिक मानदंडों द्वारा करता है जो यद्यपि थोड़े समय तक प्रचलन में रहते हैं किंतु जितने समय तक चलते हैं उतने समय तक मनुष्य उनके प्रति निष्ठा दिखलाता है। इन सामाजिक मानदंडों को फैशन, धुन या सनक कहते हैं। जनरीतियाँ, लोकाचार, प्रथा, परंपरा में अपेक्षाकृत स्थायित्व पाया जाता हैं जबकि फैशन पूर्णतः अस्थायी प्रकृति का होता है। स्पेन्सर ने फैशन को प्रथाओं के बीच पाये जाने वाले भेदों

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

को दूर करने वाला माना है। स्पेन्सर ने कहा है कि जब प्रथाओं का पतन होता है तो फैशन का अधिक प्रचलन होता है। ग्रेबिल टार्डे ने प्रथा व फैशन में भेद किया है आपके अनुसार प्रथा 'पूर्वजों का अनुकरण' है तथा फैशन 'समकालीनों का अनुकरण' है।

किम्बल यंग के अनुसार फैशन वह प्रचलन या फैली हुई रीति, तरीका, कार्य करने का ढंग, अभिव्यक्ति की विशेषता या सांस्कृतिक लक्षणों को प्रस्तुत करने की विधि है जिसे बदलने की आज्ञा स्वयं प्रथा देती है।

स्पष्ट है कि फैशन का संबंध मानवीय व्यवहार से संबंधित एक समाज अथवा समूह की एक समय विशेष में पसंद हैं। यह समय के साथ परिवर्तित होती रहती है। यह परिवर्तन समाज एवं संस्कृति द्वारा स्वीकृत होता है।

सामाजिक मानदंडों का समाजशास्त्रीय महत्व (Sociological Importance of Social Norms)

प्रत्येक समाज में सामाजिक मानदंड पाये जाते हैं जो समाज के सदस्यों के व्यवहारों को एक दिशा प्रदान करते हैं। हम ऐसे समाज की कल्पना नहीं कर सकते जिसमें सामाजिक मानदंडों का अस्तित्व न पाया जाता हो।

1. सामाजिक मानदंड सीखने की प्रक्रिया को सरल बनाते हैं।
2. सामाजिक मानदंड व्यक्ति में समूह के प्रति निष्ठा, उत्साह एवं आकांक्षाओं को जाग्रत करते हैं जो कि व्यक्ति में समाज के प्रति उत्तरदायित्व की भावना को विकसित करते हैं।
3. बीरस्टेड ने कहा है कि बिना सामाजिक मानदंडों के सामाजिक संबंध अनियमित और संभवतः खतरनाक हो जायेंगे।
4. सामाजिक मानदंड हमारे व्यवहारों एवं विचारों को प्रभावित करते हैं। इन्हीं के माध्यम से हम अपने व्यवहार को व्यवस्थित तथा समाज के अन्य सदस्यों के अनुकूल बनाते हैं जिससे सामाजिक जीवन के कार्य व्यवस्थित होते हैं।

स्पष्ट है कि सामाजिक मानदंड समाज में व्यवस्था, स्थिरता, समानता एवं एकरूपता को बनाये रखने में महत्वपूर्ण योगदान देने के साथ समाज एवं संस्कृति से अनुकूलन में सहयोग देते हैं।

महत्वपूर्ण बिन्दु

- सामाजिक संस्थाएँ व्यक्तियों एवं समितियों के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निर्मित मान्यता प्राप्त विधियाँ, नियमों की व्यवस्थाएँ अथवा कार्य प्रणालियाँ हैं।
- संस्था की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं—
  1. सुपरिभाषित उद्देश्य
  2. स्थायित्व
  3. प्रतीक
  4. नियमों की संरचना
  5. सामूहिक अभिमति
  6. सामूहिक प्रयत्न
  7. अमूर्त व्यवस्था
- संस्थाओं के सामाजिक कार्य एवं महत्व
  - ▲ मानव व्यवहार पर नियंत्रण
  - ▲ संस्कृति के वाहक
  - ▲ व्यक्ति को प्रस्थिति एवं भूमिका प्रदान करना
  - ▲ सामाजिक अनुकूलन में सहायक
  - ▲ आवश्यकताओं की पूर्ति करना
  - ▲ मार्ग दर्शन करना
- मेकाइवर एवं पेज के अनुसार हम समिति के सदस्य होते हैं, न कि संस्थाओं के।
- समिति व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जिसका निर्माण एक या अनेक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु किया जाता है।
- समिति के चार अनिवार्य तत्व हैं—
  - ▲ व्यक्तियों का समूह
  - ▲ सामान्य उद्देश्य
  - ▲ पारस्परिक सहयोग
  - ▲ ऐच्छिक सदस्यता
  - ▲ अस्थायी प्रकृति
  - ▲ मूर्त संगठन
- संगठन एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था है, जिसमें व्यक्तियों के क्रिया—कलाप दूसरों के द्वारा नियोजित होते हैं तथा उनके क्रिया—कलाप लक्ष्योन्मुखी होते हैं। ऐसी व्यवस्था को औपचारिक संगठन कहते हैं।
- औपचारिक संगठन के तीन मूल तत्व होते हैं—
  1. सुपरिभाषित उद्देश्य
  2. आवश्यक संसाधन
  3. स्पष्ट सत्तातंत्र
- संगठन कई प्रकार के होते हैं— करिश्माई नेतृत्व पर आधारित संगठन, सामंती संगठन, नौकरशाही, व्यावसायिक एवं ऐच्छिक संगठन।
- सामाजिक मानदंड समाज में व्यवहार के स्वीकृत नियम हैं।
- सामाजिक मानदंड समाज के सदस्यों के व्यवहारों को नियंत्रित एवं निर्देशित करते हैं।
- सामाजिक मानदंड समय एवं स्थान सापेक्ष होते हैं।
- जनरीतियाँ,, लोकाचार, प्रथाएँ, परंपरा, नैतिकता, परिपाटी, शिष्टाचार, फैशन, धुन इत्यादि सामाजिक मानदंड हैं।
- सामाजिक मूल्य वे सामाजिक मानक, लक्ष्य या आदर्श हैं, जिनका आन्तरीकरण समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से होता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. ''समिति प्रायः किसी उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए व्यक्तियों द्वारा मिलकर कार्य करने को कहते हैं।'' यह कथन किस समाजशास्त्री का है—

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

(अ) गिन्सबर्ग (ब) मैकाइवर एवं पेज
(स) गिलिन एवं गिलन (द) बोगार्डस

2. निम्नांकित में से कौन–सी विशेषता समिति से संबंधित है–
(अ) मूर्त संगठन (ब) स्थायित्व
(स) अनिवार्य सदस्यता (द) नियमों की संरचना

3. निम्नांकित में कौन सी समिति है–
(अ) प्रजातंत्र (ब) परिवार
(स) विवाह (द) परीक्षा

4. ''हम समिति के सदस्य होते हैं, संस्था के नहीं।'' यह कथन किस विद्वान का है–
(अ) गिन्सबर्ग (ब) मैकाइवर एवं पेज
(स) बोगार्डस (द) पारसंस

5. निम्नांकित में कौन सी संस्था है–
(अ) परिवार (ब) विवाह
(स) राष्ट्र (द) गांव

6. सामाजिक नियमों के संग्रह को–
(अ) प्रस्थिति कहते हैं (ब) समाज कहते हैं
(स) समिति कहते है (द) संस्था कहते हैं

7. निम्नलिखित में से कौन सी एक समिति है–
(अ) व्यापार संघ (ब) राज्य
(स) टेनिस क्लब (द) उपर्युक्त सभी

8. उन मानकों को क्या कहते हैं जिनके अनुसार व्यक्तियों की अन्तर्क्रियाएं निर्धारित होती हैं–
(अ) मानदंड (आदर्श नियम)
(ब) सामाजिक व्यवस्था
(स) अप्रतिमानता (द) जनमत

9. ''सामाजिक मानदंड समूह की आकांक्षाएँ हैं,'' यह कथन किस विद्वान का है–
(अ) किंग्स्ले डेविस (ब) किम्बल यंग
(स) रोबर्ट बीरस्टीड (द) वुड्स

10. निम्नांकित में से कौनसा मानदंड नहीं है–
(अ) जनरीति (ब) प्रथा
(स) विचलन (द) वैधानिक कानून

11. दैनिक जीवन के व्यवहार को नियंत्रित करने के सामान्य सिद्धांतों को क्या कहा जाता है–
(अ) समुदाय (ब) समिति
(स) सामाजिक व्यवस्था (द) सामाजिक मूल्य

12. सामाजिक मूल्यों में कौनसे तत्व निहित हैं–
(अ) ज्ञानात्मक तत्व (ब) भावात्मक तत्व
(स) क्रियात्मक तत्व (द) उपर्युक्त सभी

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. समिति को परिभाषित कीजिए।
2. संस्था को परिभाषित कीजिए।
3. हम समिति के सदस्य होते हैं न कि संस्था के। किसने कहा है?
4. संगठन से आप क्या समझते हैं?
5. औपचारिक संगठन किसे कहते हैं?
6. मूल्य को परिभाषित कीजिए।
7. सामाजिक मानदंड की परिभाषा दीजिए।
8. फैशन किसे कहते हैं?
9. शिष्टाचार का क्या अर्थ है?
10. नैतिकता से आप क्या समझते हैं?
11. जनरीति को परिभाषित कीजिए।
12. प्रथाएँ किसे कहते हैं?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. समिति की विशेषताएँ बतलाइये।
2. संस्था की विशेषताएँ बतलाइये।
3. संगठन की विशेषताओं का उल्लेख करें।
4. सामाजिक मानदंडों की विशेषताएँ बताइये?
5. मूल्यों की विशेषताएँ बताइये?
6. मूल्यों के प्रकारों का उल्लेख करें।
7. समिति एवं संस्था में दो अंतर बताइये।
8. जनरीति की विशेषताएँ बताइये।
9. परंपरा की विशेषताएँ बताइये।
10. प्रथाओं की विशेषताएँ बताइये।

निबंधात्मक प्रश्न

1. संस्था को परिभाषित कीजिए तथा संस्था की विभिन्न विशेषताओं का उल्लेख करें।
2. समिति से आप क्या समझते हैं? समिति की विशेषताओं की विस्तृत रूप से व्याख्या कीजिए।
3. मूल्यों को परिभाषित करते हुऐ मूल्यों की विभिन्न विशेषताओं का विस्तृत रूप से विवेचन करें।
4. सामाजिक मानदंडों से आप क्या समझते हैं? सामाजिक मानदंडों के विभिन्न प्रकारों की विवेचन कीजिए।

उत्तरमाला–1. (द) 2. (अ) 3. (ब) 4. (ब) 5. (ब) 6. (द) 7. (द) 8. (अ) 9. (ब) 10. (स) 11. (द) 12. (द)

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

4. सामाजिक संस्थाएँ

विवाह, परिवार एवं नातेदारी

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, मनुष्य की मूल आवश्यकताएं है रोटी, कपड़ा और मकान है परन्तु इसके अलावा भावनात्मक सुरक्षा, स्नेह की चाह तथा संबंधों में स्थायित्व उसे 'विवाह' करने के लिए प्रेरित करती है। विवाह संस्था का मूल आधार भी संबंधों में स्थायित्व और भावनात्मक सुरक्षा है। परिवार भी एक सामाजिक संस्था है जिसका उद्देश्य प्रजनन है, इस उद्देश्य की पूर्ति समाज द्वारा मान्यता प्राप्त विवाह द्वारा की जाती है। विवाह एक सामाजिक संस्था है जो कि प्रत्येक समाज में किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान रही है।

विवाह का अर्थ एवं परिभाषा–

विवाह समाज द्वारा मान्यता प्राप्त सामाजिक संस्था है जिसका उद्देश्य समाज में अनैतिकता का विलोपन है। विवाह का उद्देश्य साथ ही परिवार के संरक्षण एवं समाज के नवीन निर्माण हेतु किया गया है। भारत में जहाँ विवाह एक संस्कार के रुप में मान्य हुआ वहीं विश्व के अनेकानेक भागों में इसे अनुबंध के रुप में स्वीकार किया गया। मूलतः हम विवाह को एक ऐसी सामाजिक स्वीकृति के रुप में मानते हैं, जहाँ स्त्री और पुरुष अपने धर्मानुसार कुछ रीतिरिवाजों को पूर्ण कर एक दूसरे के साथ रहने का वचन लेते है। सुख दुख की सहभागिता के साथ सन्तानोत्पत्ति, विवाह की सार्थकता का प्रमाण बनती है।

विवाह की उत्पत्ति :

विवाह की उत्पत्ति कैसे हुई यह कहना अत्यन्त कठिन है लेकिन हरबर्ट स्पेन्सर के उद्‌विकास सिद्धान्त के प्रभाव से मार्गन ने विवाह की उत्पत्ति को बताने का प्रयास किया और उसने कठिन विकास के पांच स्तर बताये जिसमें प्रथम अवस्था रक्त संबंधी परिवार की है जिसमें रक्त का कोई भी संकोच किये बिना रक्त संबंधियों का विवाह होता था। दूसरी अवस्था समूह विवाह की है जिसमें एक परिवार के भाईयों का विवाह दूसरे परिवार की सब बहिनों के साथ होता था। तीसरी अवस्था सिंडेस्मियन परिवार की है जिसमें एक पुरुष का विवाह एक स्त्री से होता था। चौथी अवस्था पितृ सत्तात्मक परिवार की है जिसमें पुरुष का आधिपत्य था। वह एक से अधिक स्त्रियों के साथ विवाह करता था। पांचवीं और अंतिम अवस्था एक विवाह परिवार की है जिसमें एक समय में एक पुरुष एक स्त्री से विवाह करता है।

मार्गन के अनुसार विवाह के विकास की निम्नलिखित पांच अवस्था है–

1. रक्त संबंधी परिवार 2. समूह परिवार 3. सिंडेस्मियन परिवार 4. पितृ सत्तात्मक परिवार 5. एक विवाह परिवार।

किन्तु मार्गन का सिद्धान्त व्यवहारिक दृष्टि से उचित प्रतीत नहीं होता। यह जरूरी नहीं कि सभी समाजों में विवाह का विकास उपर्युक्त सभी अवस्थाओं से गुजरने के बाद ही हुआ हो। यह भी हो सकता है कि कोई एक समाज जब एक समूह विवाह की स्थिति में पहुंचा हो तब तक किसी दूसरे समाज में एक विवाह परिवार का विकास हो चुका हो और उसका अनुसरण करते हुए वह समाज भी बिना सिंडेस्मियन परिवार और पितृ सत्तात्मक परिवार की अवस्थाओं से गुजरे समूह विवाह की अवस्था से सीधा एक विवाह परिवार की अवस्था में पहुंच गया है।

विवाह की उत्पत्ति के संबंध में दूसरा सिद्धांत वेस्टर मार्क का है। इस सिद्धांत के अनुसार विवाह का स्वरूप प्रारम्भ से ही एक विवाह वाला रहा है वे कहते हैं कि आधिपत्य और ईर्ष्या की भावना के कारण पुरुष स्त्री को अपनी सम्पत्ति समझता था और उस पर एकाधिकार चाहता था इसमें वह अपनी शक्ति के बल पर सफल भी रहा। आगे चलकर शक्ति और बल प्रयोग की आवश्यकता बनी रही और पारस्परिक हित में पुरुष का यह अधिकार समाज द्वारा मान्य होकर सामाजिक रीति बन गया।

वेस्टर मार्क ने विवाह की उत्पत्ति और स्वरूप पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला तथा डार्विन के सिद्धान्त का समर्थन किया। जूकरमेन तथा मेलिनोवस्की ने भी वेस्टर मार्क के सिद्धान्त की पुष्टि की किन्तु मजूमदार और मदान ने इस सिद्धान्त पर कुछ आपत्तियां उठायी।

इसी तरह बेकोफन जैसे कुछ मानवशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों ने भी विवाह की उत्पत्ति के संबंध में अपने विचार प्रस्तुत किये है।

विवाह की विशेषताएँ–

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर विवाह की कुछ निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट होती है–

1. विवाह एक सामाजिक संस्था है जिसके द्वारा स्त्री और पुरुष में संबंध स्थापित होते हैं।
2. विवाह सामाजिक–सांस्कृतिक संस्था है, जिसे कानून द्वारा मान्यता प्राप्त है।
3. विवाह द्वारा एक परिवार का निर्माण होता है तथा संतान को वैध स्थिति तथा माता–पिता के समान अधिकार मिलते हैं।
4. विवाह एक धार्मिक कृत्य अथवा सामाजिक समझौते के रूप में हो सकता है।
5. विवाह का एक ही रूप नहीं है अर्थात् सामाजिक–सांस्कृतिक भिन्नताओं के कारण विभिन्न समाजों में इसके रूप में अन्तर है।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

6. विवाह परिवार को स्थायित्व प्रदान करता है।
7. विवाह एक सार्वभौमिक सामाजिक संस्था है।

विवाह संस्था के उद्देश्य–

गिलिन एवं गिलिन ने विवाह संस्था के निम्न उद्देश्य बताये हैं–

1. समाज की संस्कृति एवं मूल्यों की शिक्षा बच्चों को देने का माता–पिता पर उत्तरदायित्व विवाह के द्वारा ही निश्चित होता है।
2. विवाह का उद्देश्य है आर्थिक सहयोग। प्रत्येक स्थान पर विवाह के साथी कुछ श्रम–विभाजन पर सहमत होते हैं। विवाह में सम्पत्ति का प्रश्न भी सन्निहित होता है।
3. साथियों में भावनात्मक और अन्तरप्रेरणात्मक संबंधों की स्थापना।
4. वंशावली की स्थापना या पति–पत्नी जिस समूह में रहते हैं। उनके सामाजिक संबंधों को विशिष्ट रूप से नियमितता प्रदान करना।

इसके अतिरिक्त विवाह के धार्मिक उद्देश्य भी हो सकते हैं। हिन्दू लोग विवाह को धार्मिक संस्कार मानते हैं एवं विवाह का उद्देश्य भी मुख्य रूप से धर्म को मानते हैं। धर्म के माध्यम से ही वे अपने अंतिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति कर सकते हैं। कोई भी हिन्दू बिना पत्नी की सहायता के धार्मिक उत्सव नहीं मना सकता। अतः प्रत्येक हिन्दू विवाह को एक धार्मिक कर्तव्य मानता है। हिन्दुओं में विवाह अनिवार्य है।

हिन्दू विवाह के प्रकार–

संसार के विभिन्न समाजों में अनेक प्रकार की सांस्कृतिक भिन्नताओं के स्वाभाविक परिणामस्वरूप विवाह के प्रकारों में भी बहुत अधिक भिन्नता देखने को मिलती है सामान्य रूप से भिन्नताएं निम्न तीन बातों पर निर्भर करती है–

1. जीवन साथी के चुनाव का तरीका।
2. पति और पत्नियों की संख्या और
3. विवाह से संबंधित नियम।

इन तीन बातों के आधार पर मोटे तौर पर हिन्दू विवाह के दो प्रकार माने जा सकते हैं– पहला हिन्दू विवाह के परम्परागत प्रकार और दूसरा हिन्दू विवाह के आधुनिक प्रकार।

हिन्दू विवाह के परम्परागत प्रकार :

विभिन्न स्मृतिकारों ने हिन्दू विवाह के प्रकारों की अलग–अलग संख्याएं बतायी है मानव गृहसूत्र में केवल दो प्रकार के विवाहों का उल्लेख किया है ब्रह्मा और शौलक। वशिष्ठ ने छः प्रकार के विवाहों को मान्यता दी है जबकि मनु ने हिन्दू विवाह के आठ प्रकारों का उल्लेख किया। मनु द्वारा उल्लेखित प्रकार ही अधिक महत्वपूर्ण माने जाते हैं। ये आठ प्रमुख प्रकार नियमानुसार है–

1. ब्रह्म विवाह– यह विवाह सभी प्रकार के विवाहों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। याज्ञवल्क्य के अनुसार "वह विवाह जिसमें पिता ज्ञानी और सच्चरित वर को आमंत्रित करके अपनी सामर्थ्य के अनुसार अलंकारों से सुसज्जित कन्या का दान करता है, ब्रह्म विवाह कहलाता है ।

2. दैव विवाह– प्राचीनकाल में यज्ञ और धार्मिक अनुष्ठानों का अधिक महत्व था इन पवित्र धार्मिक कार्यों को सम्पन्न करवाने वाले पुरोहितों से जब वस्त्र और आभूषणों से अलंकृत कन्या का विवाह करवा दिया जाता था तो उसे दैव विवाह कहते थे। वर्तमान में इस प्रकार के विवाहों का प्रचलन नहीं है।

3. आर्ष विवाह– आर्ष शब्द का संबंध ऋषि से है। इस प्रकार के विवाह में जब एक ऋषि गाय और बैल का जोड़ा कन्या के पिता को भेंट करता था तो यह माना जाता था कि वह ऋषि विवाह करने का इच्छुक है। ऐसी स्थिति में कन्या का पिता विधिवत तरीके से अपनी लड़की का विवाह उस ऋषि से कर देता था। आधुनिक समय में इस प्रकार के विवाह समाप्त हो गये हैं।

4. प्राजापत्य विवाह– वह विवाह जिसमें कन्या का पिता अपनी पुत्री का कन्यादान वर को करते हुये यह कहता है "तुम दोनों एक साथ रहकर आजीवन धर्म का आचरण करो," इस प्रकार सम्मानपूर्ण श्रेष्ठ व्यक्ति को अपनी पुत्री का कन्यादान करना तथा धर्म पालन का उपदेश देना ही प्राजापत्य विवाह कहलाता है।

5. असुर विवाह– एक प्रकार का क्रय विवाह अर्थात् कन्या के माता–पिता अथवा अभिभावक को अपनी सामर्थ्य के अनुसार वधू मूल्य देकर वधू प्राप्त करना असुर विवाह है। यह श्रेष्ठ विवाहों की श्रेणी में नहीं आता है। कन्या का मूल्य देना कन्या के सम्मान तथा परिवार में इसके स्थान की क्षतिपूर्ति का आधार माना गया।

6. गान्धर्व विवाह– एक प्रकार का प्रेम विवाह जिसमें दोनों प्रेमियों के स्वजनों की स्वीकृति आवश्यक नहीं। याज्ञवल्क्य के अनुसार "प्रेम द्वारा होने वाले विवाह को गान्धर्व विवाह कहते हैं। प्राचीन काल में इस प्रकार के विवाह गान्धर्वों द्वारा किये जाते थे, इसलिये इन्हें गान्धर्व विवाह कहा गया।

7. राक्षस विवाह– युद्ध में कन्या का अपहरण कर किया गया विवाह राक्षस विवाह है। राक्षस विवाहों का प्रचलन उस समय अधिक था जब युद्धों का महत्व था। युद्ध में स्त्री का हरण करके उससे विवाह कर लिया जाता था। आधुनिक समय में इस प्रकार के विवाह समाप्त हो चुके हैं जो गैर कानूनी है।

8. पैशाच विवाह :– नींद में सोई हुई अथवा नशे में उन्मत्त अथवा राह में जाती हुई लड़की का शील भंग करके किया जाने वाला विवाह पैशाच विवाह है। यह हिन्दू विवाहों में सबसे निम्न कोटि का विवाह है। वर्तमान समय में इस प्रकार का कृत्य अपराध की श्रेणी में आता है।

उपरोक्त हिन्दू विवाह के 8 प्रकारों में से प्रथम चार

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

ब्राह्म, देव, आर्ष और प्राजापत्य विवाह उच्च श्रेणी का माना जाता है। वर्तमान काल में समाज में ब्राह्म विवाह का ही अधिक प्रचलन हैं कहीं–कहीं गान्धर्व व असुर विवाह का भी प्रचलन है।

पति और पत्नी की संख्या के आधार पर विवाह के दो मुख्य प्रकार है–

1. एक विवाह 2. बहु विवाह

बहु विवाह के तीन प्रकार हैं :–

- बहु पत्नी विवाह
- बहु पति विवाह और
- समूह विवाह

बहु पति विवाह भी दो प्रकार का होता हैं :–

1. भ्रातृ बहु पति विवाह और
2. अभ्रातृ बहु पति विवाह

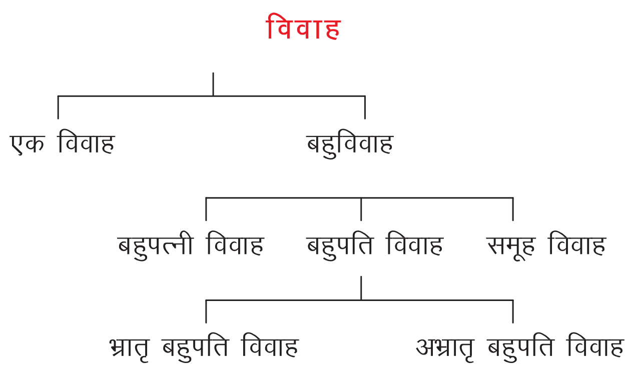

1. एक विवाह– इसका अभिप्राय यह है कि एक पुरुष या एक स्त्री का एक समय में एक ही स्त्री या एक ही पुरुष से विवाह। एक विवाह (Monogamy) की यह प्रथा यूरोपीय और अमेरीकन संस्कृतियों में अधिकांश रूप से पायी जाती है। मलाया द्वीप में भी पायी जाती है और भारत में हिन्दुओं में भी पायी जाती है।

2. बहुविवाह :– एक ही समय में जब एक पुरुष के एक से अधिक पत्नियाँ होती हैं या एक स्त्री के एक से अधिक पति होते हैं तो ऐसे विवाह को बहु विवाह (Polygamy) कहते हैं। बहु विवाह के निम्नलिखित प्रमुख स्वरूप है–

● **बहुपत्नी विवाह** : एक पुरुष के एक ही समय में एक से अधिक पत्नियाँ होना बहु पत्नी विवाह कहलाता है। उदाहरण के लिये नागा, गोंड, बैगा, टोडा, लुशाई आदि।

● **बहुपति विवाह** : एक स्त्री के एक ही समय में एक से अधिक पति होना बहु पति विवाह (Polyandry) कहलाता है। उदाहरण के लिये तियाण, खस, कोटा, लछाखी बोटा, कश्मीर से लेकर आसाम तक के क्षेत्र में रहने वाले इंडो आर्यन और मंगोलॉयड। बहुपति विवाह का प्रचलन तुलनात्मक रूप में सीमित है। भारत में बहु पति विवाह दो प्रकार का है :–

(अ) भ्रातृ बहुपति विवाह : खस और टोडा जनजाति की तरह जब कई भाई मिलकर एक स्त्री के पति होते हैं तो इस प्रकार के विवाह को भ्रातृ बहुपति विवाह कहते हैं।

(ब) अभ्रातृ बहुपति विवाह : ऐसे विवाह में पतियों के बीच निकट संबंध नहीं होता है और पत्नी थोड़े–थोड़े समय के लिए सभी पतियों के यहाँ जाकर रहती है, इस विवाह का प्रचलन भी टोडाओं में पाया जाता है,

● **समूह विवाह** : यह विवाह का वह स्वरूप है जिसमें पुरुषों का एक समूह स्त्रियों के समूह से विवाह करता है और प्रत्येक पुरुष उस समूह की प्रत्येक स्त्री के साथ संबंध रख सकता है, ऐतिहासिक प्रमाणों से समूह विवाह की पुष्टि नहीं होती है। कुछ आदिम जन–जातियों में नातेदारी शब्दावली के आधार पर समूह विवाह होने की कल्पना की गई है।

हिन्दू विवाह–धार्मिक संस्कार है। के.एम. कापड़िया अपनी पुस्तक भारत में विवाह और परिवार में लिखते हैं ''जब हिन्दू विचारकों ने धर्म को विवाह का प्रथम तथा सर्वोच्च उद्देश्य तथा सन्तानोत्पादन को दूसरा प्रमुख उद्देश्य माना तो विवाह पर धर्म का आधिपत्य हो गया। हिन्दू विवाह एक संस्कार है। यह पवित्र समझा जाता है क्योंकि यह तभी पूर्ण होता है जबकि यह पवित्र कृत्य पवित्र मन्त्रों के साथ किया जाये।''

'संस्कार' शब्द का अर्थ किसी सभ्यता या संस्कृति से नहीं है वरन् संस्कार एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके माध्यम से व्यक्ति का विशेष प्रकार से समाजीकरण किया जाए। संस्कार कर्मकाण्डी नहीं है बल्कि व्यक्ति के विशेष क्रिया पक्षों से जुड़ा हुआ शब्द है। जो समय समय पर मनुष्य को दिशा निर्देश देते हैं। विवाह के द्वारा एक व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है जो अन्य सभी आश्रमों का मूल है। हिन्दू धर्मशास्त्रों में जिन चार पुरुषार्थों का उल्लेख किया गया है उनकी पूर्ति गृहस्थाश्रम में ही सम्भव है। ये चार पुरुषार्थ है धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। हिन्दू लोग यह विश्वास करते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति तीन प्रकार के ऋणों के साथ जन्म लेता है। ये तीन प्रकार के ऋण हैं– पितृ ऋण, देव ऋण और ऋषि ऋण। पितरों के ऋण से उऋण होने के लिये श्राद्ध के अवसर पर पितरों का तर्पण, पिण्डदान आदि किये जाते हैं और ये करने का अधिकार धर्मशास्त्रों के अनुसार मुख्य रूप से संतान का ही होता है। संतान की प्राप्ति हिन्दू विवाह पद्धति के अन्तर्गत कुछ धार्मिक कृत्यों को सम्पादन कर विवाह की पूर्णता के लिये आवश्यक है। इन धार्मिक कृत्यों में होम, पाणिग्रहण, सप्तपदी आदि प्रमुख हैं। मंत्रों के उच्चारण के साथ अग्नि में लाजाओं का होम किया जाता है और अग्नि हिन्दुओं के तैंतीस कोटि देवी–देवताओं में से एक है। पाणिग्रहण के अन्तर्गत कन्या का पिता या संरक्षक हाथ में जल लेकर वेदमंत्रों का उच्चारण करते हुए लड़के ''वर'' को कन्या का दान करता है जिसे स्वीकार करके वर अग्नि तथा भगवान को साक्षी मानकर वधू के हाथ को अपने हाथ में लेकर पाणिग्रहण करता है तथा वेद मन्त्रों के

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

उच्चारण के साथ वर तथा वधू कुछ प्रतिज्ञाएँ करते हैं तदनन्तर दोनों गाँठ बान्धकर अग्नि के समक्ष उत्तर–पूर्व की दिशा में सात कदम एक साथ चलते हैं जिसे सप्तपदी कहते हैं। एक हिन्दू पुरुष अपने जीवन में अनेक संस्कार (आमतौर पर) सम्पादित करता है। इन संस्कारों का सम्पादन वह क्रमशः एक के बाद एक करके पूरा करता है। ये संस्कार क्रमशः हैं गर्भधान, पुंसवन, सीमन्तोनयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण, कर्णछेदन, विद्यारम्भ या पट्टीपूजन उपनयन विवाह और अन्त्येष्टि। हिन्दू धर्मशास्त्रों ने इन सोलह संस्कारों के सम्पादन का विधान किया है। विवाह संस्कार द्वारा एक हिन्दू स्त्री व पुरुष गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके धार्मिक व सामाजिक दृष्टि से पूर्णता प्राप्त करते हैं।

हिन्दुओं में विवाह को पवित्र ईश्वर द्वारा निश्चित तथा जन्मजन्मान्तर का गठबन्धन माना जाता है। चूंकि विवाह ईश्वर द्वारा निश्चित पवित्र गठबन्धन है इसलिये यह अटल और अटूट है। विवाह करने वाले वर या वधू दोनों में से किसी भी एक पक्ष को यह अधिकार नहीं है कि वह इस बन्धन को तोड़ सके। जन्मजन्मान्तर का गठबन्धन होने से एक हिन्दू स्त्री पति की मृत्यु के बाद भी पति से बन्धी हुई मानी जाती है।

हिन्दू धर्मशास्त्रों ने विवाह के उद्देश्यों का निर्धारण करते समय धार्मिक कर्तव्यों के पालन को पहला स्थान दिया। धार्मिक कर्तव्यों में यज्ञ सबसे महत्त्वपूर्ण है। इन यज्ञों की सँख्या पाँच है। ये यज्ञ हैं ब्रह्मायज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ और अतिथियज्ञ इन यज्ञों को सम्पन्न करने के लिये पत्नी की आवश्यकता होती है। एक गृहस्थ के लिए कुछ धर्मशास्त्रों ने इन पंच महायज्ञों की व्यवस्था की हैं। यह विवेचन इस बात की स्पष्ट धोषणा है कि हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार है।

हिन्दू विवाह से सम्बन्धित सामाजिक विधान : समय समय पर हिन्दू विवाह से सम्बन्धित अनेक सामाजिक विधान बनाये गये जिसमें प्रमुख विधान निम्नलिखित हैं–

1. सतीप्रथा निषेध अधिनियम, 1829
2. हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1856
3. बाल विवाह निरोधक अधिनियम, 1929
4. अलग रहने एवं भरण पोषण हेतु हिन्दू विवाहित स्त्रियों का अधिकार अधिनियम, 1946
5. दहेज निरोधक अधिनियम, 1961
6. विशेष विवाह अधिनियम, 1954
7. हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955

मुस्लिम विवाह– मुसलमानों में विवाह के लिए निकाह शब्द का प्रयोग किया जाता है। मुस्लिम विवाह की परिभाषा देते हुये डी.एफ मुल्ला कहते हैं ''निकाह (विवाह) एक शिष्ट सामाजिक समझौता है जिसका उद्देश्य संतान उत्पन्न करना एवं उनको वैध घोषित करना हैं। ''के.एम. कापड़िया मानते हैं कि ''इस्लाम में विवाह एक अनुबन्ध है जिसमें दो साक्षियों (प्रत्येक पक्ष में एक साक्षी) के हस्ताक्षर होते हैं। इस अनुबन्धन का प्रतिफल ''मेहर'' वधू को दिया जाता हैं। इसकी रकम कानून द्वारा निर्धारित नहीं होने से एक दीनार से ऊपर घटती बढ़ती रहती है।'' इन परिभाषाओं से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं–

1. मुस्लिम विवाह एक सामाजिक समझौता हैं।
2. विधि द्वारा मान्य समझौते के तीनों आवश्यक तत्व प्रस्ताव, स्वीकृति एवं प्रतिफल मुस्लिम विवाह में सम्मिलित हैं।

मुस्लिम विवाह के प्रकार– मुस्लिम समाज में निम्न प्रकार के विवाह पाये जाते हैं–

1. वैध विवाह– ऐसा विवाह जो मुस्लिम विवाह की समस्त शर्तों को पूरा करते हुये किये गये हैं वैध विवाह कहते हैं। हमारे देश के अधिकांश मुसलमानों में विवाह के इसी स्वरूप का प्रचलन हैं। इस विवाह की प्रकृति आम तौर पर तब तक स्थायी होती है जब तक कि कोई पक्ष दूसरे पक्ष को तलाक नहीं दे। इस प्रकार के विवाह में वर और वधू की स्वीकृति आवश्यक होती है। नाबालिग होने की स्थिति में संरक्षक की अनुमति/स्वीकृति आवश्यक होती है। प्रत्येक पक्ष में एक साक्षी होता है तथा काजी की उपस्थिति अनिवार्य होती है। शरीयत के अनुसार अन्य आवश्यक शर्तें पूर्ण करते हुए विवाह किया जाता हैं।

2. मुताह विवाह– इस विवाह की प्रकृति अस्थायी होती है अर्थात् यह विवाह पति और पत्नी के बीच एक निश्चित अवधि के लिये किया गया समझौता है जैसे ही समझौते की अवधि समाप्त होती है विवाह सम्बन्ध भी समाप्त हो जाता है। मुताह विवाह में भी मेहर की रकम निश्चित की जाती है जिसे विवाह की अवधि समाप्त होते ही पति.पत्नी को चुकाता है। इस विवाह के द्वारा उत्पन्न सन्तान को वैध माना जाता है तथा उसका पिता की सम्पत्ति पर अधिकार भी होता है। वर्तमान समय में इस विवाह का प्रचलन समाप्त होता जा रहा है।

सन् 1939 में मुस्लिम विवाह विच्छेद अधिनियम पारित किया गया और मुस्लिम स्त्रियों की विवाह विच्छेद सम्बन्धी सभी निर्योग्यताएँ दूर कर उन्हें व्यापक अधिकार प्रदान किये गये। अधिनियम के प्रावधानों के अनुसार यदि पति का चार वर्षों से कोई पता न हो, दो वर्ष से पत्नी का भरण–पोषण करने में असमर्थ हो, बिना किसी उचित कारण के तीन वर्षों से वैवाहिक कर्तव्य को निभाने में असमर्थ रहा हो, सात या अधिक वर्षों के लिए पति को जेल की सजा मिली हो, पति पागल हो, कोढ़ी हो, पत्नी के साथ क्रूरतापूर्ण व्यवहार करता हो, उसके धार्मिक कार्यों में रुकावट डालता हो, उसकी सम्पत्ति को बेचता हो, सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकारों में बाधा उत्पन्न करता हो, सभी पत्नियों के साथ समानता का व्यवहार नहीं करता हो आदि आधारों पर विवाह विच्छेद की मांग का अधिकार मुस्लिम

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

स्त्रियों को दिया गया। इस अधिनियम के पारित होने से पहले मुस्लिम स्त्री को बिना पति की स्वीकृति के विवाह विच्छेद का अधिकार नहीं था।

ईसाई विवाह–ईसाई विवाह की परिभाषा देते हुए क्रिश्चियन बुलेटिन में कहा गया है कि "विवाह समाज में एक पुरुष तथा एक स्त्री के बीच एक समझौता है जो साधारणतः सम्पूर्ण जीवन भर के लिये होता है और इसका उद्देश्य परिवार की स्थापना है। इस परिभाषा से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं–

1. ईसाई विवाह स्त्री पुरुष के बीच एक समझौता है।
2. यह समझौता आजीवन रहता है।
3. यह समझौता जीवन भर के लिये किये जाने के कारण पति और पत्नी के सम्बन्धों में स्थिरता लाता है।
4. इस समझौते के द्वारा सन्तानोत्पत्ति के माध्यम से परिवार का निर्माण किया जाता है।

ईसाई विवाह के प्रकार : ईसाइयों में निम्नलिखित दो प्रकार के विवाहों का प्रचलन है–

1. धार्मिक विवाह : ये विवाह गिरजाघरों में पादरी द्वारा वर व वधू को पति पत्नी घोषित करने के साथ सम्पन्न होता है अधिकांशतः ऐसे विवाह नियोजित होते हैं।

2. सिविल मैरिज : विवाह के इच्छुक युवक व युवती को मैरिज रजिस्ट्रार, पति–पत्नी घोषित कर देता है।

ईसाई विवाह से सम्बन्धित विधान : ईसाई विवाह से सम्बन्धित विधान निम्नलिखित हैं–

1. भारतीय विवाह विच्छेद अधिनियम 1869
2. भारतीय ईसाई विवाह अधिनियम 1872

ईसाई धर्म की दो शाखाएँ हैं रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट रोमन कैथोलिक विवाह विच्छेद को स्वीकार नहीं करते हैं जबकि प्रोटेस्टेण्ट परिस्थिति में इसे स्वीकार करते हैं। 1869 में पारित भारतीय विवाह विच्छेद अधिनियम के अनुसार एक ईसाई स्त्री भी उन्हीं आधारों पर विवाह विच्छेद की माँग कर सकती है जिन आधारों पर हिन्दू स्त्री को विवाह विच्छेद की मांग का अधिकार है।

भारतीय ईसाई विवाह अधिनियम 1872 के अनुसार विवाह के लिये लड़के की आयु 16 वर्ष और लड़की की आयु 13 वर्ष होना अनिवार्य है। लड़के और लड़की की आयु इससे कम होने पर उनके संरक्षक की स्वीकृति अनिवार्य है। विवाह के समय दोनों में से किसी का भी पहला जीवन साथी नहीं होना चाहिये। पादरी या सरकार द्वारा लाइसेन्स प्राप्त व्यक्ति अथवा सरकार द्वारा नियुक्त मैरिज रजिस्ट्रार दो ईसाईयों के बीच विवाह करवा सकते हैं। मैरिज रजिस्ट्रार की अनुपलब्धता पर जिला मजिस्ट्रेट विवाह करवा सकता है। विवाह के समय दोनों पक्ष पादरी अथवा मैरिज रजिस्ट्रार के सम्मुख दो गवाहों की मौजूदगी में ईश्वर की शपथ लेकर वैधानिक रूप से एक दूसरे को पति–पत्नी स्वीकारते हैं। एस.के.गुप्ता के अध्ययन के अनुसार भारत में ईसाइयों में अधिकांश विवाह 21 से 25 वर्ष की आयु में होते हैं।

"परिवार"

"परिवार समाज की प्रथम पाठशाला है।"

परिवार का अर्थ–

परिवार का अंग्रेजी रूपान्तरण है family। family शब्द लेटिन भाषा के शब्द famulu से निकला है जिसका मूल अर्थ माता–पिता, बच्चों, सेवकों एवं दासों के एक समूह से है।

परिवार मानव समाज की एक मौलिक एवं सार्वभौमिक इकाई है। प्रत्येक समाज की संरचना में परिवार केन्द्रीय इकाई है, जो किसी न किसी रूप में संसार के सभी समाजों में पायी जाती है। परिवार में स्त्री–पुरुष दोनों को सदस्यता प्राप्त रहती है। प्रत्येक समाज में चाहे वह आदिम हो या आधुनिक, परिवार का होना आवश्यक है, क्योंकि बिना परिवार के समाज का अस्तित्व संभव नहीं है। मनुष्य मरता है परन्तु परिवार की सहायता से मानव जाति अमर हो गई है, क्योंकि समाज में जो व्यक्ति मर जाते हैं, उनके रिक्त स्थानों को परिवार ही नयी संतानों से भरकर पूर्ति कर देता है।

परिवार की परिभाषा–परिवार की प्रमुख परिभाषाएँ निम्नानुसार हैं–

बील्स एवं हाईजर के अनुसार, संक्षेप में परिवार को सामाजिक समूह के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसमें सदस्य रक्त संबंधों द्वारा परस्पर बँधे रहते हैं।

बोगाड्‌र्स के अनुसार, परिवार एक छोटा सामाजिक समूह है जिसके सदस्य माता–पिता एवं एक या अधिक बच्चे होते हैं जिनमें स्नेह एवं उत्तरदायित्व का समान हिस्सा होता है तथा जिसमें बच्चों का पालन–पोषण उन्हें स्वनियंत्रित एवं सामाजिक प्रेरित व्यक्ति बनाने के लिए होता है।

मेकाइवर एवं पेज के अनुसार, परिवार एक ऐसा समूह है जो लिंग संबंधों के आधार पर परिभाषित किया जा सकता है, जो इतना छोटा एवं स्थायी है कि जिसमें संतानोत्पत्ति एवं उनका पालन–पोषण किया जा सके।

मजूमदार एवं मदान के अनुसार, परिवार व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जो एक ही छत के नीचे रहते हैं, वंश तथा रक्त संबंधी सूत्रों से सम्बद्ध रहते हैं तथा स्थान, हित और कृतज्ञता की अन्योन्याश्रितता के आधार पर जाति की जागरूकता रखते हैं।

आगबर्न एवं निमकॉफ के अनुसार, "परिवार, पति एवं पत्नी की संतान रहित या संतान सहित या केवल पुरुष या स्त्री के बच्चों सहित कम या स्थायी समिति है।"

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि परिवार वैवाहिक बंधन एवं रक्त संबंधों पर आधारित एक उपयोगी एवं अनिवार्य समुदाय है जिसमें पति–पत्नी और बच्चे नियमित

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

जीवन व्यतीत करते हुए एक ही स्थान पर रहते हैं।

परिवार

परिवार की विशेषताएँ

परिवार की विशेषताओं को निम्नलिखित दो भागों में बाँटा जा सकता है–

परिवार की सामान्य विशेषताएँ–परिवार की सामान्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

1. पति और पत्नी का सम्बन्ध : पति और पत्नी का सम्बंध समाज स्वीकृति से विवाह के पश्चात् स्थापित होता है और आजीवन इसे निर्वाहित करने की अपेक्षा की जाती है।

2. विवाह का कोई न कोई स्वरूप : प्रत्येक समाज में, परिवार में कुछ निश्चित नियमों के अन्तर्गत पति और पत्नी के सम्बंध निर्वाहित होते है। यद्यपि पूर्व में कुछ जनजातियो में इसका स्वरुप बहुविवाह एवं समूह विवाह के रुप में भी हुआ करता था।

3. वंश परम्परा या नामकरण : प्रत्येक परिवार में उत्पन्न होने वाली सन्तानों का नामकरण माता के वंश के आधार पर या पिता के वंश के आधार पर और कभी–कभी माता–पिता के वंश के साथ साथ स्थान के आधार पर भी किया जाता हैं।

4. बच्चे की उत्पत्ति, पालन–पोषण और आर्थिक सहायता : प्रत्येक परिवार अपनी वंश परम्परा को बनाये रखने के लिये संतानोत्पत्ति करता हैं। उनका पोषण करता है और कुछ न कुछ ऐसी आर्थिक व्यवस्था करता है जिससे परिवार के सदस्यों की आवश्यकतायें पूरी होती रहें।

5. सामान्य निवास : सामान्य निवास का अर्थ है कि परिवार के सदस्य एक साथ एक ही छत के नीचे रहते हैं और उनका खाना एक ही रसोई में बनता है।

परिवार की विशिष्ट विशेषताएँ : परिवार का स्वरूप चाहे जो भी उसकी कुछ विशिष्ट विशेषताएँ उसे दूसरे सामाजिक समूहों से अलग करती हैं और उसे व्यक्ति तथा समाज के लिये अत्यावश्यक तथा महत्त्वपूर्ण बनाती है। ये विशिष्ट विशेषताएँ निम्नलिखित हैं जिनका उल्लेख मैकाइवर और पेज ने अपनी पुस्तक ''समाज'' में किया है–

1. सार्वभौमिकता : परिवार का संगठन सार्वभौमिक है। परिवार प्रत्येक समाज में पाया जाता है चाहे वह समाज सामाजिक विकास की किसी भी अवस्था में हो। अभिप्राय यह है कि परिवार अतीत काल में भी था वर्तमान समय में भी है और भविष्य में भी रहेगा।

2. भावात्मक आधार : मनुष्य में अनेक स्वाभाविक मूल प्रवृत्तियाँ पायी जाती है जिसमें से ''भावना'' भी एक स्वाभाविक मूल प्रवृत्ति है। परिवार के सदस्य इसी भावना के आधार पर एक दूसरे से गहराई और तीव्रता के साथ जुड़े रहते हैं। पति पत्नी का पारस्परिक प्यार, त्याग और समर्पण माता–पिता और अन्य बुजुर्गों का अपनी सन्तान के प्रति वात्सल्य, माता का अपने बच्चों के प्रति अथाह प्रेम उसे बच्चों के लिये बड़ा से बड़ा त्याग करने के लिये प्रेरित करता है।

3. सीमित आकार : अपनी जैविकीय दशाओं के कारण परिवार सीमित आकार का होता है। परिवार का सदस्य वही हो सकता है जिसने या तो परिवार में जन्म लिया है या परिवार में विवाह किया है। ''हम दो हमारे एक'' की विचारधारा के कारण आधुनिक युग में परिवार रक्त समूह से पृथक हो गया है और केवल पति पत्नी और बच्चे मिलकर परिवार का निर्माण करते हैं।

4. रचनात्मक प्रभाव : परिवार व्यक्ति का प्रथम सामाजिक पर्यावरण है। इस रूप में कि वह परिवार में जन्म लेता है और कुछ वर्षों तक उसी में सीमित रहता है। व्यक्ति बचपन में कच्ची मिट्टी के समान होता है उसे किसी भी रूप में ढाला जा सकता है। चूंकि परिवार बच्चे की प्रथम पाठशाला है और ''माता–पिता बच्चे की प्रथम दो पुस्तकें हैं'' इसलिये व्यक्ति पर बचपन में जो संस्कार पड़ जाते हैं वे अमिट रहते हैं और आगे चलकर व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास उन्हीं संस्कारों पर होता है।

5. सामाजिक संरचना में केन्द्रीय स्थिति : परिवार सामाजिक संगठन की प्रारम्भिक और केन्द्रीय इकाई है और सम्पूर्ण सामाजिक ढाँचा परिवार पर आधारित है। कई परिवारों से मिलकर ही वंश, गोत्र, उपजाति, जाति, समुदाय, एवं समाज बनता है। सरल तथा छोटे समाजों में सम्पूर्ण सामाजिक संरचना परिवार की इकाइयों से निर्मित होती है।

6. सदस्यों का असीमित उत्तरदायित्व : परिवार में सदस्यों का उत्तरदायित्व असीमित होता है। परिवार का प्रत्येक सदस्य परिवार के किसी भी छोटे अथवा बड़े कार्य को निजी हित के रूप में नहीं वरन् अपना कर्तव्य समझकर अपनी क्षमता से भी अधिक प्रयत्नों द्वारा पूरा करने का प्रयास करता है। यद्यपि परिवार में श्रम विभाजन होता हैं।

7. सामाजिक नियमन : परिवार समाज की केन्द्रीय इकाई होने और सम्पूर्ण सामाजिक ढ़ाँचा परिवार पर आधारित होने के कारण पारिवारिक नियम समाज को व्यवस्थित रूप देने में आधारभूत होते हैं। पारस्परिक सम्बन्धों, शिष्टाचार, रीतियों, प्रथाओं, कर्त्तव्यबोध आदि द्वारा व्यक्ति पर नियन्त्रण रखकर परिवार सामाजिक जीवन को नियमित बनाता है।

8. अस्थायी एवं स्थायी प्रकृति : परिवार एक समिति भी है और संस्था भी है। समिति के रूप में परिवार अस्थायी है क्योंकि परिवार पति, पत्नी, बच्चों आदि से मिलकर बनता है। बच्चे के जन्म, विवाह, तलाक, मृत्यु आदि कारणों से

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

परिवार के आकार में परिवर्तन हो सकता है। संस्था के रूप में परिवार स्थायी है वह आदिकाल से चला आ रहा है। समाज के सदस्यों ने परिवार को सुचारू रूप से चलाने के लिये नियम और कार्य प्रणालियाँ बनायी हैं वे उनके न रहने पर भी बने रहते हैं।

परिवार के प्रकार– परिवार के कुछ प्रमुख निम्नानुसार हैं–

परिवार की प्रकृति के आधार पर– परिवार की प्रकृति के आधार पर परिवार दो प्रकार का होता है–पहला केन्द्रीय या एकाकी परिवार दूसरा संयुक्त परिवार।

केन्द्रीय या एकाकी परिवार– इस प्रकार का परिवार पति–पत्नी और अविवाहित बच्चों को लेकर बनता है। वर्तमान में भारतीय समाज में इस प्रकार के परिवारों की संख्या बढ़ती जा रही है।

संयुक्त परिवार– जब दो या दो से अधिक पीढ़ी के विवाहित सदस्य एक साथ रहते हों अथवा या तीन से अधिक पीढ़ियों के सदस्य साथ–साथ एक ही घर में निवास करते हैं तो वह संयुक्त परिवार है। जैसा कि एस.सी. दुबे का मत है– जब कई मूल परिवार एक साथ रहते हों, एक ही स्थान पर भोजन करते हों और एक आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करते हों तो उनके सम्मिलित रूप को संयुक्त परिवार कहा जाता है।

विवाह के आधार पर– विवाह के आधार पर परिवार तीन प्रकार का होता है। एक विवाही परिवार, बहुविवाही परिवार और समूह विवाही परिवार।

एक विवाही परिवार : एक विवाही परिवार से तात्पर्य है जब कोई स्त्री अथवा पुरुष एक समय में एक पुरुष अथवा एक स्त्री से विवाह करते हैं। पति अथवा पत्नी की मृत्यु के बाद वे चाहे तो दूसरा विवाह कर सकते हैं।

बहुविवाही परिवार : जब कोई पुरुष या स्त्री एक समय में एक से अधिक स्त्री या पुरुष से विवाह हैं तो उसे बहुविवाही परिवार कहते हैं। ये दो प्रकार का होता है– बहुपति विवाही परिवार और बहुपत्नी परिवार।

बहुपति विवाह परिवार– जब एक स्त्री के एक समय में एक से अधिक पति होते हैं तो उसे बहुपति विवाही परिवार कहते हैं। बहुपति विवाही परिवार भी निम्न दो प्रकार का होता है–भ्रातृबहु पति विवाही और अभ्रातृबहु पति विवाही परिवार–

बहुपति विवाही परिवार : जब कई भाई मिलकर एक समय में एक स्त्री के पति होते हैं तो भ्रातृबहु विवाही परिवार कहते हैं।

बहु पति विवाही परिवार : इस प्रकार के परिवार में पतियों के बीच निकट सम्बन्ध नहीं होता है पत्नी थोड़े–थोड़े समय के लिये सभी पतियों के यहाँ जाकर रहती है।

बहु पत्नी विवाही परिवार– जब एक पुरुष के एक ही समय में एक से अधिक पत्नियाँ होती हैं तो परिवार को बहुपत्नी विवाही परिवार कहते हैं।

समूह विवाही परिवार– यह परिवार का वह स्वरूप है जिसमें पुरुषों का एक समूह, स्त्रियों के एक समूह से विवाह करता है और प्रत्येक पुरुष उस समूह की प्रत्येक स्त्री के साथ सम्बन्ध रख सकता है।

निवास स्थान के आधार पर– निवास स्थान के आधार पर परिवार निम्नलिखित प्रकार का होता है–

पितृ स्थानीय परिवार– विवाह के बाद जब स्त्री अपने पति के घर जाकर रहती है तो उसे पितृ स्थानीय परिवार कहते हैं।

मातृ स्थानीय परिवार– विवाह के बाद जब पति अपनी पत्नी के घर जाकर रहता है तो ऐसा परिवार मातृ स्थानीय परिवार कहलाता हैं।

मातुल स्थानीय परिवार– विवाह के बाद जब दम्पत्ति पति की माँ के भाई अर्थात् पति के मामा यहाँ जाकर रहते हैं तो उसे मातुल स्थानीय परिवार कहते हैं।

नवस्थानीय परिवार– जब नव विवाहित दम्पत्ति न तो पति के यहाँ जाकर रहें और न ही पत्नी के जाकर रहें वरन् दोनों से अलग नया ही निवास बनाकर रहें तो परिवार का यह प्रकार नवस्थानीय परिवार कहलाता हैं।

परिवार के कार्य : परिवार का प्रकार्यात्मक महत्त्व प्रत्येक समाज में एक विशेष, निश्चित और लगभग अनिवार्य होता है। परिवार की सामाजिक भूमिका होती है जो प्रत्यक्ष तौर पर परिवार के सदस्यों के लिये होती है और अप्रत्यक्ष तौर पर समाज की व्यापक संरचना इकाइयों, जाति, वर्ग या पूरे समाज के लिये महत्वपूर्ण रूप में होती है। परम्परागत समाजों में और भारत जैसे समाज में परिवार की भूमिका को नहीं नकारा जा सकता है। परिवार में व्यक्ति का केवल जन्म ही नहीं होता है वरन् समाजीकरण भी होता है। परिवार के कार्य चाहे जैविक हों, अथवा सामाजिक या सांस्कृतिक हों यदि परिवार इन्हें पूरा न करे तो समाज कैसा होगा यह निर्भर करता है उसके सदस्यों पर और व्यक्ति कैसा होगा यह निर्भर करता है परिवार की संरचना पर। परिवार के कार्यों को प्रमुख रूप से निम्नलिखित दो भागों में विभाजित किया जा सकता है– मौलिक एवं सार्वभौमिक कार्य तथा परम्परागत कार्य–

(अ) मौलिक एवं सार्वभौमिक कार्य : ये वे कार्य हैं जिन्हें प्रत्येक समाज में पाया जाने वाला परिवार करता है। यह समाज चाहे किसी भी देश अथवा काल में रहा हो। परिवार के इन कार्यों पर किसी समाज विशेष की संस्कृति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। परिवार के मौलिक और सार्वभौमिक कार्यों के अन्तर्गत निम्नलिखित कार्य आते हैं–

1. जैविकीय कार्य : जैविकीय कार्यों के अन्तर्गत निम्नांकित कार्यों को सम्मिलित किया जाता है–

(i) सन्तानोत्पत्ति– प्रत्येक मनुष्य में कुछ मूल प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं जिसमें सन्तानोत्पत्ति भी एक है। प्रत्येक स्त्री में माँ बनने की और प्रत्येक पुरुष में पिता बनने की

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

मूल प्रवृत्ति पायी जाती है। परिवार सन्तानोत्पत्ति के माध्यम से इस मूल प्रवृत्ति को संतुष्ट कर व्यक्ति के व्यक्तित्व का समुचित विकास करता है।

(ii) शारीरिक और मनोवैज्ञानिक सुरक्षा– परिवार अपने सदस्यों को शारीरिक और मनोवैज्ञानिक सुरक्षा प्रदान करता है। शारीरिक सुरक्षा का तात्पर्य दुर्घटना, बीमारी तथा बेरोजगारी के समय दिये जाने वाले सहयोग और संरक्षण से है। जबकि मनोवैज्ञानिक सुरक्षा का तात्पर्य परिवार द्वारा व्यक्ति को दिये गये उस विश्वास से है कि कोई भी अन्य व्यक्ति या समूह उसके हितों पर समाज विरोधी रूप से आघात नहीं पहुँचा पायेगा। दोनों ही प्रकार की सुरक्षा की भावना जीवन की सफलता के लिये अति आवश्यक है। परिवार इसे बिना किसी शर्त के व्यक्ति को प्रदान करता है।

(ब) परम्परागत कार्य : परिवार के परम्परागत कार्य इस प्रकार है :–

1. सामाजिक कार्य :– सामाजिक कार्यों के अन्तर्गत–

(i) प्रस्थिति का निर्धारण करना– परिवार समाज में व्यक्ति की प्रस्थिति और दायित्व निश्चित करता है। परिवार ही यह निश्चित करता है कि उसका सदस्य व्यक्ति किन लोगों से मिलेगा और किन लोगों से नहीं मिलेगा। परिवार ही यह निश्चित करता है कि विवाह सम्बन्ध किन लोगों से करेगा और कई बार यह भी कि वह किस प्रकार जीविकोपार्जन करेगा। इसका कारण यह है कि परिवार के व्यक्ति की प्रतिष्ठा पूरे परिवार की प्रतिष्ठा और एक व्यक्ति की बदनामी पूरे परिवार की मानी जाती है।

(ii) समाजीकरण– व्यक्ति को जैविकीय प्राणी से सामाजिक प्राणी बनाने की प्रक्रिया का नाम समाजीकरण है जिसके द्वारा बच्चा सांस्कृतिक विशेषताओं, आत्म और व्यक्तित्व को प्राप्त करता है। बच्चा परिवार में जन्म लेता है, परिवार उसे समाज के अनुरूप बना देता है।

(iii) समाज की संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाना– परिवार में बड़े बुजुर्गों ने जो कुछ भी सीखा होता है उसे वे अपने बच्चों को सिखाने का प्रयत्न करते हैं और यह पीढ़ी दर पीढ़ी चलता रहता है।

(iv) सामाजिक नियन्त्रण– बच्चा जिस वक्त परिवार में जन्म लेता है उसे रोने के अतिरिक्त कुछ नहीं आता है। जैसे– जैसे वह बड़ा होता है। ''कुछ'' सीखता है। यह सीखना अच्छाई की तरह भी हो सकता है और बुराई की तरह भी हो सकता है। प्राथमिक समूह उन सब बातों पर प्रतिबन्ध लगाते हैं जो समाज में बुरी अथवा समाज विरोधी समझी जाती है और उन बातों को सीखने के लिये प्रेरित करते हैं जो समाज में अच्छी समझी जाती हैं प्राथमिक समूहों में परिवार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संस्था होने के कारण इसका अपने सदस्यों पर बड़ा कठोर नियन्त्रण होता है इससे समाज में व्यवस्था बनी रहती है।

2. सांस्कृतिक कार्य : संस्कृति समाज द्वारा व्यक्ति को विरासत में मिलने वाला उपहार है। समाज के रीति–रिवाज, प्रथाएँ, परम्पराएँ, धर्म, कानून एवं अन्य सांस्कृतिक तत्व परिवार के सदस्यों द्वारा बालकों को सिखाये जाते हैं जिससे उनमें समान मनोवृत्ति का विकास होता है जिसे इन्हें स्वीकार करने के लिये वे प्रेरित होते हैं।

3. आर्थिक कार्य : इसके अन्तर्गत निम्नलिखित कार्य आते हैं :–

(i) श्रम विभाजन– आयु और लिंग के आधार पर परिवार में प्रत्येक सदस्य की एक निश्चित स्थिति और कार्य होता है। साधारणतया, कठिन और बाहरी कार्य पुरुष करते हैं तथा अपेक्षाकृत आसान और घरेलू काम महिलाएँ करती है। पिता आर्थिक कार्यों को करता है और परिवार का प्रधान समझा जाता है। माता भोजन और घर की व्यवस्था तथा बच्चों की देखभाल करती हैं।

(ii) आर्थिक क्रियाओं का केन्द्र– परिवार समस्त आर्थिक क्रियाओं का केन्द्र रहा है। उपभोग से लेकर उत्पादन, विनिमय एवं वितरण तक की सारी क्रियाएँ परिवार द्वारा सम्पन्न की जाती रही है। प्राचीनकाल में परिवार उत्पादन का प्रमुख केन्द्र था और उपभोग का आज भी प्रमुख केन्द्र है। पत्नी, बच्चों तथा बड़े बुजुर्गों की जिम्मेदारी के कारण ही व्यक्ति आर्थिक क्रियाओं में संलिप्त रहता है।

(iii) सम्पत्ति का वितरण– पारिवारिक सम्पत्ति का उचित वितरण अपने सदस्यों में करके परिवार संघर्षों को कम करता है।

4. धार्मिक कार्य : परिवार धर्म का प्रमुख केन्द्र है। हिन्दू शास्त्रकारों के अनुसार तो परिवार का निर्माण ही धार्मिक कृत्यों को पूरा करने के लिये होता है। हिन्दू दर्शन कई कार्यों को तभी मान्यता प्रदान करता है जब व्यक्ति उन्हें गृहस्थ बनने के बाद करता है और पारिवारिक स्तर पर करता है। कुछ विशेष प्रकार के दान, यज्ञ आदि जिन्हें संयुक्त कर्त्तव्य कहकर सम्बोधित किया गया है।

5. शैक्षिक कार्य : परिवार बच्चे की प्रथम पाठशाला है। बच्चे भविष्य में जो कुछ भी बनते हैं परिवार की शिक्षा के फलस्वरूप होते हैं। हमारे महापुरुष इसके उदाहरण हैं। परिवार में वृद्ध सदस्य अपने अनुभवों और ज्ञान के आधार पर बालकों एवं युवा पीढ़ी को मार्गदर्शन देते रहते हैं। प्राचीन काल में भारतीय समाज में व्यावसायिक शिक्षा भी परिवार द्वारा ही दी जाती थी।

6. मनोरंजनात्मक कार्य : परिवार अपने सदस्यों का वीर कथाओं, लोक गाथाओं, शिक्षाप्रद कहानियों, व्यक्तिगत अनुभवों आदि के माध्यम से मनोरंजन करता है जो कि मनोरंजन की अन्य व्यावसायिक संस्थाओं की तुलना में स्वस्थ होता है। इरावती कर्वे कहती हैं कि संयुक्त परिवारों में हमेशा

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

कोई न कोई उत्सव, त्यौहार, विवाह, जन्म, नामकरण, संस्कार, अतिथियों का आगमन, गीत आदि होते रहते हैं।

7. राजनीतिक कार्य : परिवार अपने राजनीतिक विचारों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित करता है। यद्यपि आज की परिस्थिति में ऐसा कहना कठिन है कि परिवार ऐसा करता है क्योंकि भारत में हुऐ पिछले कई आम चुनावों में एक ही परिवार के सदस्य भिन्न विचारधाराओं वाले राजनीतिक दलों से चुनाव लड़ते देखे गये।

परिवार/संयुक्त परिवार के कार्यों में परिवर्तन : परिवार के बारे में पिछले पाँच दशकों में जो भी समाजशास्त्रीय अध्ययन हुये अधिकांशतः परिवार में होने वाले परिवर्तनों के अध्ययन से संबंधित रहे हैं (विशेषकर भारतीय सन्दर्भ में) ऐसे अध्ययन गाँवों में भी किये जाते रहे हैं और नगरों में भी किये जाते रहे हैं। इन परिवर्तनों को मुख्य रूप से दो स्तरों पर समझा जा सकता है। संरचनात्मक परिवर्तन और प्रकार्यात्मक परिवर्तन :–

1. संरचनात्मक परिवर्तन : यह विचार कि संयुक्त परिवार टूटते जा रहे हैं और एकाकी परिवार पनपते जा रहे हैं, सही नहीं है। इस सन्दर्भ में आई.पी. देसाई का कहना है कि संयुक्त परिवार न तो सम्मिलित निवास पर निर्भर करता है और न ही आकार पर। संयुक्त परिवार के सदस्य जन्म, विवाह और मृत्यु पर अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों का पारस्परिक रूप से पालन करते हैं। यह अवश्य है कि नगरों में परिवार का आकार छोटा होने लगा है जिसमें पति, पत्नी और उनकी अविवाहित संतानें साथ रहती हैं। सन्तानों की संख्या में भी कमी आई है। इनको एकाकी परिवार (Nuclear family) कहा जा सकता है। परिवार की संरचना सम्बन्धी दूसरा परिवर्तन यह हुआ है कि पहले लड़के और लड़कियों का विवाह जल्दी कर दिया जाता था। एक निश्चित आयु में पहुँचने पर जिसे कि विवाह की "प्राणीशास्त्रीय आयु" कहते हैं। लड़की की आयु विवाह के योग्य हो जाने पर उसका विवाह कर दिया जाता था। लेकिन आजकल ऐसा नहीं होता है। आजकल विवाह की प्राणीशास्त्रीय आयु का स्थान "विवाह की आर्थिक आयु" ने ले लिया अर्थात लड़का जब तक कमाने नहीं लगता है और अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो जाता है उसका विवाह नहीं किया जाता है। बदलते हुए सामाजिक मूल्यों और आदर्शों के कारण लोगों का रूझान पुनः लड़के और लड़कियों के जल्दी विवाह कर दिये जाने की ओर हो रहा है। पहले नियोजित विवाह ही किये जाते थे। माता पिता या परिवार के बड़े बुजुर्ग जिस लड़के या लड़की के साथ चाहते अपने लड़के या लड़की का विवाह कर देते थे। परन्तु आजकल ऐसा नहीं होता है। लड़का और लड़की अपनी सहमति से भी विवाह करने लगे हैं और कई बार ऐसा भी होता है कि उनके विवाह करने के बाद ही उनके परिवारों को पता चलता है। कुछ परिवारों में जहाँ कि कठोरता के साथ नियमों का पालन किया जाता है आज भी नियोजित विवाह किये जाते हैं। लेकिन उन परिवारों में भी लड़के या लड़की की सहमति आवश्यक समझी जाने लगी है अर्थात् नियोजन मात्र औपचारिक रह गया है।

2. प्रकार्यात्मक परिवर्तन : पहले परिवार उत्पादन की एक प्रमुख इकाई था लेकिन आज परिवार के आर्थिक कार्य समाप्त होते जा रहे हैं यद्यपि उसका उपभोगात्मक पक्ष ज्यों का त्यों बना हुआ है। बच्चे का जन्म भी पहले परिवार में ही होता था और वे समस्त कार्य जो कि बच्चे के जन्म से सम्बन्धित होते थे परिवार द्वारा ही सम्पादित किये जाते थे। आज बच्चे का जन्म अस्पताल में होता है और वे कार्य जो बच्चे के जन्म से सम्बन्धित हैं अस्पताल के कर्मचारियों द्वारा किये जाते हैं। अरस्तू और प्लेटो ने परिवार को बच्चे की "प्राथमिक पाठशाला" कहा है लेकिन इसका स्थान आज अन्य शिक्षण संस्थाओं ने ले लिया है। धार्मिक कार्य भी परिवार से हस्तान्तरित हो गये हैं। रस्मो–रिवाजों में भी परिवर्तन दृष्टिगत होते हैं। पहले यदि कहीं विवाह होता था तो कम से कम एक महीना पहले मेहमान पहुँच जाते, विवाह सम्बन्धी लोकगीतों और लोकनृत्यों की धूम मची रहती थी लेकिन आज इन कार्यों के लिये परिवार के सदस्यों के पास समय का अभाव है। आज इनके स्थान पर फिल्मी गीतों नृत्यों का बोलबाला है। न ही आज मेहमान समय से पहले आते हैं और कभी–कभी तो ऐसा भी होता है कि विवाह होने वाला है वे भी ठीक समय पर ही पहुँचते हैं। बढ़ती हुई गतिशीलता के कारण कई–कई घर बदलने पड़ते है इसलिये अपनेपन की भावना का विकास नहीं हो पाता है। विवाह–विच्छेद बढ़ता जा रहा है। पहले विवाह को पवित्र, धार्मिक एवं ईश्वर द्वारा निश्चित किया हुआ जन्म–जन्मान्तर गठबन्धन माना जाता था। लेकिन आज विवाह के साथ जुड़ी हुई पवित्रता की भावना समाप्त होती जा रही है और विवाह वैधानिक समझौता बन कर रह गया है। रक्त सम्बन्धियों का महत्व भी पहले जैसा नहीं रहा है केवल प्राथमिक और निकट के रक्त सम्बन्धियों का ही ध्यान रखा जाता है। स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध भी काफी परिवर्तित हो गये है। स्त्रियाँ परिवार के बाहर कमाने जाती हैं उनकी वेश–भूषा और रहन–सहन के तरीकों तथा व्यवहार प्रतिमानों में परिवर्तन होने लगा है। परिवार में स्त्रियों का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। परिवार से पुरुष की तानाशाही एकाधिकार समाप्त हो गया है क्योंकि स्त्री भी पुरुष के समान अधिकारों का दावा करने लगी है जिसे सुदृढ़ आधार प्रदान करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष मनाया जाता है। परिवार में माता–पिता और संतानों के मध्य संबंधों में भी परिवर्तन देखा जा सकता है। शारीरिक दण्ड के स्थान पर सुझाव और अनुनय का प्रयोग किया जाने लगा है, परिवार के बड़े सदस्यों का बच्चों के प्रति व्यवहारों और समाजीकरण के प्रतिमानों में भी परिवर्तन आने लगा है।

परिवार में परिवर्तन के कारक : आधुनिक युग में

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

परिवार का स्वरूप एकदम परिवर्तित होता जा रहा है। इन परिवर्तनों के लिए कुछ कारकों को जिम्मेदार माना जा सकता है—

(1) औद्योगीकरण एवं नगरीकरण या नवीन आर्थिक शक्तियाँ,

(2) पश्चिमी शिक्षा या नवीन विचार और आधुनिक सोच,

(3) परिवार में मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व, तथा

(4) सामाजिक अधिनियम और कानून।

पश्चिमी शिक्षा और इसके प्रभाव में जिस तरह की विचारधारा, व्यक्तित्व व मानसिकता का निर्माण होता है उससे परिवार प्रभावित होता है। संरचनात्मक–प्रकार्यात्मक दृष्टि से इस तरह इसमें बदलाव भले ही न आये लेकिन संरचना और प्रकार्य दोनों ही बदले हुए देखे जा सकते हैं। उदाहरण के लिये पीढ़ियों का अन्तर, परिवार के कर्त्ता की स्थिति में महत्वपूर्ण बदलाव या अवमूल्यन, विभिन्न पारस्परिक सम्बन्ध (पति–पत्नी, पिता–पुत्र, परिवार की महिला सदस्यों के बीच हुई नई प्रवृत्ति आदि)।

पुत्र के विवाह के बाद सास–बहू, ननद–भाभी और देवरानी–जिठानी आदि के अन्तः पारस्परिक सम्बन्धों की तनाव पूर्ण टकराहट के कारण परिवार टूटते रहे, अलगाव आता रहा और पूर्ण व आदर्श रूप से संयुक्त रहना सम्भव नहीं हो सका। पश्चिमी शिक्षा, संस्कृति एवं विचारधारा के कारण परिवार के सदस्यों में व्यक्तिवादिता, उपयोगितावाद, स्वतंत्रता व स्त्री–पुरुष में समानता आदि विचारों ने संयुक्त परिवारों में विघटन को जन्म दिया है। संयुक्त परिवारों में सम्पत्ति, बच्चों को लेकर होने वाले झगड़ों से मुक्ति पाने के लिये भी संयुक्त परिवार छोड़कर लोग सुख–शान्ति के लिये एकाकी परिवारों में रहने लगते हैं। यदि तटस्थ और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो भारतीय समाज में ये उपर्युक्त तत्व प्रभावी रहें हैं और पूर्ण संयुक्त न रहने की जो परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई है उसके लिये भी।

भारत में अंग्रेजों के समय व स्वतन्त्रता के बाद कई तरह के सामाजिक कानून बनाये जाते रहे हैं। स्वाभाविक रूप से इन कानूनों नें परिवार को प्रभावित किया है। संयुक्त परिवार की एकता का मूल कारण था कि व्यक्ति का पारिवारिक सम्पत्ति में व्यक्तिगत अधिकार नहीं था। हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1929 द्वारा व्यक्ति को सम्पत्ति का अधिकार दे दिया गया, चाहे वह संयुक्त परिवार से अलग रहता हो। इसी प्रकार सन् 1939 में हिन्दू स्त्रियों को सम्पत्ति में अधिकार दे दिया गया। सम्पत्ति के बंटवारे के प्रावधानों ने संयुक्त परिवार को एकाकी परिवारों में बदलने की प्रक्रिया को गति प्रदान की। इसी प्रकार आयकर संबंधी नियमों ने भी संयुक्त परिवार को विघटित किया है।

भारत का परिवार किन अंशों तक संयुक्त हैं ? पूर्ण या आंशिक— इसका अर्थ है कि जैविक संरचना के तौर पर और वास्तविकता और संभावना के तौर पर जो संयुक्त परिवार हो सकते हैं या परिवार के रूप में रह सकते हैं, हम यह मान लेते हैं कि भारत में संयुक्त परिवार की वास्तविकता भी ऐसी ही रही होगी या है, सच्चाई यह है कि हमारी प्रवृत्ति तो आदर्श संयुक्त की बनी रही लेकिन व्यवहार में हम आदर्श का निर्वाह नहीं कर सके और पिता की मौजूदगी में ही उसके विवाहित पुत्रों के एकाकी परिवार बनते देखे जाते हैं। फिर भी हमारे यहाँ संयुक्त की एक संरचना और स्वजन पद्धति (नातेदारी) है अर्थात भारतीय परिवार की विलक्षणता संरचनात्मक तौर पर एकाकी हो कर भी प्रकार्यात्मक तौर पर संयुक्त रूप से जुड़े होना है। वर्तमान में संयुक्त परिवार के परम्परागत लक्षणों में परिवर्तन हो रहे हैं। किन्तु अलग रहकर भी परिवार के सदस्य उत्तरदायित्वों की दृष्टि से एक सूत्र में बँधे रहते हैं। कापड़िया का मत है कि हिन्दू मनोवृत्तियाँ आज भी संयुक्त परिवार के पक्ष में है तथापि बदली हुई परिस्थितियों में नगरीय क्षेत्रों में संयुक्त परिवार को अपने परम्परागत रूप में बनाए रखना संभव नहीं है।

नातेदारी (स्वजनता)

नातेदारी या स्वजनता एक व्यापक और जटिल सन्दर्भ है, जैसे संस्कृति, समाज, सामाजिक संगठन, सामाजिक संरचना आदि। ये सभी सीमित अर्थ और विषय सामाग्री के अध्ययन नहीं है, इनकी कई बातें मूर्त वास्तविकताएँ या तथ्य हैं जिनका हम स्वतन्त्र तौर पर अध्ययन करते हैं जैसे परिवार, विवाह, नातेदारी।

साधारणतः लोग नातेदारी के महत्व को नहीं समझ पाते हैं और जो कुछ वे समझ पाते हैं वह भी धारणात्मक होता है, यह धारणा भी विचित्र है, कि परिहार, परिहास, पितृश्वश्रेय, मातुलेय, कूवेद आदि हमारे अन्तर्सम्बन्धों में नहीं है, जनजातियों या आदिम जातियों से जुड़ी हुई बातें हैं, हमसे नहीं।

नातेदारी या स्वजनता की परिभाषा :— शाब्दिक तौर पर नातेदारी का अर्थ कुछ विशेष तरह के सम्बन्ध, कुछ नजदीकी सम्बन्ध जो आधारभूत होते हैं, लगभग स्थायी होते हैं, प्रदत्त होते हैं या बन जाते हैं, से लिया जाता है। यह उल्लेख करना प्रासंगिक होगा कि नातेदारी शब्द से एक विशेष प्रकार के विवाह (कुछ जातियों में स्त्री को नाते बिठाने की प्रथा) का भ्रम होता है जबकि नातेदारी का अर्थ उन रिश्ते–नातों से है जिनके कारण अर्जुन को महाभारत के युद्ध से पूर्व मोह उत्पन्न हो गया था और भगवान श्री कृष्ण ने जिन नाते रिश्तेदारों को स्वजन कहा था अर्थात् रक्त और विवाह के आधार पर बनने वाले सम्बन्धी।

नातेदारी की परिभाषा देते हुए मजूमदार और मदान अपनी पुस्तक 'सामाजिक मानवशास्त्र परिचय' में कहते हैं, 'सभी समाजों में मनुष्य अनेक प्रकार के बन्धनों द्वारा आपस में समूहों में बंधे हुए होते हैं, इन बन्धनों में सबसे अधिक सार्वभौमिक तथा आधारभूत बन्धन वह है जो सन्तानोत्पत्ति पर आधारित होता है, संतानोत्पत्ति मानव की स्वाभाविक इच्छा है

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

और नातेदारी कहलाती है।' इस परिभाषा में मजूमदार ने बताया कि संतानोत्पत्ति से ही नातेदारी प्रथा अपने अग्रिम विकास की स्थिति तक पहुँच पाती है।

रॉबिन फॉक्स के अनुसार, ''नातेदारी केवल स्वजन अर्थात् वास्तविक अथवा कल्पित समरक्तता वाले व्यक्तियों के मध्य सम्बन्ध है जो किसी भी प्रकार पैदा हो सकता है अर्थात् वह वास्तविक भी हो सकता है और कल्पित भी।'' कल्पित सम्बन्धों से तात्पर्य गोद लिये हुए बच्चों से है। रैड क्लिफ ब्राउन नातेदारी को परिभाषित करते हुए कहते हैं, ''नातेदारी सामाजिक उद्देश्यों के लिए स्वीकृत वंश सम्बन्धी है जो कि सामाजिक सम्बन्धों के परम्परात्मक सम्बन्धों का आधार है।'' ब्राउन ने नातेदारी सम्बन्धों को सामाजिक महत्व और परम्परा के आधार पर परिभाषित किया है।

इस परिभाषा से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं—

1. नातेदारी में उन व्यक्तियों को सम्मिलित करते हैं जिनका परस्पर सम्बन्ध विवाह अथवा रक्त के आधार पर होता है।
2. वंशावली सम्बन्ध परिवार से होते हैं।
3. ये वंशावली सम्बन्ध परिवार से उत्पन्न होते हैं और परिवार पर ही आश्रित रहते हैं, और
4. इन वंशावली सम्बन्धों को समाज की स्वीकृति प्राप्त होती है।

स्पष्ट है कि नातेदारी एक सामाजिक तथ्य है और इस कारण इसमें कभी—कभी वे लोग भी आ जाते हैं जो वंशावली के आधार पर रक्त सम्बन्धी नहीं होते हैं जैसे दत्तक पुत्र।

नातेदारी के प्रकार— बोहेनन के अनुसार सामान्यतः नातेदारी के अन्तर्गत जैविक या अर्द्धजैविक आधार पर बनने वाले सम्बन्ध होते हैं या आते हैं, किन्तु जब हम इन सम्बन्धों को नातेदारी के अन्तर्गत लेते हैं तो इन सम्बन्धों को लेकर जितने समूह, संस्थाएँ, प्रथाएँ, लोकाचार, सम्बोधन या शब्दावली आदि की रचना होती है, वे सभी नातेदारी के अन्तर्गत आ जाते हैं, जिनका जैविक पक्ष होता है लेकिन जैविक पक्ष होने के साथ—साथ जैविक पक्ष से अधिक सामाजिक—सांस्कृतिक पक्ष होता है। वस्तुतः सामाजिक संरचना, आर्थिक हितों का निर्वाह, सम्पत्ति हस्तांतरण, वंश—निर्धारण, शिक्षण—प्रशिक्षण, नियंत्रण, प्रस्थिति निर्धारण, धार्मिक निर्योग्यताएँ या विशेषाधिकार, सम्बन्ध सूचक शब्दों का भाषा शास्त्रीय रूप आदि सभी बातें नातेदारी के अन्तर्गत आ जाती है। संक्षेप में नातेदारी का अभिप्राय उन सामाजिक सांस्कृतिक संरचनाओं को समझना है जो कि समाज में सदस्यों के बीच रक्त या विवाह के आधार पर बनने वाले जैविक या अर्द्ध जैविक सम्बंधों को लेकर विकसित होती है, इस आधार पर नातेदारी अथवा स्वजनता तीन प्रकार की मानी जा सकती है, रक्त सम्बन्धी, विवाह सम्बन्धी और काल्पनिक।

(अ) रक्त सम्बन्धी नातेदारी— जिस परिवार में व्यक्ति जन्म लेता है उस परिवार के सभी सदस्य उसके रक्त के स्वजन होते हैं। माता—पिता, भाई—बहन, दादा—दादी, मामा, मौसी, नाना—नानी, चाचा, बुआ आदि रक्त सम्बंधी नातेदारी में आते हैं।

(ब) विवाह सम्बन्धी नातेदारी— पति पत्नी के बीच आपसी एवं एक दूसरे के पक्ष के साथ बनने वाले सम्बन्धों के आधार बनने वाले सम्बन्धी इस प्रकार की नातेदारी के अन्तर्गत आते हैं। सास, ससुर, ननद, भाभी, देवरानी, जेठानी, जीजा, साली, साढू, फूफा आदि विवाह सम्बन्धी नातेदारी है।

(स) काल्पनिक नातेदारी— रक्त सम्बन्धी स्वजनता सदैव जैविकीय ही हो, आवश्यक नहीं है। पिता और पुत्र का सम्बन्ध रक्त पर आधारित सम्बन्ध है लेकिन ऐसा हो सकता है कि पुत्र वास्तविक न होकर गोद लिया हुआ हो। इस प्रकार की नातेदारी को काल्पनिक नातेदारी कहते हैं।

नातेदारी या स्वजनता का समाजशास्त्रीय महत्व— नातेदारी या स्वजनता के आधार पर ही विवाह, परिवार, वंश उत्तराधिकारी, सामाजिक दायित्वों आदि का निर्धारण होता है। नातेदारी या स्वजनता के आधार पर ही यह निश्चित होता है कि विवाह किस से हो सकता है और किससे नहीं हो सकता है। विवाह के द्वारा परिवार अस्तित्व में आता है। परिवार को परिवार बनाये रखने के लिए तथा मानव समाज को मानव समाज बनाये रखने के लिए परिवार तथा विवाह में नातेदारी या स्वजनता का पालन अनिवार्य है। इसी के आधार पर व्यक्ति के वंश का निर्धारण होता है कि व्यक्ति पितृ वंशीय होगा या मातृ वंशीय होगा। वंश परम्परा ही परिवार में उत्तराधिकार निश्चित करती है और बताती है कि परिवार के मुखिया की मृत्यु के पश्चात् उसकी सम्पत्ति तथा परिवार के मुखिया का पद किसे प्राप्त होगा। सम्पत्ति तथा उत्तराधिकार के निर्धारण की भाँति ही नातेदारी सामाजिक दायित्वों का निर्धारण भी करती हैं। परिवार में किसी विवाहित सदस्य की मृत्यु हो जाने पर उसकी विधवा पत्नी तथा बच्चों का भरण—पोषण नातेदार ही करते हैं। नातेदारी न केवल व्यक्ति के सामाजिक दायित्वों का निर्धारण करती है वरन् उसे सुरक्षा तथा मानसिक सन्तोष भी प्रदान करती है। पारस्परिक सम्बंधों में जो व्यक्ति जितना नजदीक होगा नातेदार उसकी आर्थिक सहायता के लिए उतना ही अधिक तत्पर रहेंगे। नातेदारी उसको यह विश्वास दिलाकर कि वह समाज में अकेला नहीं है उसको मानसिक सुरक्षा देती है।

नातेदारी या स्वजनता की रीतियाँ या व्यवहार— नातेदारी या स्वजनता की रीतियाँ व्यक्ति को यह बताती हैं कि विभिन्न नातेदारों में से किस नातेदार के साथ कैसा व्यवहार करना है और किस नातेदार के साथ कैसा व्यवहार नहीं करना है। माता—पिता और सन्तान के बीच जैसा व्यवहार होता है वैसा व्यवहार पति और पत्नी के बीच नहीं हो सकता है। जैसा व्यवहार पति और पत्नी के बीच होता है वैसा व्यवहार भाई—

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

बहिनों के बीच नहीं हो सकता है। व्यक्ति का भाई–बहिन के साथ जो व्यवहार होता है सास–ससुर के साथ नहीं हो सकता है और सास–ससुर के साथ जैसा व्यवहार व्यक्ति करता है साले–साली के साथ नहीं कर सकता है। किसी स्वजन के साथ हँसी मजाक का सम्बन्ध होता है तो किसी नातेदार के साथ श्रद्धा और सम्मान का सम्बंध होता है। स्पष्ट है कि नातेदारी में दो नातेदारों के बीच कैसा सम्बन्ध या व्यवहार होगा इसके कुछ निश्चित नियम है। इन्ही नियमों को हम नातेदारी अथवा स्वजनता की रीतियाँ या व्यवहार कहते हैं जो निम्नलिखित हैं–

1. **परिहार–** इसका अर्थ है कि कुछ सम्बन्धी जिनके सम्बन्ध कुछ विशिष्ट श्रेणियों में आते हैं। एक दूसरे से एक निश्चित दूरी बनाये रखते हुए परस्पर अन्तःक्रिया करते हैं जैसे कई समाजों में सास अपने दामाद से घूंघट निकालती है और बातें भी करती हो तो घूंघट की आड़ में करती है, बहू अपने ससुर या बड़े भाई (ज्येष्ठ) अथवा किसी अन्य बुजुर्ग सम्बन्धी के सामने बिना परदे के नहीं जाती है।

टायलर का मानना है कि मातृसत्तात्मक परिवारों में दामाद के पूर्णतया अपरिचित होने और परिवार के अधीन होने से सास के साथ प्रतिबन्धित सम्बन्ध निभाने के लिए बाध्य होने के कारण परिहार प्रथा की उत्पत्ति हुई। रेडक्लिफ ब्राउन इसको नकारते हुए कहते हैं कि व्यक्तियों के सम्पर्क में आने पर वे या तो परस्पर सहयोग करते हैं या परस्पर संघर्ष करते हैं चूंकि नातेदारों में संघर्ष को सामाजिक आदर्शो के विरूद्ध माना जाता है जिसे रोकने के लिए परिहार प्रथा का विकास हुआ।

2. **परिहास–** परिहास प्रथा परिहार प्रथा के एकदम विपरीत है, जहाँ परिहार प्रथा कुछ नातेदारों के बीच अंतःक्रिया को टालती है और उन्हें एक– दूसरे से दूर ले जाती है वहीं परिहास प्रथा नातेदारों को एक दूसरे के नजदीक लाती है और मानती है कि कुछ नातेदारों के बीच घनिष्ठता तथा हँसी–मजाक अपेक्षित है। देवर–भाभी, जीजा–साला–साली के बीच हँसी–मजाक करने की प्रथाएँ और व्यवहार प्रणाली कई समाजों में प्रचलित है। परस्पर गाली देना, खिल्ली उड़ाना, मजाक करने के माध्यम से विभिन्न अवसरों पर इन सम्बन्धों की अभिव्यक्ति होती है।

रेडक्लिफ ब्राउन ने परिहास सम्बन्धों को स्वजनों के बीच मैत्रीपूर्ण व्यवहार का प्रतीक माना जिसका प्रदर्शन शत्रुतापूर्ण व्यवहार से भी किया जाता है।

3. **अनुनामिता (माध्यमिक सम्बोधन)–** जब दो नातेदारों के बीच नाम से पुकारना वर्जित हो और सम्बोधन के लिए किसी माध्यम का उपयोग किया जाता है तो यह व्यवहार अनुनामिता की रीति में आता है। भारतीय समाज में स्त्री अपने पति को अधिकांशतः नाम लेकर नहीं पुकारती बल्कि अपने लड़के या लड़की के नाम के माध्यम से सम्बोधित करती है। इस प्रथा के पीछे टायलर ने मातृ–प्रधान परिवार को माना जिसके अन्तर्गत परिवार में दामाद को परिवार के अन्य सदस्यों जैसी प्राथमिकता या महत्व नहीं दिया जाता बल्कि सन्तान का नाम उसके साथ जोड़कर उसके सम्बन्ध को गौण रूप में स्वीकार किया जाता है।

4. **मातुलेय–** यह सम्बन्ध मातृ–सत्तात्मक समाजों में पाया जाता है। विवाह के बाद दम्पति पति की माँ के भाई के घर जाकर रहने लगते है, ऐसी स्थिति में अधिकार और नियन्त्रण मामा का रहता है। माँ तथा मामा की स्थिति महत्वपूर्ण होती है तथा पिता की स्थिति गौण होती है। व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने पिता से भी अधिक सम्मान अपने मामा का करे, उदाहरण– खासी और टोडा जनजाति।

5. **पितृश्वश्रेय–** यह सम्बन्ध मातुलेय के ठीक विपरीत है, मातुलय में पति की माँ के भाई को महत्व दिया जाता है जबकि पितृश्वश्रेय में पति की बहन को महत्व दिया जाता है, वहीं अपने भाई के बच्चों का पालन–पोषण, नियन्त्रण और विवाह आदि की जिम्मेदारी सम्हालती है, मेलानेशिया की कुछ जनजातियों तथा भारत की टोडा जनजाति में यह प्रथा पायी जाती है। चैपल तथा कून का विचार है कि पितृश्वश्रेयरीति उन संबंधियों में पारस्परिक सामाजिक अंतःक्रिया को बनाये रखने के लिए जहाँ विवाह के बाद उस अंतःक्रिया के समाप्त अथवा शिथिल हो जाने की संभावना रहती है।

6. **सहप्रसविता या सहकष्टी–** इस प्रथा का सम्बन्ध प्रसव काल से है, इस प्रथा का प्रचलन भारत में खासी तथा टोडा जनजाति में तथा भारत के बाहर कुछ आदिम जातियों में है। प्रथा के अनुसार बच्चे को जन्म देने वाली स्त्री के पति को भी उन सभी प्रकार के कष्टों की सांकेतिक पुनरावृति करनी होती है जिन कष्टों से प्रसव के दौरान उसकी पत्नी गुजरती है और अनुभव करती है। प्रसवा के पति को भी वही भोजन दिया जाता है जो कि प्रसवा को दिया जाता है। उसे भी उसी कमरे में रखा जाता है जिसमें कि प्रसवा प्रसव के बाद कुछ समय के लिए रखी जाती है। उसे भी उतना ही अस्पृश्य माना जाता है जितना कि बच्चे को जन्म देने वाली को। बच्चे के जन्म के समय होने वाले दर्द से प्रसवा जिस तरह चीखती चिल्लाती है उसके पति को भी उसी तरह चीखना चिल्लाना पड़ता है। प्रसव के बाद जिन नियमों का पालन प्रसवा करती है ठीक उन्हीं नियमों का पालन प्रसवा का पति भी करता है।

मैलिनोवस्की ने इस प्रथा को वैवाहिक जीवन के सम्बन्धों को अधिक मजबूत बनाने वाली तथा पैतृक प्रेम प्राप्त करने वाली एक सामाजिक क्रिया माना है। जबकि कुछ मानवशास्त्रियों ने इसे पति द्वारा पत्नी के प्रति प्रेम प्रकट कराने के साथ–साथ संवेदना व्यक्त कर पत्नी के कष्टों में सहभागिता दिखाने तथा उसके कष्टों को हल्का करने का

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

प्रयास माना है जबकि कुछ विद्वानों ने माता पिता पर प्रतिबंध लगाकर उनकी जादूटोने से रक्षा का प्रयास माना है।

संश्रय सिद्धान्त और वंशानुक्रम– संश्रय सिद्धान्त के अनुसार शरीर के विभिन्न अंग जिस प्रकार अपना अलग–अलग अस्तित्व बनाये रखने के बावजूद एक दूसरे से अन्तः सम्बन्धित और अन्तः निर्भर होते हैं उसी प्रकार एक जनजाति के विभिन्न गोत्र भी अपनी–अपनी पहचान को बनाये रखते हुए विवाह के माध्यम से जनजाति के अन्य गोत्रों से जुड़ जाते हैं।

वंशानुक्रम से अभिप्राय उन मान्यता प्राप्त सामाजिक सम्बन्धों से है जिन्हें व्यक्ति अपने पूर्वजों के साथ जोडता है और पूर्वज वह है जिसकी सन्तान व्यक्ति अपने आपको मानता है। किसी भी व्यक्ति के वंश को उसके पिता के परिवार के वंश के आधार पर या माता के वंश के आधार पर देखा जाता है। कुछ स्थानों पर माता तथा पिता दोनों के वंशो के आधार गिना जाता है। व्यक्ति के वंश को पिता के वंश के आधार पर देखने से उभयवंशीय माना जाता है। यह बताना कठिन है कि वंशजता के इन तीन नियमों में से पहले कौन से नियम को अपनाया गया लेकिन यह अवश्य कहा जा सकता है कि विशिष्ट सामाजिक सांस्कृतिक स्थितियों के कारण एक विशिष्ट वंशजता को अपनाया जाता है।

राजनैतिक एवं आर्थिक संस्थाएँ

वर्तमान समाज जटिल समाज हैं। जटिल समाजों में सबसे महत्वपूर्ण समस्या सामाजिक नियंत्रण की होती है। सरल समाजों में सामाजिक नियंत्रण अनौपचारिक रूप से ही होता है। परन्तु जटिल समाजों में सामाजिक नियंत्रण के लिए औपचारिक संस्थाओं एवं साधनों का विकास करना अनिवार्य हो जाता हैं। सरल समाजों में 'प्रथा ही राजा' होती है परन्तु जटिल समाजों में प्रथाओं एवं परम्पराओं का महत्व कम हो जाता है एवं सामाजिक नियंत्रण के दृष्टिकोण से वे शिथिल पड़ जाती हैं। अतः जटिल समाजों में ऐसी एजेन्सी या संस्था की आवश्यकता होती हैं जो सम्पूर्ण समाज पर अपनी प्रभुसत्ता सम्पन्न अधिकार रख सके और जो सदस्यों को आज्ञा देकर उसका पालन भी शक्तिपूर्वक करा सके। ऐसी औपचारिक, प्रभुसत्ता सम्पन्न अधिकार वाली एवं शक्तिशाली एजेन्सी राजनैतिक संस्था में निहित हैं। दूसरे शब्दों में यह एजेन्सी राज्य हैं।

मुर्डाक ने लिखा हैं कि मनुष्य के पृथ्वी पर जन्म के पश्चात् के समय के लगभग 90 प्रतिशत भाग में मानव समाज बिना सही रूप की सरकार के रहा हैं। परन्तु नई तकनीकी एवं आर्थिक प्रगति के फलस्वरूप समाज में जटिलता का विकास हुआ एवं समाज को एक ऐसी एजेन्सी को अधिकार सौंपना पड़े जो दक्षतापूर्वक मानव के व्यवहारों पर नियंत्रण कर सके। जनसंख्या की वृद्धि के फलस्वरूप एवं समाज की संरचना में बढ़ती हुई जटिलता के फलस्वरूप अनौपचारिक नियंत्रण के साधनों से सामाजिक नियंत्रण का कार्य उसे सौंप दिया। वर्तमान में समाज सरकार का इतना आदी हो गया हैं कि सरकार के बिना समाज में शान्ति एवं व्यवस्था की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

हमारे उपरोक्त वर्णन में दो महत्वपूर्ण राजनैतिक संगठनों या संस्थाओं का उल्लेख हुआ हैं– एक राज्य एवं दूसरी सरकार। अब हम इस अध्याय में इन्हीं दो महत्वपूर्ण संस्थाओं के बारे में विस्तार से वर्णन करेंगे।

राज्य

राज्य की धारणा बहुत प्राचीन है। समय–समय पर राज्य के स्वरूपों में भिन्नता रही हैं एवं उन्हीं भिन्नताओं के अनुरूप राज्य का अर्थ लगाया गया। यहाँ हम राज्य की कुछ परिभाषाओं का अध्ययन करेंगे–

1. **मेकाइवर**–"राज्य एक ऐसी समिति है, जो कानून द्वारा शासनतंत्र से क्रियान्वित होती है और जिसे एक निश्चित भू–भाग में सामाजिक व्यवस्था बनाये रखने के सर्वोच्च अधिकार प्राप्त होते हैं।"

2. **अरस्तु**–"राज्य परिवारों और ग्रामों के उस समुदाय का नाम है, जिसका उद्देश्य सम्पूर्ण तथा आत्मनिर्भर जीवन की प्राप्ति है।"

3. **गार्नर**–"राज्य व्यक्तियों का ऐसा समूह है, जो न्यूनाधिक एक निश्चित भू–भाग में रहता है। बाह्य नियंत्रण से लगभग या पूर्णत मुक्त होता है तथा जिसकी एक संगठित सरकार होती है तथा जिसकी आज्ञा का पालन करना निवासियों की स्वाभाविक आदत बन जाती है।"

उपर्युक्त विभिन्न परिभाषाओं से स्पष्ट है कि राज्य ऐसे व्यक्तियों का समूह है, जिनकी एक संगठित सरकार है, जो किसी एक निश्चित भू–भाग में रहते हैं तथा जो विदेशी नियंत्रण से सर्वथा मुक्त रहते हैं। राज्य के अन्तर्गत जाति, धर्म, भाषा अथवा संस्कृति की धारणा प्रमुख रूप से निहित नहीं हैं। राज्य में एक निश्चित भू–भाग एवं अपने सदस्यों पर अधिकार एवं आज्ञा देकर कार्य करा सकने वाली एक सर्वोच्च सत्ता की धारणा निहित है।

राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति के संबंध में विद्वानों में मतभेद हैं, फिर भी इसकी उत्पत्ति संबंधी निम्नलिखित सिद्धान्त महत्वपूर्ण हैं–

1. **दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त**– जेलिनेक के अनुसार यह राज्य की उत्पत्ति का सबसे प्राचीनतम सिद्धान्त है। धार्मिक ग्रन्थों में भी इस सिद्धान्त का समर्थन मिलता है। इस सिद्धान्त को इंग्लैण्ड के राजा जेम्स प्रथम ने एक निश्चित रूप प्रदान किया। वह अपने आपको निरंकुश राजा बनाना चाहता था। उसका कहना था कि राजा दैवी अधिकार के अनुसार राज्य का संचालन करते हैं। इसका अभिप्राय यह था कि राजा ईश्वर से शक्ति प्राप्त करते हैं और इसी कारण से वह संसार में किसी

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

के प्रति उत्तरदायी नहीं होते। राजा की आज्ञा का उल्लंघन इतना ही बड़ा पाप था जितना कि भगवान की शक्ति का उल्लंघन। जेम्स प्रथम के अनुसार जनता को दुष्ट राजा के विरोध में कोई अधिकार प्राप्त न था, क्योंकि भगवान ने जनता के पापों के दण्ड के परिणामस्वरूप उस दुष्ट राजा को जनता के ऊपर भेजा है। उसके अनुसार जनता या प्रजा को कोई अधिकार प्राप्त न था।

इस प्रकार इस सिद्धान्त के समर्थकों का विश्वास था कि राज्य भी भगवान द्वारा उसी तरह उत्पन्न किया गया है जिस प्रकार से भगवान ने समस्त विश्व को बनाया हैं। इसलिए राज्य एक दैवी संस्था थी, न कि मानवीय। इस कारण से संस्था में भी कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता था न ही एक राजा के अधिकारों में कोई परिवर्तन हो सकता था। इस सिद्धान्त के अनुसार भगवान प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से राज्य करता था। प्रत्यक्ष रूप से उस समय का अर्थ लिया जाता है जबकि राजा भगवान माना जाता था। अप्रत्यक्ष रूप से उस समय का अर्थ लिया जाता है, जबकि राजा भगवान का प्रतिनिधि माना जाता था। इस सिद्धान्त के अनुसार चाहे राजा अच्छा हो या बुरा उसकी आज्ञा का पालन अनिवार्य था।

यह सिद्धान्त राज्य के निर्माण एवं विकास में मनुष्य के महत्वपूर्ण योगदान को महत्व नहीं देता। राज्य दैवी नहीं मानवीय संस्था हैं।

2. शक्ति का सिद्धान्त– इस सिद्धान्त के समर्थक राज्य की उत्पत्ति को आक्रमण तथा विजय के द्वारा बताते हैं। शान्ति के द्वारा राज्य की उत्पत्ति का उल्लेख प्राचीन पुस्तकों तथा कथनों में भी मिलता है। इस सिद्धान्त के समर्थकों में विशेष रूप से डेविड ह्यूम, कार्ल मार्क्स, एंजिल आदि उल्लेखनीय हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य शक्ति द्वारा उत्पन्न हुआ हैं। शक्तिशाली व्यक्तियों ने निर्बल व्यक्तियों या कबीलों पर विजय प्राप्त करके उन्हें अपने अधीन बना लिया। इस प्रकार विजयी शक्ति ने इस प्रकार की संस्था को जन्म दिया जो राज्य बन गया। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य आन्तरिक शान्ति तथा आक्रमणों से रक्षा करने के लिए उत्पन्न हुआ है। इस सिद्धान्त के समर्थक कहते हैं कि आधुनिक काल में भी आर्थिक शक्तिशाली राज्यों की शक्ति निर्बल राज्यों को नष्ट कर देती है। इस संबंध में कोरिया तथा वियतनाम का उदाहरण देते हैं। ब्लंटशली का कहना है कि, ''शक्ति के सिद्धान्त के अनुसार बिना शक्ति के एक राज्य उत्पन्न नहीं हो सकता है, न ही वह स्थायी रह सकता है।'' इस सिद्धान्त का विशेष विचार 'शक्ति सबसे उच्च सत्य है' मालूम पड़ता है। इस सिद्धान्त की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं– (i) राज्य शक्ति पर निर्भर है अर्थात् शक्ति सत्य है। (ii) प्रथम राजा बड़ा युद्ध करने वाला तथा विजयी था। (iii) राज्य का पहला कार्य युद्ध करना है। (iv) युद्ध द्वारा राज्य उत्पन्न होता है।

राज्य की उत्पत्ति का यह सिद्धान्त राज्य की उत्पत्ति के केवल एक तत्व को बहुत अधिक महत्व देता है। राज्य के उत्पन्न होने में शक्ति ने सहयोग दिया है किन्तु राज्य की उत्पत्ति केवल एक तत्व द्वारा नहीं हुई।

3. सामाजिक संविदा सिद्धान्त–इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य की उत्पत्ति संविदा के कारण हुई। यह एक प्राचीन सिद्धान्त है। परन्तु 17वीं तथा एक 18वीं शताब्दी में इसको वैज्ञानिक रूप से प्रतिपादित करने का श्रेय इंग्लैण्ड के हाब्स, लॉक और फ्रान्स के रूसो को है। परन्तु विचारकों में संविदा, सम्प्रभुता तथा प्राकृतिक दशा के विषय पर मतभेद हैं। इस समझौते के विचारक मानवीय समाज के इतिहास को दो भागों में विभाजित करते हैं। प्रथम भाग को जो कि राज्य के निर्माण के पहले था, उसे 'प्राकृतिक अवस्था कहते हैं तथा दूसरा भाग राज्य निर्माण के बाद का है।

राज्य की उत्पत्ति संबंधी इस सिद्धान्त का अध्ययन करने के लिए क्रमशः इन्हीं तीन विचारकों हाब्स, लॉक, रूसो के सामाजिक समझौते संबंधी विचारों का अध्ययन निम्न तीन शीर्षकों के अन्तर्गत करेंगे– (i) प्राकृतिक अवस्था (ii) संविदा या समझौते का स्वरूप (iii) संप्रभुता।

हाब्स के विचार–

(i) प्राकृतिक अवस्था– हाब्स के अनुसार, इस अवस्था में सदैव युद्ध की स्थिति बनी रहती थी। मनुष्य स्वार्थी था, जिसके परिणामस्वरूप प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक का दुश्मन था। मनुष्य का जीवन एकाकी, दरिद्र, गन्दा और अल्प था। विधि, शान्ति तथा सुरक्षा का अभाव था। हाब्स का विचार था कि इस प्रकार की स्थिति से मुक्ति पाने के लिए तथा शान्ति, सुरक्षा एवं सुव्यवस्था की प्राप्ति के लिए व्यक्तियों ने समझौता किया।

(ii) समझौते का स्वरूप– हाब्स के मतानुसार यह समझौता व्यक्तियों तथा संप्रभु के मध्य न होकर केवल व्यक्तियों के मध्य ही हुआ था। इसमें व्यक्तियों ने अपने समस्त अधिकार संप्रभु को सौंप दिए। सम्प्रभु या शासक इस समझौते से अलग था।

जान लॉक के विचार–

(i) प्राकृतिक अवस्था–प्राकृतिक अवस्था–लॉक के अनुसार, व्यक्ति स्वभाव से ही शान्तिप्रिय होता है परन्तु इस अवस्था में तीन कमियाँ थीं– (अ) व्यवस्थिति, निश्चित और प्रतिष्ठित विधान, (ब) एक निश्चित और निष्पक्ष न्यायाधीश (स) सही दण्ड को कार्यान्वित और उनका समर्थन करने की शक्ति।

(ii) समझौते का स्वरूप– इन्हीं उपर्युक्त कमियों को दूर करने के लिए व्यक्तियों ने पारस्परिक समझौता कर राज्य और समाज का निर्माण किया। लॉक दो समझौतों का होना मानते हैं। पहला जनता के बीच जिससे समाज का निर्माण हुआ। जनता ने अपने कुछ अधिकार राज्य को सौंप दिए तथा शासन ने इसके बदले जनता तथा शान्ति, सुव्यवस्था व न्याय रखेगा। जनता शासक को हटा भी सकती थी। इस प्रकार यह

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

समझौता सीमित तथा विशेष प्रयोजन से था।

(iii) संप्रभुता– लॉक यह मानते हैं कि समाज सर्वोच्च या संप्रभु हैं जो दूसरे समझौते के द्वारा व्यक्तियों के जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति की रक्षा के उद्देश्य से अपनी शक्तियाँ सरकार को सौंपता है। यदि सरकार ठीक प्रकार से कार्य न करे तो व्यक्तियों को सरकार को हटाने तथा उसका विरोध करने का अधिकार है। इस प्रकार सरकार की शक्ति निरंकुश नहीं वरन् सीमित है।

रूसो के विचार–

(i) प्राकृतिक अवस्था–रूसो प्राकृतिक अवस्था को आनन्दमयी मानता हैं। मनुष्य एक भद्र बर्बर था। यह अवस्था असामाजिक नहीं वरन् अराजनीतिक थी। व्यक्तिगत सम्पत्ति का अभाव था। धीरे–धीरे सभ्यता के उदय के साथ–साथ कला एवं विज्ञान का विकास हुआ। निजी सम्पत्ति, विवाह तथा श्रम–विभाजन के कारण समस्याएँ जटिल होती चली गई। अतः राज्य की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इस प्रकार मनुष्य की असमानताओं के कारण ही राज्य अनिवार्य हुआ।

(ii) समझौते का स्वरूप– रूसो, एक समझौता होना स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार यह समझौता नागरिकों के वैयक्तिक स्वरूप तथा सामूहिक स्वरूप के बीच हुआ। इस सामूहिक समाज द्वारा ही शासन का निर्माण हुआ।

(iii) संप्रभुता– रूसो के अनुसार व्यक्तियों ने संविदा या समझौते द्वारा अपने अधिकार सामूहिक सत्ता को सौंप दिए। इसी सामूहिक सत्ता या समाज ने शासन को अधिकार या शक्तियाँ प्रदान की। यह सिद्धान्त इतिहास सम्मत नहीं हैं। इतिहास में इस प्रकार के समझौते का कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

4. पितृसत्तात्मक सिद्धान्त– हैनरीमेन के अनुसार यह वह सिद्धान्त हैं जो समाज का आरंभ ऐसे प्रथम परिवारों से मानता हैं जो सबसे अधिक आयु वाले पुरुष के वंशज के नियंत्रण व छत्रछाया में एक साथ रहते हैं। परिवारों से कबीले और कबीलों से उपजातियों तथा अन्त में राज्य का निर्माण हुआ। पिता या सबसे अधिक आयु वाले पुरुष की श्रेष्ठता को सबने स्वीकार किया। अतः परिवार की वृद्धि के साथ–साथ पिता की शक्तियों में भी वृद्धि हुई। बाद में वह राजा बन गया। पिता की आज्ञा पालन से ही वे राजा की आज्ञा मानने लगे।

कुछ विद्वानों ने इस सिद्धान्त की आलोचना भी की है। जैक्स का विचार हैं प्रारम्भिक सामाजिक संगठन की इकाई परिवार नहीं, अपितु कबीले थे। मैकलेनन ने पैतृक परिवारों के पूर्व मातृमूलक परिवारों के अस्तित्व को स्वीकार किया हैं।

5. मातृसत्तात्मक सिद्धान्त– इस सिद्धान्त के अनुसार भी परिवार ही प्रारम्भिक सामाजिक इकाई हैं। प्रारम्भिक परिवार पितृसत्तात्मक न होकर मातृ–सत्तात्मक थे। परिवार में पिता के स्थान पर माता का स्थान सर्वोच्च होता हैं। स्त्री के माध्यम से संबंध स्थापित होते थे। सम्पत्ति तथा बच्चों पर माता का अधिकार होता था। माता राज्य करती थी।

इस सिद्धान्त की आलोचना इन आधारों पर की जाती हैं– प्रथम, परिवार दोनों प्रकार के होते हैं अर्थात् मातृसत्तात्मक और पितृसत्तात्मक। दूसरे, यह सिद्धान्त संप्रभु तथा माता की शक्तियों में भेद नहीं कर पाता।

6.ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त–लौकॉक का मत है कि राज्य का जन्म धीरे–धीरे मानव जाति के इतिहास की उस प्रक्रिया से हुआ जिसका कुछ अंश भूतकाल में छिपा हैं और कुछ हमें विदित हैं। राज्य का निर्माण बहुत से तत्वों के कारण एक लंबे समय में हुआ हैं। गार्नर ने लिखा है, ''राज्य न तो ईश्वर की कृति हैं, न महान बलप्रयोग का प्रतिफल है, न व्यक्तियों द्वारा किसी प्रस्ताव या समझौते द्वारा निर्मित और न केवल मात्र परिवार का विस्तृत रूप है, बल्कि राज्य ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया द्वारा नैसर्गिक विकास से उत्पन्न संस्था है।'' राज्य के विकासवादी सिद्धान्त का यह अर्थ हैं कि ''राज्य निर्मित नहीं अपितु विकसित हैं।'' यह किसी निश्चित समय में एक यंत्र की तरह नहीं बनाया गया, अपितु मानव जीवन के दीर्घकालीन इतिहास के प्रारम्भ में आज यह नैसर्गिक विधि से विकसित होता आया हैं।

बर्गेस के अनुसार, ''इस प्रस्थापना का कि राज्य इतिहास की उपज हैं, अर्थ यह है कि राज्य मानव समाज का क्रमिक तथा निरन्तर विकास है, जो अत्यन्त पूर्ण आरम्भिक अवस्था से मानवता के एक पूर्ण तथा सार्वभौम संगठन के रूप में विकसित हुआ है।'' इस दीर्घकालीन विकासक्रम में राज्य की उत्पत्ति में अनेक तथ्यों ने योगदान किया। समाज तथा राज्य के निर्माण में मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति का सबसे महान योगदान है।

सिसरो का कहना है कि ''राज्य की उत्पत्ति मनुष्य की सामाजिकता की प्रवृत्ति के फलस्वरूप हुई।'' अतः स्पष्ट हैं कि राज्य का निर्माण बहुत से तत्वों के कारण एक लंबे समय से हुआ हैं। जिन तत्वों का राज्य के निर्माण में महत्वपूर्ण हाथ रहा हैं वे इस प्रकार हैं–(i) सामाजिकता की भावना (ii) रक्त संबंध (iii) शक्ति (iv) धर्म (v) राजनैतिक जागरूकता।

राज्य के आवश्यक तत्व

स्पष्ट हैं कि एक राज्य के आवश्यक तत्व निम्नलिखित हैं–

1. निश्चित भू–भाग– प्रत्येक राज्य की अपनी सीमाएँ निश्चित रहती हैं। इन्हीं सीमाओं से घिरा हुआ भू–प्रदेश राज्य का निश्चित भू–भाग होगा।

2. जनसंख्या– एक निश्चित भू–भाग पर रहने वाले निवासी किसी भी राज्य की दूसरा आवश्यक अंग हैं। यह राज्य की जनसंख्या कहलाती हैं।

3. सरकार– एक राज्य का तीसरा आवश्यक अंग हैं,

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

सरकार। एक संगठित सरकार राज्य के कार्यों का संचालन करती हैं।

4. प्रभुसत्ता– यह राज्य का अत्यन्त आवश्यक अंग हैं। राज्य वही हैं, जो प्रभुसत्ता सम्पन्न हैं। 1947 के पहले भारत का निश्चित भू–भाग था, जनसंख्या थी, सरकार भी थी। परन्तु प्रभुसत्ता नहीं थी। अतः वह वास्तव में राज्य नहीं था। स्वतंत्रता के बाद पूर्ण प्रभुसत्ता प्राप्त होने से भारत एक राज्य बन गया।

उपरोक्त चारों ही तत्व राज्य के लिये आवश्यक हैं। किसी एक की भी कमी से किसी राज्य का निर्माण नहीं हो सकता। बिना जनसंख्या के राज्य संभव नहीं–फिर जनसंख्या के लिये निश्चित भू–भाग आवश्यक हैं, जिस पर जनसंख्या रह सके, फिर उनकी एक संगठित–प्रभुसत्ता सम्पन्न सरकार भी होना चाहिए।

एक आधुनिक राज्य के कार्य

वर्तमान में राज्य के कार्यों की संख्या बढ़ती जा रही हैं। सामान्यतः जो कार्य राज्य के ऐच्छिक कार्य समझे जाते हैं वे ही कार्य एक आधुनिक राज्य के अनिवार्य कार्य बनते जा रहे हैं। राज्य न केवल बाहरी आक्रमणों से रक्षा व आंतरिक शान्ति व व्यवस्था करने के लिये उत्तरदायी हैं बल्कि यदि राज्य के निवासी भूखे हैं, अशिक्षित हैं, तो एक आधुनिक राज्य आँख मूँदकर नहीं बैठ सकता। निवासियों के लिये अन्न, वस्त्र, शिक्षा, सफाई, प्रकाश, दवाई, मकान आदि की व्यवस्था करना भी राज्य के लिये एक आवश्यक कार्य हैं।

एक आधुनिक राज्य के प्रमुख कार्य निम्नलिखित है–

1. बाहरी आक्रमण से देश की रक्षा– राज्य का प्रमुख कार्य यह हैं कि वह इस बात की व्यवस्था करें कि यदि देश पर बाहरी आक्रमण होता हैं तो उसकी प्रभुसत्ता व भू–भाग की रक्षा की जा सके। सेना की उचित व्यवस्था, आवश्यक युद्ध सामग्री आदि की व्यवस्था इस कार्य में आती हैं। प्रत्येक राज्य की सरकार में आज एक प्रतिरक्षा विभाग अलग से होता हैं, उसका एक मंत्री होता हैं। यह विभाग इस कार्य के लिये उत्तरदायी है।

2. आन्तरिक शान्ति और सुरक्षा– राज्य का दूसरा प्रमुख कार्य हैं, देश में आंतरिक शांति की व्यवस्था करना। चोर, डाकुओं, उठाईगीरों से निवासियों की जानमाल की रक्षा करना राज्य का पुनित कर्त्तव्य हैं। पुलिस व न्याय व्यवस्था इसी कार्य के अंग हैं।

3. न्याय–व्यवस्था– राज्य का तीसरा प्रमुख कार्य हैं, उसके निवासियों को समान सामाजिक न्याय की व्यवस्था प्रदान करना। निवासियों में होने वाले पारस्परिक संघर्षों और झगड़ों को न्यायपूर्ण रीति से निपटाना एक आधुनिक राज्य का महत्वपूर्ण कार्य हैं।

4. शिक्षा– निवासियों को शिक्षित बनाने का कार्य भी एक आधुनिक राज्य का अनिवार्य कार्य हैं। जो राज्य इस कार्य में पिछड़ता हैं, वह आलोचना का पात्र बनता हैं। आज राज्य की तरफ से सैकड़ों प्राथमिक, माध्यमिक, उच्चतर व महाविद्यालयों का संचालन होता हैं। विभिन्न उद्योगों, व्यवसायों की व्यावहारिक शिक्षा का प्रबंध भी एक आधुनिक राज्य करता हैं।

5. स्वास्थ्य और सफाई– निवासियों के स्वास्थ्य की व्यवस्था में भी राज्य महत्वपूर्ण कार्य करता हैं। गाँव–गाँव में अस्पतालों, चिकित्सकों, नर्सों आदि की व्यवस्था, औषधि वितरण, छूत की बीमारियों की रोकथाम के लिये टीके लगवाना, मेडिकल कालेजों में शिक्षा प्रदान करना, नर्सों की ट्रेनिंग की व्यवस्था करना आदि विभिन्न कार्य एक आधुनिक राज्य करता हैं। सड़कों, शौचालयों आदि की सफाई, सड़कों पर प्रकाश की व्यवस्था भी राज्य करता हैं।

6. यातायात और सन्देशवाहन की व्यवस्था–जनता को सन्देशवाहन या यातायात की सुविधा राज्य प्रदान करता हैं। यातायात के साधनों जैसे शहर में बस की व्यवस्था, एक स्थान से दूसरे स्थान पर आने–जाने व माल ढोने के लिये परिवहन की व्यवस्था, रेलवे, जहाज, वायुयान आदि की सेवाएँ राज्य प्रदान करता हैं। सन्देशवाहन के साधनों पर भी राज्य का नियंत्रण रहता हैं : डाक, तार, टेलिफोन आदि की व्यवस्था राज्य करता हैं।

7. व्यापार उद्योगों को प्रोत्साहन– राज्य अपनी नीतियों द्वारा व्यापार एवं उद्योग–धन्धों को प्रोत्साहित करता हैं। उन्हें आर्थिक व अन्य प्रकार की सहायता पहुँचाता हैं। जरूरत पड़ने पर उन्हें संरक्षण भी प्रदान करता हैं।

8. स्वयं की व्यापार व उद्योगों में भाग लेना– राज्य न केवल व्यापार व उद्योग–धन्धों को प्रोत्साहित करता हैं, वरन् स्वयं भी व्यापार व व्यवसाय के क्षेत्र में उतरता हैं। भारत में आज मूलभूत उद्योगों जैसे–प्रतिरक्षा, लोहा, रेलवे, आदि पर राज्य का अधिकार हैं। इसी प्रकार अनाज का व्यापार भी राज्य धीरे–धीरे अपने हाथों में लेता जा रहा हैं।

9. कृषि की उन्नति– राज्य कृषि की उन्नति के विभिन्न साधनों को जुटाता हैं। कृषकों के लिए उत्तम बीज, खाद व सिंचाई के साधनों की व्यवस्था राज्य करता है। राज्य यह देखता हैं कि उसके निवासियों को उचित मात्रा में अन्न मिलता रहे।

10. बेकारी व गरीबी निवारण– राज्य की तरफ से यह भरसक प्रयत्न रहता हैं कि कोई भी व्यक्ति बेकार नहीं रहे। बेकारों की राज्य प्रतिवर्ष गणना करवाता हैं तथा लाखों की विभिन्न उद्योगों में रोजगार दफ्तरों के माध्यम से रोजगार दिलाने की व्यवस्था करता हैं। गरीबी निवारण के लिए देश की समृद्धि आवश्यक हैं। अतः विभिन्न योजनाओं से देश को समृद्ध बनाने का प्रयत्न करता हैं।

11. सामजिक सुधार– एक आधुनिक राज्य अपनी जनता में फैली हुई विभिन्न सामाजिक कुरीतियों को भी दूर

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

करता हैं। विभिन्न सामाजिक विधानों के माध्यम से जनता को इन बुराइयों में फँसने से रोकता हैं।

12. सामाजिक शिक्षा– एक आधुनिक राज्य न केवल विधान बनाकर अपने कार्य की इतिश्री समझता है। वरन् जनता को विभिन्न प्रचार के माध्यमों से शिक्षित करने का प्रयत्न करता हैं। परिवार नियोजन आदि की शिक्षा जनता को प्रचार के माध्यमों से देने का प्रयत्न करता हैं। इसी प्रकार सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिये भी राज्य उनके विरूद्ध प्रचार कर जनता को शिक्षित करता हैं।

13. वैदेशिक संबंध– एक आधुनिक राज्य की सफलता की यह सबसे प्रमुख पहचान हैं कि उसके विदेशों से, अपने पड़ौसियों से किस प्रकार के संबंध हैं। राज्य अपने पड़ौसी देशों व अन्य विदेशों में अपने राजदूत नियुक्त करता हैं तथा कूटनीतिक तरीकों से विदेशों से अच्छे संबंध बनाये रखता हैं।

14. मुद्रा प्रबंध– आज का युग मुद्रा विनिमय का युग हैं। प्रत्येक वस्तु मुद्रा से खरीदी जाती हैं। व्यापार व्यवसाय मुद्रा से होता हैं। अतः राज्य नोट व सिक्के छापकर समाज में मुद्रा–प्रचलन का कार्य भी करता हैं। मुद्रा–प्रचलन की नीतियाँ राज्य को समाज हित का ध्यान रखकर बड़ी सावधानी से बनाना पड़ती हैं। राज्य न केवल देशी वरन् विदेशी मुद्रा की व्यवस्था भी करता हैं।

15. नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा– अपने नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा करना एक आधुनिक राज्य का परम कर्त्तव्य हैं। नागरिकों की जान–माल की रक्षा, विभिन्न क्षेत्रों में उनकी स्वतंत्रता व समानता की रक्षा करना राज्य का एक प्रमुख कार्य हैं।

16. सामाजिक सुरक्षा– बेकारी, बीमारी, दुर्घटना, वृद्धावस्था आदि के विरूद्ध राज्य अपने नागरिकों को सुरक्षा प्रदान करता हैं। सामाजिक सुरक्षा की विभिन्न योजनाएँ लागू कर राज्य यह कार्य करता हैं। भारतवर्ष में अभी केवल श्रमिकों तक ही सामाजिक सुरक्षा की योजना लागू की जा सकी हैं।

इस प्रकार एक आधुनिक राज्य वे सब कार्य करता हैं जो जनहित व जन–कल्याण के लिये आवश्यक है।

राजनैतिक संस्थाओं का सामाजिक नियंत्रण में महत्व

हम इस अध्याय के प्रारंभ में ही स्पष्ट कर चुके हैं कि सामाजिक नियंत्रण में राजनैतिक संस्थाओं का महत्व बहुत अधिक हैं विशेषकर आधुनिक जटिल समाजों में। नियंत्रण चाहे राजनैतिक संस्था द्वारा किये जाए या अन्य किसी माध्यम से, यह तभी सफल हो पाता हैं जब उसमें निम्नलिखित तत्व सम्मिलित हों–

1. अधिकार
2. आज्ञा देने की क्षमता
3. आज्ञा पालन करवाने की क्षमता
4. भय या दण्ड देने की क्षमता

1. अधिकार– किसी भी साधन से सामाजिक नियंत्रण तभी किया जा सकता हैं जबकि उसमें अधिकारिता के तत्व निहित हों। बिना अधिकार के कोई भी साधन सफल नहीं हो सकता। अधिकारिता सामाजिक मान्यता एवं स्वीकृति से प्राप्त होती हैं। दूसरे शब्दों में नियंत्रण करने में वही साधन या एजेन्सी सफल हो सकती हैं जिसे समाज से स्वीकृति एवं मान्यता प्राप्त हो।

2. आज्ञा देने की क्षमता– वही साधन सामाजिक नियंत्रण में सफल हो सकता हैं जिसमें सदस्यों को आज्ञा देने की क्षमता हो। आज्ञा देने की क्षमता का प्रत्यक्ष संबंध अधिकार से है। यदि अधिकार है तो आज्ञा देने की क्षमता भी स्वतः ही आ जावेगी।

3. आज्ञा पालन करवाने की क्षमता– आज्ञा देने की क्षमता का प्रत्यक्ष संबंध आज्ञा पालन करवाने की क्षमता से है। आज्ञा पालन करवाने की क्षमता भी समाज से स्वीकृति प्राप्त मान्य अधिकारों से मिलती है अतः आज्ञा पालन करवाने की क्षमता का भी प्रत्यक्ष संबंध 'अधिकार' से है।

4. भय या दण्ड देने की क्षमता– अधिकार, आज्ञा देने एवं पालन करवाने की क्षमता के साथ–साथ नियंत्रण के साधन की सहयोगी कोई ऐसी एजेन्सी भी होना चाहिये जो आज्ञा का उल्लघंन करने पर दण्ड दे सके। उदाहरण के लिए जाति प्रथा के अन्तर्विवाही नियम का उल्लघंन करने पर जाति पंचायत द्वारा दण्ड की व्यवस्था। दण्ड देने की क्षमता आज्ञा पालन करने वालों में भय की भावना उत्पन्न करती है और इसी भय की भावना से वे नियमों का पालन करते हैं व अपने–अपने कर्तव्यों को ठीक ढंग से पूरा करते हैं।

इस प्रकार ये चारों तत्व एक दूसरे से संबंधित एवं एक दूसरे पर निर्भर हैं।

राज्य में ये चारों तत्व, अन्य किसी भी साधन से, अधिक गहनता से निहित हैं। राज्य को समाज द्वारा अधिकार प्रदत्त किये जाते हैं, जिससे उसमें आज्ञा देने एवं पालन करवाने की क्षमता स्वतः ही आ जाती हैं। दण्ड देने की क्षमता भी राज्य से अधिक और किसी संस्था या साधन में नहीं हैं। यही कारण है कि वर्तमान में, अन्य किसी भी संस्था से अधिक, लोग राज्य से डरते हैं। अतः वर्तमान में राज्य के कार्यों को पूर्ण करने वाली सरकार सामाजिक नियंत्रण का सबसे शक्तिशाली साधन हैं।

आर्थिक संस्थाएँ

अन्य सामाजिक संस्थाओं के समान ही आर्थिक संस्थाएँ भी मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन हैं। आर्थिक संस्थाएँ मनुष्य की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। आर्थिक संस्थाएँ उतनी ही प्राचीन हैं जितना कि मानव समाज। अपनी भौतिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने की प्रक्रिया में मनुष्य ने आर्थिक संस्थाओं का विकास किया। वर्तमान में हमारी संस्कृति का एक बड़ा भाग आर्थिक संस्थाओं से निर्मित

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

हैं।

आगबर्न एवं निमकाफ ने आर्थिक संस्थाओं की परिभाषा करते हुए लिखा है

''भोजन और सम्पत्ति के संबंध में मनुष्य की क्रियाएँ आर्थिक संस्थाओं का निर्माण करती हैं।''

किंग्सले डेविस ने आर्थिक संस्थाओं का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है–''किसी भी समाज में चाहे, सभ्य समाज हो या आदिवासी समाज, सीमित वस्तुओं के वितरण को नियंत्रित करने वाले मूलभूत विचार, आदर्श नियम एवं स्थितियाँ ही उस समाज की आर्थिक संस्थाएँ हैं।''

मजूमदार एवं मदन के शब्दों में आर्थिक संस्थाओं से तात्पर्य ''मानवीय संबंधों एवं मानवीय प्रयत्नों से युक्त यह एक ऐसी व्यवस्था हैं, जिससे हम हमारे रोजमर्रा के जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति कम से कम प्रयत्नों से करते हैं। यह हमारा संगठित रूप से सीमित साधनों के असीमित आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रयत्न हैं।''

इस प्रकार स्पष्ट है कि किसी भी समाज की आर्थिक व्यवस्था में उत्पादन, वितरण, विनिमय एवं उपभोग की प्रणाली सन्निहित हैं। बिल्स एवं हाइजर ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि आर्थिक व्यवस्था व्यवहारों का ऐसा प्रतिमान हैं जिसके परिणामस्वरूप एक ऐसे संगठन का जन्म होता है जिसका संबंध सेवाओं तथा वस्तुओं के उत्पादन, वितरण तथा उपभोग से हैं। रेमन्ड फर्थ के अनुसार आर्थिक संगठन सामाजिक क्रिया का एक प्रकार हैं। बोन ने आर्थिक संस्थाओं का संबंध हमारे जीवन के अस्तित्व से जोड़ते हुए लिखा है कि अर्थ व्यवस्था व्यवहार का वह सम्पूर्ण संगठन हैं, जो मनुष्य के भौतिक अस्तित्व की समस्याओं से संबंधित हैं। पिडिंगटन के शब्दों में आर्थिक प्रणाली लोगों की भौतिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिये उत्पादन की व्यवस्था, वितरण पर नियंत्रण तथा समुदाय में स्वामित्व के आधारों तथा दावों को निर्धारित करती हैं।

इस प्रकार संक्षेप में आर्थिक संस्थाएँ मानव की भौतिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने में सहायक होने वाली संस्थाएँ हैं। भौतिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने हेतु ही इन संस्थाओं का विकास होता हैं।

प्रमुख आर्थिक संस्थाएँ

वर्तमान में मानव समाज में प्रमुख रूप से निम्नलिखित आर्थिक संस्थाएँ विद्यमान हैं–

1. वैयक्तिक सम्पत्ति या निजी सम्पत्ति– यह प्रमुख रूप से पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था की संस्था हैं। समाजवादी अर्थव्यवस्था में सम्पत्ति पर जनता का अर्थात् सरकार का अधिकार रहता हैं। वहाँ सम्पत्ति पर निजी अधिकारों को मान्यता नहीं दी जाती। परन्तु पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था में सम्पत्ति पर निजी अर्थात् व्यक्तिगत अधिकारों को मान्यता दी जाती हैं।

2. बड़े–बड़े उद्योग व धन्धे– आज का युग मशीन का युग हैं। इसमें कुटीर उद्योग धन्धों का महत्व कम हो गया हैं तथा बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति एवं बढ़ती हुई माँग की पूर्ति के हेतु विशाल पैमाने पर उत्पादन होता हैं। वर्तमान युग में वास्तव में इस विशाल पैमाने के उत्पादन को कोई अकेला व्यक्ति नहीं कर सकता। न ही इसे लघु उधोग धन्धों के माध्यम से किया जा सकता हैं। अतः बड़े–बड़े उद्योग धन्धे वर्तमान समाज की महत्वपूर्ण आर्थिक संस्था बन गई हैं। ये पूँजीवादी व समाजवादी सभी देशों में समान रूप से पाई जाती हैं। अन्तर केवल इतना हैं कि पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था में इन पर अधिकार निजी व्यक्तियों का रहता हैं। जबकि समाजवादी देशों में अधिकार राज्य का रहता हैं।

3. द्रव्य व साख– आज के युग की तीसरी आर्थिक संस्था हैं द्रव्य व साख। प्राचीन अविकसित समाज की वस्तु विनिमय की प्रथा अब नहीं रही। अब सारा विनिमय, व्यापार धन्धे द्रव्य के माध्यम से होते हैं। द्रव्य आज की आर्थिक व्यवस्था की रीढ़ की हड्डी हैं। द्रव्य के साथ–साथ साख भी एक महत्वपूर्ण आर्थिक संस्था हैं। आज लाखों करोड़ों रूपयों का व्यापार–व्यवसाय साख पर होता हैं। द्रव्य और साख की व्यवस्थापक संस्था हैं बैंक। सारे समाज में बैंकों का जाल बिछा हुआ है।

4. वृहद् आर्थिक समितियाँ या निगम एवं प्रमण्डल– इतने विशाल पैमाने पर उत्पादन करने के लिए वृहद् पूँजी की आवश्यकता होती हैं। इतनी पूँजी एकत्रित करने की सामर्थ्य अकेले व्यक्ति में नहीं होती। अतः आर्थिक समितियों, वित्त निगमों या प्रमण्डलों का निर्माण करके पूँजी प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता हैं। समाजवादी अर्थव्यवस्था में सब पर राज्य का अधिकार रहता हैं। अतः राज्य ही पूँजी की व्यवस्था करता है।

5. मजदूरी प्रणाली– इतने विशाल कल कारखाने चलाने के लिए मजदूरों की आवश्यकता होती हैं। इन मजदूरों को मजदूरी देने की प्रणालियाँ दो प्रकार की होती हैं– (1) जितना काम उतना दाम के सिद्धांत पर आधारित प्रणाली तथा (2) समय के आधार पर (समय पर आधारित मजदूरी) प्रणाली। सुविधानुसार उपरोक्त में से कोई भी एक प्रणाली अपनाई जाती हैं।

6. मजदूर संघ एवं मिल मालिक संघ– माँग और पूर्ति के आधार पर मिल मालिकों व मजदूरी व अन्य काम करने की दशाओं के बारे में एक संघर्ष–सा चलता है। मजदूर अधिक मजदूरी की माँग करता हैं। जबकि मिल मालिक कम मजदूरी देना चाहता हैं। कई बार मजदूरों की अनुचित माँगों के कारण मिल मालिक परेशानी में पड़ जाता हैं। अतः दोनों ने संगठित रूप से अपनी बात को रखने के लिए अपने–अपने यूनियनों का निर्माण किया। मिल मालिक और मजदूरों के सहयोग पर ही आज की उत्पादन क्रिया निर्भर करती हैं।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

7. सहयोग– आर्थिक क्षेत्र में सहयोग भी अपना स्थान बनाता जा रहा हैं। व्यापारी व पूँजीपति परस्पर सहयोग कर बड़ी मात्रा में पूँजी एकत्रित करके बड़े–बड़े कल कारखानों की स्थापना करते हैं। मिल मालिकों व मजदूरों में सहयोग अनिवार्य हैं। समाजवादी देशों में भी सरकार व मजदूरों के बीच सहयोग अपेक्षित हैं।

8. प्रतियोगिता– प्रतियोगिता तो आर्थिक जगत की मुख्य संस्था कही जा सकती हैं। माल के उत्पादकों के बीच प्रतियोगिता, माल के विक्रेताओं एवं खरीददारों के बीच प्रतियोगिता, विक्रेताओं के बीच प्रतियोगिता, खरीददारों के बीच प्रतियोगिता–सबके बीच में प्रतियोगिता पाई जाती हैं। आर्थिक जगत की प्रतियोगिता तो गलाकाट प्रतियोगिता के नाम से प्रसिद्ध है। समाजवादी देशों में जहाँ उत्पादन व विक्रय पर राज्य का एकाधिकार रहता हैं वहाँ प्रतियोगिता नहीं पाई जाती हैं।

9. एकाधिकार– पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की यह भी एक प्रमुख संस्था हैं। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में कोई निजी व्यक्ति, संस्था या नियम किसी विशिष्ट वस्तुओं के उत्पादन पर अपना एकाधिकार स्थापित करके मनचाहे भाव उस वस्तु के निश्चित करते हैं। इसलिए समाजवादी देशों में एकाधिकार समाप्त करने का प्रयत्न किया जाता हैं। परन्तु इन देशों में भी राज्य का एकाधिकार स्थापित हो जाता हैं।

10. सहकारी समितियाँ– मध्यस्थों व दलालों से बचने के लिये उपभोक्तागण मिलकर सहकारी समितियों का निर्माण कर लेते हैं। ये समितियाँ उचित दामों पर उपभोक्ताओं को माल तो बेचती हैं साथ ही साथ इससे उत्पन्न लाभ का भी सदस्य उपभोक्ताओं में बँटवारा होता हैं।

11. ठेका– कई कार्य ठेके के माध्यम से भी किये जाते हैं। बड़े–बड़े पुलों, सड़कों, भवनों आदि का निर्माण ठेके से होता हैं। माल की बड़ी मात्रा में आपूर्ति ठेके से होती है। टेण्डर आमंत्रित किये जाते हैं व विभिन्न टेण्डरों में से उचित टेण्डर भेजने वाले को ठेका दिया जाता हैं। ठेके के कार्यों में बेईमानी व भ्रष्टाचार की रोकथाम के लिए सरकार ने कानूनों का निर्माण भी किया।

12. वितरण प्रणाली– आज वितरण प्रणाली भी एक महत्वपूर्ण संस्था हो गई हैं। यदि प्रत्येक मनुष्य अपनी–अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ पैदा कर लेता तो वितरण का प्रश्न ही नहीं उठता। पर चूँकि उत्पादन बड़ी मात्रा में एक स्थान पर होता हैं। अतः उसके वितरण की समस्या भी एक जटिल समस्या है।

13. श्रम विभाजन– आज प्रत्येक कार्य श्रम विभाजन के आधार पर होता है। सबके अपने–अपने अलग–अलग कार्य बँटे हुए हैं और इस प्रकार एक कार्य कई अलग–अलग इकाइयों में होता है।

14. श्रम का विशिष्टीकरण–आज का युग विशिष्टीकरण का युग है। प्रत्येक कार्य के विशेषज्ञ होते हैं। फिर एक व्यक्ति एक ही कार्य करते–करते उसमें दक्ष हो जाता है–उसमें विशिष्टता प्राप्त कर लेता हैं। यही नहीं बाजारों का भी विशिष्टीकरण होता हैं–कपड़े के लिए कपड़ा बाजार, सब्जी के लिए सब्जीमण्डी, अनाज के लिए अनाज का बाजार आदि–आदि।

15. बाजार व विनिमय– बाजार एवं विनिमय प्रणाली आज की प्रमुख आर्थिक संस्था हैं। बाजार ही वह स्थान हैं जहाँ से वस्तुओं का क्रय–विक्रय होता हैं, पैसों का लेन–देन होता है, वस्तुओं के भाव निश्चित होते हैं। क्रय–विक्रय का केन्द्र बाजार है। क्रय–विक्रय मुद्रा विनिमय के माध्यम से होता हैं। एक समय था जब वस्तु का वस्तु से विनिमय होता था। परन्तु अब वस्तु विनिमय का स्थान मुद्रा विनिमय ने ले लिया हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त विभिन्न आर्थिक संस्थाएँ हमारे समाज में वर्तमान में पाई जाती हैं। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था से उत्पन्न बुराइयों को कम करने के लिए राज्य का हस्तक्षेप दिन–प्रतिदिन बढ़ता जा रहा हैं। सरकार स्वयं उद्योग धन्धों पर न केवल नियंत्रण करती हैं, पर स्वयं कई उद्योग धन्धों का संचालन भी करती हैं।

आर्थिक संस्थाओं का विकास

आर्थिक संस्थाओं का विकास समाज के उद्‌विकास की विभिन्न अवस्थाओं के सन्दर्भ में देखा जा सकता हैं–

1. भोजन इकट्ठा करने एवं शिकार करने की अवस्था– इस अवस्था में मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर भोजन एवं शिकार की खोज में भटकता फिरता था। वह किसी एक स्थान पर टिक कर नहीं रहता था। इस अवस्था में निजी सम्पत्ति की भावना का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। सुदृढ़ पारिवारिक इकाई की स्थापना नहीं हुई थी। इस समय तक व्यवसाय या व्यापार की प्रक्रिया से मानव अनभिज्ञ था।

2. पशुपालन अवस्था– यह अवस्था मानव की सभ्यता के विकास की द्वितीय अवस्था कही जाती हैं। इस अवस्था में मानव ने पशुओं को पालना आरंभ कर दिया था। पशुओं के रूप में निजी सम्पत्ति की भावना का विकास होने लगा। अभी भी मानव एक स्थान पर नहीं रहता था। अपने पशुओं के लिये चरागाह की खोज में वह पशुओं के साथ ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर भटकता फिरता था। उत्पादन (पशुओं का दूध आदि) अभी भी उपयोग के लिये ही होता था।

3. कृषि युग– मानव की सभ्यता के विकास की तीसरी संस्था कृषि युग की अवस्था थी। इस अवस्था में मानव ने अपने पशुओं की सहायता से कृषि करना सीख लिया था। इस समय निजी सम्पत्ति की भावना का प्रादुर्भाव हुआ। जमीन एवं पशुओं पर अपना अधिकार एवं उन्हें अपनी सम्पत्ति मानने की भावना का जन्म हुआ। अब मानवीय निवास में स्थायित्व

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

आया। संयुक्त एवं विस्तृत परिवारों की स्थापना हुई। स्त्रियों एवं बच्चों को भी पुरुषों ने अपनी सम्पत्ति मानना प्रारंभ कर दिया। इसके उपरांत जमींदारी, जागीरदारी प्रथा या सामन्तवाद का जन्म हुआ। प्रारंभ में वस्तु विनिमय प्रारंभ हुआ व बाद में मुद्रा का आविष्कार हुआ तब मुद्रा विनिमय प्रारंभ हुआ।

4. औद्योगिक युग– नई तकनीकी एवं विज्ञान की सहायता से मानव ने नये–नये यंत्रों का आविष्कार किया। इन यंत्रों की सहायता से मानव ने उत्पादन की समस्त प्रणाली को परिवर्तित कर दिया। बड़े–बड़े विशाल कारखानों में विशाल पैमाने पर उत्पादन प्रारंभ हुआ। वितरण एवं विनिमय की प्रणालियों में परिवर्तन हो गया। पूँजीवादी, समाजवाद आदि वादों का जन्म हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होने लगा। विश्व की परिधि सीमित हो गई। एक विवाह की प्रथा सुदृढ़ हो गई। परिवारों का प्रतिमान बदलने लगा। एकाकी परिवार विकसित हो गये। वृहद् प्रमण्डल एवं निगमों की स्थापना हुई। नगरों का विकास हुआ। श्रम का विशेषीकरण हो गया।

इस प्रकार इन विभिन्न अवस्थाओं में आर्थिक संस्थाओं का विकास हुआ। जैसा कि हम देख चुके हैं। आर्थिक संस्थाएँ समग्र संस्कृति की एक इकाई हैं, स्वाभाविक ही हैं कि इनके विकास ने समाज में व्यापक प्रभाव डाले।

आर्थिक संस्थाओं के विकास के सामाजिक प्रभाव

आर्थिक संस्थाओं के विकास के प्रमुख सामाजिक प्रभाव निम्नलिखित हैं–

1. औद्योगीकरण–अर्थव्यवस्था कृषि प्रधान से उद्योग प्रधान बनने लगे। यंत्रीकरण का विस्तार हुआ। कृषि का भी औद्योगीकरण होने लगा। अकृषि व्यवसाय एवं उद्योगों की स्थापना हुई। विशाल कारखानों की स्थापना हुई एवं विशाल पैमाने पर उत्पादन होने लगा। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का जन्म हुआ।

2. नगरीकरण–औद्योगीकरण के साथ–साथ नगरों का विकास हुआ। ग्रामों से लोग नगरों में आने लगे। नगरीय जीवन एवं रहन–सहन का विकास हुआ।

3. नये–नये वर्गों का निर्माण एवं वर्ग संघर्ष– अमीर, मध्यम एवं गरीब वर्गों में समाज विभाजित हुआ। मालिक एवं मजदूरों के नये वर्गों का जन्म हुआ। वर्गों में हितों के आधार पर परस्पर संघर्ष होने लगा।

4. कई सामाजिक समस्याओं का जन्म–बेकारी, गन्दी बस्तियाँ, अपराध, बाल अपराध आदि कई सामाजिक समस्याओं का जन्म इन आर्थिक संस्थाओं के विकास के कारण हुआ।

5. सामाजिक संस्थाओं में परिवर्तन–परिवारों के स्वरूपों, पति–पत्नी के संबंधों, विवाह के आधारों, परिवार के कार्यों, संस्तरण की व्यवस्थाओं एवं प्रणालियों में समय–समय पर आर्थिक संस्थाओं के विकास के साथ–साथ परिवर्तन होते रहते हैं। भारत में ही संयुक्त परिवारों का स्थान एकाकी परिवार ले रहे हैं। विवाह के आधार में परिवर्तन हो रहा हैं। जाति–प्रथा के बंधन शिथिल होते जा रहे हैं। इस प्रकार अन्य सामाजिक संस्थाओं पर भी आर्थिक संस्थाओं के विकास का प्रभाव पड़ता हैं।

6. सामाजिक विघटन– आर्थिक संस्थाओं के विकास का सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव समाज पर यह पड़ा है कि सामाजिक विघटन, आधुनिक जटिल समाजों का अनिवार्य लक्षण बन गया हैं।

7. नये वादों का जन्म– पूँजीवाद का जन्म एवं विकास हुआ। पूँजीवाद के फलस्वरूप वर्ग संघर्ष में वृद्धि हुई व समाजवाद एवं साम्यवाद विकसित हुआ। इस प्रकार इन वादों में विश्व बँट गया। एक समाज समाजवादी है तो दूसरा पूँजीवादी व तीसरा अपने आपको साम्यवादी कहता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि आर्थिक संस्थाओं के विकास के व्यापक सामाजिक प्रभाव हुए हैं।

धर्म एवं शिक्षा सामाजिक संस्था के रूप में

प्राचीन काल से भारतीय सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने एवं नियंत्रण करने में इसकी मौलिक संस्थाओं में धर्म, शिक्षा एवं कानून का विभिन्न रूपों में महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

धर्म की अवधारणा– प्राचीनतम सभ्यता और संस्कृति के प्रतीक भारतीय समाज की मौलिक संस्थाओं में धर्म संस्कृति के नियामक आधारों में सबसे व्यापक, सबसे संगठित एवं सबसे प्रभावशाली है। धर्म की व्यवस्था मानव समाज में प्रारम्भ से ही रहस्य, भय एवं नियमितता का स्त्रोत रही है। आदि मानव ने जब प्रकृति के भयंकर स्वरूपों जैसे– बिजली, तूफान, आग आदि के सामने अपने को असहाय पाया तो उसने इन्हें ही अलौकिक सत्ता के रूप में देखा। धर्म की उत्पत्ति, ऐसा प्रतीत होता है कि मानव के डर, अज्ञानता एवं असहायता से हुई। सबसे ज्यादा भयावह, आश्चर्यजनक और रहस्यमय स्वयं प्रकृति थी इसलिये प्रकृति को ही अलौकिक सत्ता का प्रतिरूप मान लिया गया। लगभग सभी धर्मों के आरम्भिक स्वरूप अथवा जनजातीय धर्म, प्रकृति की शक्तियों की पूजा से जुड़े है। काल और देश के साथ इसके स्वरूप, संगठन एवं प्रकृति में फर्क जरूर हुआ है। परन्तु मजबूत अथवा कमजोर अवस्था में यह मौजूद सभी जगहों में रहा है। भारत में अनेकानेक धर्मों का उदभव, प्रसार और प्रभाव रहा है जिन्होंने भारतीय समाज के प्रत्येक क्षेत्र–दर्शन, साहित्य, कला, प्रशासन, राजनीति व आर्थिकी के साथ–साथ भारतीय समाज की व्यवस्था एवं प्रतिमान, कानून एवं शिक्षा को सक्रिय रूप से प्रभावित एवं परिवर्तित किया है। वास्तव में भारतीय परम्परागत समाज और धर्म में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। जो परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते रहे हैं। अतः भारत के विभिन्न धर्मों के अध्ययन

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

के बिना भारतीय समाज को समझना संभव नहीं है।

धर्म का अर्थ एवं परिभाषा– बुके के अनुसार धर्म के लिये उपर्युक्त अंग्रेजी शब्द रिलिजन (Religion) की उत्पत्ति लैटिन शब्द 'रीलिजिओ' से हुई है। जिसका अर्थ है साथ–साथ मानना या पालन करना। संस्कृत भाषा के 'धृ' शब्द का अर्थ है धारण करना अर्थात सात्विक गुणों को धारण करना धर्म है। धर्म शब्द का प्रयोग वेद, उपनिषद एवं धर्म ग्रन्थों आदि में प्रचुरता से लिया गया है। वेदों में ऋत के अर्थ में धर्म का प्रयोग हुआ है। ऋत ऐसा मूर्त सिद्धांत हैं जो लोकों में समुचित व्यवस्था बनाये रखता है।

समाजशास्त्री जॉनसन ने धर्म की एक कार्यात्मक और सुसंगत परिभाषा दी है– "धर्म, अलौकिक वस्तुओं, सत्ता, शक्ति, अथवा अन्य अलौकिक तत्वों से जुड़े विश्वासों एवं व्यवहारों की एक अन्तर्सम्बन्धित व्यवस्था है। यह ऐसी व्यवस्था है जिससे उस धर्म को मानने वालों के व्यवहार एवं हित जुड़े रहते हैं। यह सम्बन्ध ऐसा है जिसे धर्म के मानने वाले अपने, सार्वजनिक और निजी जीवन में गम्भीरता से स्वीकार करते हैं।" जॉनसन के अनुसार धर्म का सबसे महत्वपूर्ण तत्व अलौकिक वस्तु, शक्ति अथवा सत्ता में विश्वास है।

1. प्रसिद्ध सामाजिक विचारक कार्ल मार्क्स, इमाइल दुर्खीम, मैक्स वेबर आदि ने धर्म को एक सामाजिक उत्पादन कहा है।
2. फ्रांसीसी समाजशास्त्री इमाइल दुर्खीम ने धर्म को सामाजिक रूप से स्वीकृत, पवित्र वस्तुओं से सम्बन्धित विश्वासों एवं व्यवहारों की संगठित व्यवस्था कहा है। दुर्खीम के अनुसार ईश्वर मानव की सबसे सुन्दर कृति है। धर्म की आदिम एवं मध्य युगीन समाज में सामाजिक एकता कायम करने में प्रमुख भूमिका थी। आधुनिक समाज में यह काम स्वयं समाज अपनी विशेष संरचना (सावयवी एकता) के कारण कर लेता है। धार्मिक विश्वासों के कारण ही जो समाज द्वारा प्रेरित है, एक ही वस्तु को एक समाज में पवित्र एवं दूसरे समाज में सामान्य कहा जाता है।
3. कार्ल मार्क्स के अनुसार धर्म, समाज निर्मित एक भावनात्मक एवं शक्तिशाली व्यवस्था है जो सामान्य जनता के लिये अफीम का काम करता है।
4. मेक्सवेबर ने धर्म को भावनात्मक क्रिया पर आधारित कहा है। उसके अनुसार पूर्व औद्यागिक समाजों में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका थी। आधुनिक विवेकपूर्ण समाज में विवेक की शक्तियों ने धर्म का महत्व कम कर दिया है।
5. टायलर के अनुसार धर्म सर्वशक्तिमान, अलौकिक सत्ता एवं उसके प्रतीक में विश्वास है। क्रिस्टोफर डाउसन के अनुसार धर्म में मनुष्य के भक्तभाव को सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। मानवशास्त्री रैडक्लिफ ब्राउन एवं मैलिनोवस्की ने धर्म को क्रियाओं का एक तरीका और विश्वासों की एक व्यवस्था माना है जो सामाजिक घटना के साथ ही एक व्यक्तिगत अनुभव भी है।

जेम्स फ्रेजर कहते हैं कि "धर्म को मैं मानव से सर्वोपरि उन शक्तियों की संतुष्टि या आराधना समझता हूँ जिनके सम्बन्ध में यह विश्वास किया जाता है कि मानव जीवन को मार्ग दिखाती और नियंत्रित करती है।" मिल्टन सिंगर ने धर्म को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "धर्म वह व्यवस्थित प्रयास है जिससे हम जीवन की अन्तिम आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें।"

पी. हॉनिगशीम के अनुसार "प्रत्येक उस मनोवृति को धर्म कहेंगे जो इस विश्वास पर आधारित है कि अलौकिक शक्तियों का अस्तित्व है तथा उनसे सम्बन्ध स्थापित करना न केवल महत्वपूर्ण है वरन् सम्भव भी है।"

हॉबल के अनुसार "धर्म अलौकिक शक्ति में विश्वास पर आधारित है जिसमें आत्मावाद और मानावाद दोनों सम्मिलित हैं।"

विभिन्न हिन्दू धर्म ग्रन्थों में "धर्म" शब्द का प्रयोग भिन्न अर्थ में किया गया है। धर्म का अर्थ कर्त्तव्य से भी लिया गया है जैसे राजा के कर्त्तव्य राजधर्म, पुत्र के कर्त्तव्य पुत्र धर्म आदि हैं। कई बार वस्तुओं के आंतरिक गुण, स्वभाव आदि को दर्शाने के लिए भी धर्म शब्द का प्रयोग किया जाता है। राधाकृष्णन के अनुसार "जिन सिद्धान्तों का हमें अपने दैनिक जीवन में और सामाजिक सम्बन्धों में पालन करना है, वे उस व्यवस्था द्वारा नियत किये गये है जिसे धर्म कहा जाता है। यह सत्य का जीवन में मूर्त्त रूप है और हमारी प्रकृति को नये रूप में ढालने की शक्ति है।" धर्मशास्त्री पी.पी. काणे ने लिखा है, "धर्मशास्त्रों के लेखकों ने धर्म का अर्थ एक मत या विश्वास नहीं माना है अपितु उसे जीवन के एक ऐसे तरीके या आचरण की एक ऐसी संहिता माना है, जो व्यक्ति के समाज के रूप में और व्यक्ति के रूप में कार्य एवं क्रियाओं को नियमित करता है और जो व्यक्ति के क्रमिक विकास की दृष्टि से किया गया है और जो उसे मानव अस्तित्व के उद्देश्य तक पहुँचाने में सहायता करता है।"

स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है कि "धर्म वह है जो मानव को इस संसार और परलोक में आनन्द की खोज के लिए प्रेरित करे। धर्म कार्य पर प्रस्थापित है। धर्म मानव को रात–दिन इस आनन्द को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न कराता है।"

उपर्युक्त अनेक विद्वानों की परिभाषाओं के आधार पर संक्षेप में कहा जा सकता है कि धर्म एक सामाजिक संस्था है जिसका आधार अलौकिक तथा दैवीय शक्तियों और मानव के साथ उसके सम्बन्धों से है। धर्म किसी न किसी प्रकार की अतिमानवीय या अलौकिक शक्ति पर विश्वास है जिसका आधार भय, श्रद्धा, भक्ति और पवित्रता की धारणा है और

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

जिसकी अभिव्यक्ति प्रार्थना, पूजा, आराधना व कर्मकाण्डों आदि के रूप में की जाती है।

धर्म के मौलिक लक्षण (विशेषताएँ)

1. अलौकिक सत्ता, वस्तु, व्यक्ति एवं शक्ति में विश्वास– धर्म में ऐसी शक्ति में विश्वास किया जाता है जो अलौकिक और दिव्य चरित्र की है, जो मानव से श्रेष्ठ है, यही शक्ति प्रकृति तथा मानव जीवन को निर्देशित, नियंत्रित एवं संचालित करती है। अलग–अलग धर्मों में अलौकिक शक्ति की अलग–अलग कल्पनाएँ है। महत्वपूर्ण तथ्य यह नहीं है कि अलौकिक शक्ति का वास्तविक अस्तित्व है या नहीं है, महत्वपूर्ण यह है कि सभी समाजों में बड़ी संख्या में लोग ऐसा विश्वास करते हैं।

2. धार्मिक व्यवहार के स्वरूप– वे कार्य जो मुख्य रूप से अलौकिक सत्ता में विश्वास को बनाये रखने के लिए किये जाते हैं इन्हें कर्मकाण्ड कहा जाता है। कर्मकाण्डों के अंशो को अनुष्ठान कहते हैं। धार्मिक व्यवहार का यह पक्ष सामाजिक होता है। धर्म की व्यवस्था व्यवहार के इन पक्षों को धार्मिक ही कहता है। उदाहरण के लिये गरीबों को दान देना, कमजोर की मदद करना आदि। इससे भिन्न पूजा–पाठ, नमाज, चर्च में प्रार्थना है जो कर्मकाण्ड (Rituals) के उदाहरण हैं।

3. पवित्रता की धारणा– दुर्खीम ने धर्म में पवित्रता पर बल देते हुए लिखा है कि धर्म पवित्र वस्तुओं से सम्बन्धित विश्वासों और आचरणों की समग्र व्यवस्था है जो इस पर विश्वास करने वालों को एक नैतिक समुदाय में संयुक्त करती है। धर्म से सम्बन्धित सभी वस्तुओं को पवित्र माना जाता है।

4. संवेगात्मक भावनाओं से सम्बंध– धर्म में संवेगात्मक भावना प्रधान होती है, तर्क प्रधान नहीं। धर्म में तर्क के लिये कोई स्थान नहीं होता है। अपना हित कराने के लिये व्यक्ति अलौकिक शक्ति के प्रति श्रद्धा, भक्ति, भय, प्रेम आदि के रूप में अभिव्यक्ति करता है।

5. अनुज्ञा और निषेध– प्रत्येक धर्म में कुछ कर्मों को करने के लिये कहा जाता है जिन्हें अनुज्ञा कहते हैं। जैसे दान देना। निषेधों द्वारा कुछ कार्यों को करने से मना किया जाता है जैसे– झूठ नहीं बोलना चाहिए, दुराचार, व्यभिचार, बेईमानी आदि नहीं करनी चाहिए। ये निषेध और अनुज्ञा धार्मिक विश्वास से सीधे जुड़े नहीं होते हैं।

6. शुद्ध रूप से सामाजिक एवं सांस्कृतिक होना– प्रत्येक धर्म में सामान्यतया आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन के सम्बन्ध में नियम और मान्यताएँ तय किये जाते हैं। ये नियम और मान्यताएँ धर्म में ईश्वरीय आदेश एवं अनुज्ञाओं के रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं। मैलिनोवस्की ने जनजातीय समाजों का उदाहरण देते हुए कहा है कि मछली पकड़ने वाले समुदाय नावों, मछलियों, समुद्र आदि की पूजा करते हैं। इसी प्रकार से हिन्दू धर्म, ईसाई धर्म व इस्लाम धर्म आदि में उत्तराधिकार, परिवार, विवाह आदि के नियमों को ईश्वरीय नियमों की तरह ही माना जाता था और उनका पालन किया जाता था। औद्योगिक युग से पहले धर्म ही समाज एवं संस्कृति के नियामक पक्षों का सबसे बड़ा आधार था।

7. विशेष धार्मिक सामग्री और प्रतीक–धार्मिक क्रियाओं में अलग–अलग धर्म में अलग–अलग धार्मिक सामग्रियों, धार्मिक प्रतीकों और जादू–टोनों, पौराणिक कथाओं आदि का समावेश होता है। जैसे– हिन्दू धर्म में हवन पूजा–आरती, केले, पीपल आदि की पूजा व गंगा जल और तीर्थ–स्थानों का विशेष महत्व है तो ईसाई धर्म में बाइबिल, क्रास, मोमबत्ती आदि का।

8. धार्मिक संस्तरण–सामान्यतः प्रत्येक धर्म से सम्बंधित संस्तरण की एक व्यवस्था पायी जाती है। जिन लोगों को धार्मिक क्रियाएँ अथवा कर्मकाण्ड कराने का समाज द्वारा विशेष अधिकार प्राप्त होता है, उन्हें अन्य लोगों की तुलना में संस्कारात्मक दृष्टि से उच्च समझा जाता है। ऐसे लोगों में पण्डे, पुजारी, महन्त, सन्त, पादरी, मौलवी आदि आते हैं।

9. दार्शनिक पक्ष– प्रत्येक धर्म अपने ढंग से विश्व, समाज एवं समय की व्याख्या करता है। वह मानवीय जीवन के अर्थ एवं परिणाम की व्याख्या करता है। इसी सन्दर्भ में नरक और स्वर्ग अथवा मुक्त आत्मा एवं सुप्त आत्मा की कल्पना करता है। इस दार्शनिक पक्ष के कारण ही एक धर्म के मानने वाले का एक विश्व दृष्टिकोण विकसित होता है। प्रत्येक धर्म एक काल्पनिक व वास्तविक विश्व दृष्टिकोण को जन्म देता है। धर्म अपने सैद्धान्तिक स्वरूप में अपरिवर्तनशील होता है परन्तु व्यावहारिक रूप में प्रत्येक धर्म समय के साथ परिवर्तित होते जाते हैं।

धर्म की उत्पत्ति–

सर्वप्रथम मानवशास्त्री टायलर ने जनजातीय समाज में धर्म को सिद्ध करने के प्रयास में धर्म की उत्पत्ति का सिद्धान्त दिया जिसे आत्मावाद या जीववाद कहा जाता है। टायलर ने कहा कि सभी धर्म एक ही विचार पर आधारित हैं और वह है आत्मा या जीव में विश्वास। आत्मा को आदिम मनुष्यों से लेकर सभ्य मनुष्यों तक के धर्म का आधार माना। टायलर के अनुसार आदि मानव कुछ ऐसे रहस्यों से घिर गया था जिसकी गुत्थी को वह बार–बार सुलझाना चाहता था। इन रहस्यों में सर्वप्रथम थे मृत्यु और निद्रा। इन गुत्थियों को सुलझाने के प्रयास में मानव ने आत्मा की कल्पना की, यह आत्मा अमर है। जब मानव निद्रा अवस्था में होता है, तो उसकी आत्मा निकलकर स्वप्न के माध्यम से पूर्वजों से भेंट करती है और उनके आशीर्वाद प्राप्त करने की चेष्टा करती है। जब आदमी मर जाता है तब यह आत्मा उसके शरीर से स्थायी रूप से निकल जाती है। परन्तु यह समाप्त नहीं होती। ये आत्माएँ विचरती रहती है और इन्हीं के अभिशाप और वरदान से मनुष्य को समाज में दुःख या सुख की प्राप्ति होती है। अनेक आत्माओं

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

में विश्वास ने बहुदेववाद को जन्म दिया और धीरे–धीरे वह एकदेववाद में विकसित हुआ। यह धारणा बनी कि सारी दुनिया एक ही महान आत्मा या विश्वात्मा द्वारा संचालित होती है। इस आत्मा पर आधारित धर्म आदि मानव की बौद्धिक प्रवृति की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पैदा हुआ जिससे वह मृत्यु, स्वप्न और अन्य प्रति छवियों की व्याख्या कर सके।

डी.एन. मजूमदार समेत अनेक विद्वानों ने इस सिद्धांत की यह कहकर आलोचना की है कि टायलर ने आदि मानव को अत्यधिक बुद्धिमान बना दिया है। टायलर ने धर्म के प्रारम्भिक स्वरूप को बहु अलौकिक सत्तावादी कहा जबकि एन्ड्रयू लैंग ने आदिम समाजों में एक ईश्वरवादी धारणा की पुष्टि की है।

जर्मन विद्वान एफ. मैक्समूलर ने प्रकृति की शक्तियों के आधार पर धर्म की उत्पत्ति की व्याख्या की है जिसे प्रकृतिवाद कहा जाता है। उसके अनुसार आदि मानव का प्रकृति सम्बन्धी अनुभव भय, आश्चर्य, चमत्कार एवं नवीनताओं से प्रभावित था। उसने कहा कि ज्वालामुखी, बिजली, जंगल की आग, समुद्र की गर्जन से मानव इतना डर गया कि उसने प्रकृति को ही सर्व शक्तिशाली समझा। प्रकृति की शक्ति और विचित्रता से प्रभावित होकर आदि मानव ने मूर्त्त प्रकृति की पूजा, आराधना प्रारम्भ की। आदि–मानव ने प्रकृति का मानवीकरण कर दिया। हवा की शक्ति हवा के दैवत्व में बदल गयी और सूर्य की शक्ति सूर्य के देवत्व में बदल गयी।

मैक्समूलर ने धर्म की उत्पत्ति को मानव की भावनात्मक आवश्यकताओं में तलाशा। उसके अनुसार धर्म का उदय, मानव की भावनाओं पर प्रकृति के प्रभावों के कारण ही हुआ। मार्क्स के विचार में भी धर्म की उत्पत्ति डर और चिन्ता से हुई जो मूलतः प्रकृति के भयंकर स्वरूपों से पैदा हुए थे। मार्क्स ने धर्मों को भिन्न–भिन्न समाज के सिद्धान्त अथवा विचारधाराएँ कहा है। जैम्स फ्रेजर ने धर्म की उत्पत्ति को मानव के वैचारिक प्रयासो में खोजा। उसने अपने उद्विकास वाले परिप्रेक्ष्य में सबसे पहले जादू की कल्पना तथा धर्म की कल्पना की और अन्ततः विज्ञान की व्यवस्था को आधुनिक समाजों का लक्षण कहा। मैक्समूलर ने आत्मावाद से पूर्व जीवित– सत्तावाद का अस्तित्व स्वीकार किया, जिसके अनुसार प्रत्येक वस्तु में चाहे जड़ हो या चेतन, जीवित सत्ता होती है जो कि अलौकिक है, जिसमें विश्वास, आराधना एवं पूजा से धर्म की उत्पत्ति हुई। काउरिंगटन एवं मैरेट ने उसे मानावाद कहा क्योंकि मलेनेशिया के लोग अलौकिक शक्ति को 'माना' के नाम से पुकारते हैं। मलेनेशिया की जनजातियों में यह विश्वास है कि किसी भी कार्य की सफलता या असफलता माना की शक्ति पर निर्भर है। युद्ध में विजय, शिकार में सफलता और मछलियों का अधिक पकड़ा जाना माना की शक्ति के कारण है। भारतीय जनजातियों में भी मजूमदार ने माना जैसी शक्तियों का उल्लेख किया है। हो जनजाति में 'बोगा' की अवधारणा मैरेट के सिद्धान्त के अन्तर्गत आती है।

समाजशास्त्री इमाइल दुर्खीम ने धर्म की उत्पत्ति से सम्बन्धित विभिन्न सिद्धान्तों की आलोचना इस आधार पर की है कि धर्म एक सामाजिक तथ्य है और उसकी उत्पत्ति में सामाजिक कारकों का हाथ रहा है। दुर्खीम के अनुसार धर्म पवित्र वस्तुओं अथवा पक्षों से सम्बन्धित विश्वास की एकताबद्ध व्यवस्था है जिसका आधार सामूहिक चेतना का प्रतीक है। आस्ट्रेलिया की जनजाति अरूण्टा के अध्ययन में उसने कुल चिन्ह या टोटम की पवित्रता को अपवित्रा से दूर रखने के लिए विभिन्न संस्कारों, उत्सवों एवं आचरणों को जन्म दिया गया जिनके पीछे सम्पूर्ण समूह या समाज की स्वीकृति एवं शक्ति है। धार्मिक प्रतिनिधित्व सामूहिक प्रतिनिधित्व की ही अभिव्यक्ति है। समाज का विचार ही धर्म की आत्मा है। धार्मिक शक्तियाँ मानवीय और नैतिक शक्तियाँ ही है।

भारतीय समाज के विभिन्न धर्मो के विश्वास, व्यवहार और प्रभाव

भारत का कोई राज्य धर्म नहीं है। भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है। यहाँ सब प्रकार के धर्मों के पालन और विश्वास की स्वतंत्रता है। सन् 2001 की जनगणना के अनुसार भारत के इतिहास में अंतः स्थापित प्रमुख धर्मों में हिन्दू धर्म (81.69 प्रतिशत अर्थात् 79.97 करोड़), इस्लाम धर्म (12.69 प्रतिशत अर्थात् 16.85 करोड़), ईसाई धर्म (2.43 प्रतिशत अर्थात् 2.05 करोड़), सिक्ख धर्म (1.96 प्रतिशत अर्थात् 1 करोड़), बौद्ध धर्म (71प्रतिशत अर्थात् 0.59 करोड़), जैन धर्म (0.48 प्रतिशत अर्थात् 0.45 करोड़), पारसी धर्म एवं अन्य (0.43 प्रतिशत अर्थात् 0.38 करोड़) महत्वपूर्ण है।

हिन्दू धर्म :

हिन्दू धर्म प्राचीनतम धर्म है। यह सामाजिक–सांस्कृतिक एवं व्यवहारों में पवित्रता एवं आध्यात्मिक विश्वासों की एक लम्बी विकास प्रक्रिया का परिणाम है। लोकमान्य तिलक के अनुसार सिन्धु नदी के उद्‌गम स्थान से लेकर हिन्द महासागर तक सम्पूर्ण भारतभूमि जिसकी मातृभूमि तथा पवित्र भूमि है, वह हिन्दू कहलाता है और उसका धर्म हिन्दू धर्म अथवा हिन्दुत्व है।

सनातनता–यद्यपि हिन्दू धर्म का कोई प्रवर्तक नहीं हुआ किन्तु अनादिकाल से इसका विकास अक्षुण्ण रूप से होता आ रहा है इस कारण इसे सनातन धर्म कहा जाता है। अपनी प्राचीनता के कारण ही अनेकानेक बाह्य तत्वों, युग परिवर्तन, बाह्य आक्रमण और आन्दोलनों के बावजूद अपने मूलरूप से विचलित नहीं हुआ क्योंकि यह सनातन सत्य पर आधारित है।

ईश्वर में विश्वास–सम्पूर्ण दृश्यमान जगत एक अलौकिक शक्ति या एक ईश्वर द्वारा संचालित है जिसका स्वरूप अलग–अलग या बहुईश्वरवादी हो सकता है। ये शक्तियाँ दो प्रकार की होती हैं, एक अच्छे काम करने वाली और दूसरी, बुरे काम करने वाली। जैसे देव एवं दानव जिसे

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

द्वैत सिद्धान्त कहा जाता है।

आध्यात्मिकता– हिन्दू धर्म ईश्वर के आध्यात्मिक स्वरूप अर्थात् परम सत्ता की सम्पूर्णता पर विश्वास करता है। जो समस्त वस्तुओं की अभिव्यक्ति है। आध्यात्मिक सत्ता के पक्ष–सत् चित् और आनन्द प्राप्ति के लिए व्यक्ति सदैव तत्पर रहते हैं। हिन्दुओं का जीवन–दर्शन आध्यात्मिकता से परिपूर्ण है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति की आत्मा, परमात्मा से एकाकार के लिये सतत् प्रयत्नशील होती है।

कर्म का सिद्धान्त–हिन्दू धर्म शुभाशुभ कर्मों के अनिवार्यतः फल भोगने पर विश्वास करता है जो प्रत्येक जन्म में सद्कर्मों को करने की प्रेरणा देता है और बुरे कर्म करने से रोकता है। कर्मो के फल संस्कार रूप में सुरक्षित रहते हैं जो भावी जीवन को संचालित करते हैं।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त–अच्छे और बुरे कर्मों के फल भोगने के लिए दूसरा जन्म धारण करना आवश्यक होता है। पुनर्जन्म सिद्धान्त के अनुसार वर्तमान योनि में प्राप्त जन्म पूर्व जन्म के कर्मों के फल है। यह धारणा है कि सत्कर्म करने से इहलोक और परलोक दोनों सुधरते हैं।

मोक्ष का सिद्धान्त–हिन्दू धर्म में ऐसा विश्वास है कि सुख–दुख, जन्म–मृत्यु व भौतिक जगत के चक्र से मुक्त होकर ईश्वरीय पूर्णता प्राप्त करना परम मुक्ति या मोक्ष प्राप्त करना है। धर्म, अर्थ, काम तीनों ही पुरुषार्थ मोक्ष प्राप्ति के लिए है।

ऋत–नियम–वैदिक धर्म में ऋत (नैतिक) को सूर्य, चन्द्र आदि प्राकृतिक शक्तियों का नियन्ता कहा गया है जो ऋत–नियम के आधार पर संचाालित होते हैं उसी प्रकार यह जगत एक नैतिक व्यवस्था में आबद्ध है। नैतिक नियम ही धर्म है जो मानव जीवन के लिये सर्वोपरि है।

आश्रम–व्यवस्था–हिन्दू धर्म में व्यक्ति के जीवन को क्रमशः चार आश्रमों– ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास में विभाजित किया गया है। प्रथम दो आश्रम मनुष्य के शारीरिक एवं सामाजिक दायित्वों को और बाद के दोनों आश्रम ईश्वर और मानवता के प्रति उच्चतर दायित्वों को निभाने के लिए है। व्यावहारिक रूप में आश्रम व्यवस्था नैतिक मूल्यों की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करती है।

विविधता में एकता–हिन्दू धर्म के अन्तर्गत अनेक सम्प्रदाय, विचारधाराएँ एवं रीतिरिवाज पाये जाते हैं जैसे–वेदान्ती, अद्वैतवादी, सांख्य, न्याय, वैशेषिक जो स्वतंत्र रूप से अनुकरणीय है। हिन्दू धर्म की यह विशेषता जनतंत्र और धर्मनिरपेक्ष राज्य का मूल सिद्धान्त है।

मूर्तिपूजा–हिन्दू धर्म की सबसे विचारणीय सामान्य विशेषता है मूर्तिपूजा में विश्वास। मूर्तियों में समरूपता नहीं है बल्कि सम्प्रदाय के अनुसार भिन्न है। प्रत्येक सम्प्रदाय का अपना इष्ट देव होता है (कृष्ण, राम, शिव, गणेश, हनुमान) जो अलग मन्दिर में रखे जाते हैं जिनकी पूजा की जाती है।

अहिंसा– भारतीय दर्शन में अहिंसा को परम धर्म माना है एवं भारत उदबोध सभी मत पंथों, सम्प्रदायों ने इसे एक नीति के तहत स्वीकार किया है।

ऋण तथा यज्ञ–हिन्दू जीवन व्यवस्था में व्यक्ति पर पाँच प्रकार के ऋण माने जाते हैं– देव–ऋण, ऋषि–ऋण, पितृ–ऋण, अतिथि–ऋण तथा भूमि–ऋण। उसी प्रकार व्यक्तिवाद पर अंकुश रखने और जीवन को त्याग के आदर्श में ढालने के लिये पंच महायज्ञों का विधान है।

संस्कार–हिन्दू धर्म में व्यक्ति को संस्कारित करने तथा शारीरिक, मानसिक और नैतिक परिष्कार के लिए सोलह संस्कारों की व्यवस्था की गयी है जिसका उद्देश्य एक विशेष स्थिति और आयु में व्यक्ति को उसके सामाजिक कर्तव्यों का ज्ञान कराना है।

उदारता–उदारता हिन्दू धर्म का सबसे बड़ा विश्वास है। परिस्थितियों से अनुकूलन करने में समर्थ, सहिष्णुता और लचीलेपन की विशेषता के कारण ही यह धर्म प्राचीनतम है। इस धर्म को सहिष्णुता व उदारता का अक्षय कोष कहा जाता है।

कर्मकाण्ड विधि और अनुष्ठान–हिन्दू धार्मिक व्यवहार का सबसे महत्वपूर्ण स्वरूप कर्मकाण्डों का है जो दैवीय सत्ता में विश्वास को बनाये रखने के लिये किये जाते हैं। दैवीय सत्ता के प्रति श्रद्धा के भाव प्रदर्शित करना जिसका तात्कालिक उद्देश्य पवित्र जीवन जीना है परन्तु व्यापक उद्देश्य अपने परलोक को सुधारना है। कुछ पाने की इच्छा विशेष कर्मकाण्ड के मूल अंश अर्थात छोटी–छोटी धार्मिक क्रियाओं को कर्म या विधि कहते हैं जैसे मन्त्र–जाप करना, बेलपत्र चढ़ाना, गंगा में स्नान करना आदि। महत्वपूर्ण धार्मिक कर्मों या सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये किये गये सार्वजनिक पूजा को अनुष्ठान कहते हैं।

सम्प्रदाय, सेक्ट अथवा पंथ–सम्प्रदाय का अर्थ ऐसे समूह अथवा संगठन से है जो धार्मिक विश्वासों, धार्मिक व्यवहारों के आधार पर एक–दूसरे से अलग होते हैं जैसे वैष्णव और शिव सम्प्रदाय। सेक्ट विश्वासों के आधार पर एक–दूसरे से अलग तो होते ही हैं परन्तु अलगाव का महत्वपूर्ण पक्ष विश्वास न होकर कर्मकाण्ड अथवा अनुष्ठान होते हैं जो पूर्णतया एक दूसरे से भिन्न होते हैं। वर्तमान हिन्दू धर्म में अनेक ऐसे सेक्ट प्रचलित है। पंथ ऐसे धार्मिक समूह को कहते हैं जो अपना ज्यादा ध्यान विशेष धार्मिक गतिविधियों पर लगाता है।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

एक पंथ के सदस्य अपने विशिष्ट विश्वासों, मान्यताओं, रीति–रिवाजों, परम्पराओं तथा धार्मिक पुरुषों के साथ अपने सम्बन्धों के आधार पर अपनी अलग एवं विशिष्ट पहचान बना लेते हैं।

संक्षेप में हिन्दू धर्म के व्यक्ति पर प्रभावों को थॉमस ऑडिया के शब्दों में समझा जा सकता है। ऑडिया ने अपनी पुस्तक Sociology of Religion में कहा है कि धर्म व्यक्ति का समूह में एकीकरण करता है, अनिश्चितता की स्थिति में दिशा प्रदान करता है, पवित्रता और आत्मबल में वृद्धि करता है और एक–दूसरे के समीप आने की भावना को प्रोत्साहन देता है। हिन्दू धर्म के व्यक्ति पर प्रभाव के अतिरिक्त समाज और संस्कृति के प्रति योगदानों का भी विश्लेषण किया जा सकता है। हिन्दू धर्म भारतीय समाज और संस्कृति का पथ–प्रदर्शक है जिसने भारतीय समाज के संगठन, सामाजिक एकता, नियमों एवं नैतिकता, सामाजिक नियन्त्रण, परिवर्तन पवित्रता की भावना, व्यक्तियों के चरित्र निर्माण एवं सद्गुणों का विकास, कर्तव्य का निर्धारण, भावात्मक सुरक्षा, मनोरंजनात्मक कार्य, संस्कृति एवं समाज की रक्षा आदि पर विस्तृत प्रभाव डाले हैं।

इस्लाम धर्म :

622 ई. में इस्लाम धर्म को उसके संस्थापक पैगम्बर मोहम्मद साहब ने एक व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया जिसके दो प्रमुख ग्रन्थ हैं– कुरान तथा हदीस। कुरान शब्द की व्युत्पत्ति करयान से हुई जिसका अर्थ पाठ करना है जिसमें मोहम्मद साहब को अल्लाह द्वारा दिये गये ज्ञान संग्रहित हैं जिसे जिब्रील नामक देवदूत ने सुनाया था। कुरान में कुल 144 अध्याय हैं जो अल्लाह द्वारा उच्चारित, सार्वभौमिक और शाश्वत सत्य हैं। कुरान में अल्लाह और उसके द्वारा पृथ्वी तथा मानव की रचना, कयामत का दिन, नजात (मुक्ति) सामाजिक कर्तव्य, मानव–कर्तव्य, अच्छे–बुरे आचरण एवं दंड आदि पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है जो सभी सत्य सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण के लिये है। हदीस में स्वयं मो. साहब द्वारा दिए गये उपदेशों का संग्रह है।

इस्लाम धर्म एक ही ईश्वर अर्थात् अल्लाह में विश्वास करता है, जो अच्छे अथवा बुरे कार्य, स्वर्ग और नरक का निर्धारण करता है। अल्लाह अपना संदेश पैगम्बर अथवा दूत द्वारा भेजता है। मो. साहब अन्तिम पैगम्बर थे। मो. साहब ने परमात्मा और मनुष्यों के बीच धर्मदूत (रसूल) का कार्य किया था, इसलिये वे रसूल के नाम से भी जाने जाते हैं। इस्लाम धर्म अपने अनुयायियों को पवित्र ग्रन्थ कुरान की आयतों (आदर्शों) में विश्वास करने का आदेश देता है, अवज्ञा करने वालों को काफिर कहा जाता है। कुरान में लिखे आदेशों व निर्देशों को स्वीकार करना, नमाज पढ़ना, जकात देना एवं हज करना प्रत्येक मुसलमान का परम कर्त्तव्य है। इस्लाम धर्म पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करता है। इस धर्म की मान्यता है कि कयामत के बाद रोजेशुमार के दिन, खुदा मृत प्रणियों के अच्छे–बुरे कर्मों का हिसाब करेगा तथा स्वर्ग अथवा नर्क देगा। 1206 ई. से 1818 ई. की अवधि में सूफी परम्परा की भारत में इस्लाम धर्म को फैलाने में महत्वपूर्ण भूमिका थी। भारत में मूर्ति पूजा का विरोध, एकेश्वरवाद, अद्वैतवाद, छुआछूत, जाति प्रथा की समाप्ति, समानतावादी आदर्श व सुधारवादी आन्दोलनों का जन्म आदि इस्लाम के ही परिणाम है। हिन्दू और मुस्लिम धर्म विश्वास और व्यवहार में दोनों परस्पर प्रभावित हुए है।

ईसाई धर्म :

ईस्वी के प्रारम्भ में फिलिस्तीन (बेथलेहम) में एक यहूदी स्त्री मरियम ने ईसाई धर्म के संस्थापक ईसामसीह को जन्म दिया जिन्हे देवीय पुत्र माना जाता है। सम्पूर्ण विश्व में अनुमानतः आठ अरब लोग ईसाई धर्म को मानने वाले है। जो यूरोप, अमेरिका और आस्ट्रेलिया में सर्वाधिक है। ईसाई धर्म का पवित्र ग्रन्थ बाइबिल है जिसके दो भाग है– पुरानी बाइबिल और नवीन बाइबिल। पुरानी बाइबिल यहूदी हजरत दाऊद तथा हजरत मूसा द्वारा लिखी गई है। नयी बाइबिल में ईसा के उपदेश है। यहूदी पुरानी बाइबिल को मानते हैं और ईसाई नयी बाइबिल में विश्वास करते हैं। ईसाई धर्म यहूदी धर्म का परिष्कृत व परिमार्जित स्वरूप है। ईसाई धर्म पर प्राचीन यूनानी दर्शन एवं विचारधारा, बुद्धवाद और इस्लाम का प्रभाव है। ईसा ने ईश्वर की दिव्य भक्ति में विश्वास करने, सबके प्रति दया रखने, एकनिष्ठ बने रहने का उपदेश दिया जिन्हे क्रॉस पर लटका कर कीलें ठोक दी गई इसलिए क्रॉस (X) को विशेष पवित्र चिह्न या बलिदान के प्रतीक के रूप में स्वीकार किया गया है। ईसा ने बाइबिल में ईश्वर के आदेशों को बताया जिन्हें पवित्र कानून माना गया है– मैं ही ईश्वर हूँ, ईश्वर की कोई भौतिक छवि नहीं है, ईश्वर अनन्त तथा सम्पूर्ण विश्व का सम्प्रभु शासक है, सम्बन्ध को याद करना, माता–पिता का आदर करना, मनुष्य को ईश्वर और उसके कानून की रक्षा करनी चाहिये, तुम चोरी नहीं करोगे, तुम अपने पड़ौसी के विरोध में झूठी गवाहीं नहीं दोगे, तुम लालच नहीं करोगे। ईसाई धर्म एकेश्वरवाद में विश्वास करता है और मूर्तिपूजा का विरोधी है।

अलौकिक व निराकार एक ईश्वर सम्पूर्ण मानव का पालन–पोषण करता है उन पर दया रखता है, उनके हृदयों को शुद्ध करता है। ईश्वर का रूप एवं शक्ति आत्मा है। वपतिस्मा संस्कार द्वारा व्यक्ति को शुद्ध कर पवित्र आत्मा के निकट

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

लाया जाता है जो त्रियकवाद (ईश्वर, ईसा एवं पवित्र आत्मा का रूप एक है) में विश्वास करता है। ईसा को ईश्वर तक पहुंचने का माध्यम है। चर्च को ईसा का शरीर कहा जाता है जिसमें पवित्रात्मा निवास करती है। चर्च में विवाह और सदस्यता प्रत्येक ईसाई के लिये अनिवार्य है। ईसाई धर्म में पांच अनुष्ठान माने गये है–बपतिस्मा (ईसाई धर्म स्वीकार कर पवित्र आत्मा के पास लाना) पुटिकरण, आत्मनिवेदन (ईश्वर की शरण में आत्मसमर्पण कर क्षमा–याचना करना) पवित्र संचार (सामूहिक पूजा एवं भोज) विवाह (पवित्र और पारिवारिक जीवन) ईसाई धर्म समानता तथा भाईचारे के सिद्धान्त को स्वीकारता है। सभी मनुष्य परमेश्वर की सन्तान है, मानव कल्याण की भावना, दीन–दुखियों की सेवा ही सच्ची ईश्वर सेवा है। ईसाई धर्म ने भारतीय समाज को अनेक रूपों में प्रभावित किया है। ईसाई मिशनरियों ने अनेक ऐसे कार्य किये है जिससे समाज में समानता की भावना विकसित हुई। भारतीय समाज को ईसाई धर्म ने निम्न जातियों की सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाने, जाति–व्यवस्था को कमजोर करने, छुआछूत की भावना को समाप्त करने, स्त्रियों की स्थिति में सुधार करने, भाग्यवादिता समाप्त करने, आध्यात्मिक से भौतिक जीवन अर्थात् भौतिकता को महत्व देने तथा जीवन के प्रति आशावादी दृष्टिकोण प्रदान करने में सहयोग दिया है।

सिक्ख धर्म :

हिन्दू धर्म की अनेक सामाजिक कुप्रथाओं और बाह्य आडम्बरों के विरोध में सिक्ख खालसा आन्दोलन के तहत गुरुनानक ने सिक्ख मत की स्थापना की जिसका बुनियादी धर्म ग्रन्थ गुरुनानक साहिब है। गुरुनानक (1469–1538) के मत में धार्मिक संन्यासी भक्त व सदस्य सभी समान थे। गुरुनानक ने अपने उपदेशों में हिन्दू–मुस्लिम एकता पर बल, बाह्य आडम्बरों का विरोध, जाति–प्रथा का विरोध, एक सर्वोच्च सत्ता, चरित्र की पवित्रता पर बल, गुरु के महत्व पर विशेष जोर दिया तथा सदैव मानवता का समर्थन किया। सिक्ख शब्द संस्कृत के शिष्य शब्द का पंजाबी भाषा में रूपान्तर है। गुरुनानक के अनुयायियों व शिष्यों को सिक्ख कहा जाता था।

सिक्ख धर्म का भारतीय समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा है। गुरुनानक की वाणी ने जनता को उसकी गुलामी, अत्याचार और शोषण के विरूद्ध लोकचेतना पैदा करने का प्रयास किया। सिक्खों के दसवें गुरु–गोविन्द सिंह विलक्षण विद्वान, गम्भीर दार्शनिक, महान साहित्यकार व उच्चकोटि के कवि थे। ब्रजभाषा में लिखी गयी उनकी कृतियाँ हिन्दी साहित्य की महत्वपूर्ण निधि हैं। अत्याचारियों का सफाया करने के उद्देश्य से गुरु ने केश, कंघा, कड़ा, कच्छा तथा कृपाण रखने का आदेश दिया। खालसा दल को नवीन स्वरूप प्रदान किया। उनकी समूची सांस्कृतिक पृष्ठभूमि–विशुद्ध भारतीय है जिसमें शैव, वैष्णव व शाक्य तत्वों का एकीकरण है। सिक्खों के चौथे गुरु रामदास ने अमृतसर की स्थापना की। छठे गुरु हरगोविन्द ने लोहगढ़ का किला बनवाया और अकाल तख्त की स्थापना की। सिक्ख धर्म एक व्यवहारवादी धर्म है जिसने बाह्य आडम्बर, रूढ़ियों, अन्धविश्वासों, कर्मकाण्डों को कम करने, जाति प्रथा की निन्दा और मानवीय एकता पर बल दिया। गुरु गोविन्द सिंह ने सिक्ख धर्म को नया रूप दिया तथा उसे अत्याचार दूर करने का सशक्त माध्यम बनाया।

जैन धर्म :

जैन धर्म की स्थापना और विकास में योग देने वाले विद्वान महात्माओं को तीर्थंकर कहा गया है। छठी शताब्दी ई. पू. महावीर स्वामी के पहले तेईस तीर्थंकर हुए थे। प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव थे और तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ थे। महावीर स्वामी के उपदेशों में विश्वास से जिनका व्यावहारिक प्रयोग मनुष्य को कर्म बन्धनों से मुक्ति दिला सकता है। निवृति मार्ग (सांसारिक सुखों को भोगने की अभिलाषा, तृष्णा और सम्पति संचय की जगह संसार को ही त्यागना चाहिए।) कर्म की प्रधानता (पूर्वजन्मों के कर्मों का फल, वासनाओं पर विजय प्राप्त करना ही कर्म–बन्धनों से मुक्ति है।) जीव और अजीव (जीव चैतन्य द्रव्य और अजीव चैतन्य रहित है), पुद्गल से अलग होना ही कर्म बन्धन को तोड़ना है जिसका अर्थ है जन्म–मरण और पुनर्जन्म के चक्र से मुक्त होना अर्थात् निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त करना। बन्धन और मुक्ति (जीव और शरीर का संयोग ही बन्धन है) जिन्हें काशाय कहा जाता है। बन्धनों से मुक्ति ही मोक्ष (निर्वाण), जिसका अर्थ जीव के भौतिक अंश का विनाश है, निर्वाण जैन धर्म का परम लक्ष्य है। त्रिरत्न–सम्यक दर्शन–यथार्थ ज्ञान के प्रति सच्ची श्रद्धा रखना, सम्यक ज्ञान–जीव अजीव के मूल तत्वों का विशेष ज्ञान प्राप्त करना, सम्यक दृष्टि– सही काम या आचरण, त्रिरत्नों के माध्यम से आचरण पर विशेष बल दिया गया है। यह सप्तयंगी सिद्धान्त अनेकान्तवाद या स्याद्वाद है। पांच अणुव्रत–(अहिंसा, सत्य,अस्तेय (चोरी न करना), अपरिग्रह (संग्रह करना), ब्रह्मचर्य तथा सात शीलव्रत–दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थ दडव्रत, सामरिक, प्रोशवोपवास, उपभोग–प्रतिभोग परिमाण और अतिथि संविभाग आदि मुख्य हैं। जैन धर्म में जाति भेद तथा लिंग भेद आदि का विरोध किया एवं सामाजिक समानता को स्थापित किया।

स्यादवाद अथवा अनेकांतवादः किसी वस्तु का ज्ञान सात प्रकार से किया जा सकता है– है, नहीं है, है और नहीं

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

है, कहा नहीं जा सकता है, है किन्तु कहा नहीं जा सकता, नहीं है और कहा नहीं जा सकता, है और नहीं है किन्तु कहा नहीं जा सकता है।

बौद्धधर्म :

छठी शताब्दी ई. पू. भारतीय इतिहास में बौद्ध धर्म के प्रवर्तक महात्मा बुद्ध थे। जिन्होंने सुधारवाद, अनीश्वरवाद, त्याग, वैराग्य व संन्यास आदि पर जोर दिया जिसका प्रभाव चीन, तिब्बत, मंगोलिया, कोरिया, जापान, श्रीलंका, नेपाल में व्यापक है। महात्मा बुद्ध के व्याख्यान धम्मचक्क, पवतनसुत (धर्मचक्र प्रवर्तन) में निहित है। बौद्धधर्म के सिद्धान्त प्रसिद्ध धर्म ग्रन्थ तिपिटक में लिखित है। विनयपिटक में बौद्ध भिक्षुओं के आचार के नियम, सुतपिटक, विनयपिटक, सुपिटक और अविधम्मपिटक में बुद्ध की नैतिक, धार्मिक शिक्षाएँ और अभिधम्मपिटक में उन शिक्षाओं में निहित दार्शनिक सिद्धान्तों का विश्लेषण है। बुद्ध ने चार आर्य सत्यों–दुख, दुख का कारण, दुख निरोध और दुख निरोधमार्ग को बताया जो बौद्ध धर्म की आधारशिला हैं। अष्टांगिक मार्ग–सम्यक दृष्टि, संकल्प वाणी, कर्मान्त, आजीव, व्यायाम, स्मृति एवं सम्यक समाधि, जीवनयापन के बीच का मार्ग है। बुद्ध ने नैतिकता पर जोर दिया और दसशील आवश्यक बताये हैं। मध्यम मार्ग–अहिंसा, सत्य, अस्तेय अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, नृत्य–गायन, सुंगधित पदार्थों का त्याग, असमायोजन का त्याग, कोमल काया का त्याग और भिक्षुओं के लिये दसों शील का पालन आवश्यक है।

बौद्धधर्म से भारतीय संस्कृति के अनेक क्षेत्र जैसे–धर्म, दर्शन, साहित्य, कला, शासन नीति, आचार–विचार प्रभावित हुए। जनसाधारण की भाषा पाली को अपनाकर संघों और विहारों में प्रवचन देकर, उच्च साहित्य का माध्यम बनाया जिसमें बुद्धचरित्र, सारिपुत प्रकरण, मिलिन्दपन्हो, कथावत्थ, त्रिपिटक प्रसिद्ध हैं। बौद्धधर्म के दार्शनिक सिद्धान्तों में शून्यवाद, प्रतीत्य समुत्पाद, सर्वास्तिवाद व अनित्यवाद आदि प्रमुख दर्शन हैं। बोधिसत्वों की मूर्तियाँ, विहार व चैत्यों का निर्माण, स्तूपों के निर्माण से भारतीय शिल्पकला, मूर्तिकला और चित्रकला पर बौद्ध कला का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। बौद्ध धर्म ने वैदिक कर्मकाण्डों, प्राकृतिक शक्तियों की पूजा व उपासना का खण्डन कर सरल सुबोध और नैतिक आचरण पर बल देने वाले धर्म का विकास किया। बौद्धधर्म ने संघ व्यवस्था का निर्माण कर प्रजातंत्र प्रणाली का विकास किया। विश्वविख्यात नालन्दा और विक्रमशिला शिक्षण संस्था की स्थापना की। बौद्ध भिक्षुओं ने भारतीय संस्कृति का विदेशों में प्रचार–प्रसार किया। भारतीय समाज में सत्य, सेवा, त्याग, अहिंसा, परोपकार, समानता और सहनशीलता की भावना के विकास में बौद्धधर्म का विशेष योगदान है।

धर्म के प्रकार्य या भूमिका– सामान्य रूप से धर्म का प्रकार्य मानसिक तनावों व संघर्षों से मुक्ति दिलाना, सामाजिक मूल्यों व मान्यताओं का संरक्षण करना, नैतिकता को बनाये रखना, सामाजिक एकता में सहायक, विश्वबन्धुत्व की भावना में सहायक, सामाजिक नियंत्रण करना, सुरक्षा की भावना, सद्गुणों के विकास में सहायक और पवित्र–अपवित्र में भेद करना आदि मुख्य है। समाजशास्त्रियों एवं मानवशास्त्रियों ने सामाजिक संरचना के आधार पर धर्म की भूमिका पर विस्तृत प्रकाश डाला है। उद्विकासवादियों के अनुसार धर्म का आरम्भ दैवीय वस्तुओं की पूजा से या प्रकृति की पूजा से हुआ, फिर मानवीय स्वरूपों के दैवी शक्तियों के आधार पर बहुदेववाद का युग आया और अंततः एक सर्वशक्तिमान ईश्वर की कल्पना की गयी। सभी विद्वानों के अनुसार किसान समाज या सामान्ती समाज में धर्म का प्रभाव सबसे अधिक होता है। विश्व के सभी प्रतिष्ठित धर्मों का विकास ऐसे ही समाजों में हुआ। इस काल में धर्म संस्कृति का मुख्य स्त्रोत के साथ सामाजिक सम्बंधों और विश्व दृष्टिकोण, स्त्री–पुरुष का सम्बन्ध, पिता पुत्र का सम्बन्ध, राजा और प्रजा का सम्बन्ध निर्धारण धर्म पर निर्भर करता है। अनेक दैवी शक्तियों में विश्वास के बावजूद एक सर्व शक्तिमान की कल्पना या एकेश्वरवाद का महत्व होता है। धर्म का संगठन होता है और धार्मिक स्थल सुनिश्चित होते हैं। पुजारियों का वर्ग वंशानुक्रम पर आधारित होता है। व्यापक धार्मिक आन्दोलनों के द्वारा समाज व्यवस्था में महत्वपूर्ण और अलौकिक परिवर्तनों की अपेक्षा की जाती है अथवा भविष्यवाणी की जाती है। यह समाज जटिल धार्मिक व्यवहारों अथवा कर्मकाण्डों का समाज होता है। पहले भारतीय समाज में भी इसी प्रकार की विशेषतायें पाई जाती थीं। जी.एन.शास्त्री और भट्टाचार्य ने कहा कि भारतीय समाज मूलतः धर्म और जाति पर संगठित है।

इसके विपरीत औद्योगिक समाज में धर्म की भूमिका के संबंध में गंभीर मतभेद है। मार्क्स ने औद्योगीकरण की चेतना के परिणाम स्वरूप तथा मैक्सवैबर ने तर्कशास्त्र के प्रभाव के कारण धर्म के समाप्त होने या कमजोर पड़ने की बात कही है। दुर्खीम के अनुसार श्रम विभाजन के बढ़ने के साथ धर्म या तो समाप्त होगा या कमजोर हो जायेगा। धार्मिक चिन्तन में सबसे अधिक परिवर्तन हुए हैं, आधुनिक मानव धार्मिक इच्छाओं से कम प्रेरित होता है और वह विश्व को अनुभवजन्य तथा तर्कपूर्ण दृष्टि से देखता है। धर्मनिरपेक्षता की धारणा धर्म की भूमिका को कम करना एवं सार्वजनिक जीवन से इसे हटाने का प्रयास है। इसका मूल उद्देश्य धर्म को राजनीति व सार्वजनिक जीवन

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

से अलग कर देना है इसलिए इसका एक अर्थ धर्म विहीनता है। विकासशील देशों में धर्म निरपेक्षता का अर्थ धार्मिक सहिष्णुता लगाया जाता है। भारत में धर्मनिरपेक्षता का यही अर्थ है। दूसरे अर्थ में धर्म के प्रभाव में कमी नहीं हुई है बल्कि इसका स्वरूप और स्वभाव बदल गया है धर्म अब एक व्यक्तिगत मामला हो गया है और सामूहिक अर्चन का स्वरूप समाप्त होने लगा है अर्थात् धर्म का निजीकरण हो गया है। आर के. मर्टन ने उन समाजों में जहाँ एक से अधिक धर्म हैं, धर्म की विघटनकारी भूमिका की चर्चा की है। मैक्सवेबर के अनुसार प्रोटेस्टेंट धर्म के उदय होने के कारण ही पूँजीवाद का उदय हुआ है।

अनेक विद्वानों ने धर्म की परिवार, नातेदारी और विवाह सम्बन्धी भूमिका की चर्चा की है। धर्म ने सभी समाजों में चारित्रिक दृढ़ता पर बल दिया, विवाह विच्छेद को प्रभावित किया है, पहले समाज में धर्म द्वारा व्यक्ति की शक्ति और अधिकार तथा परिवार के स्वरूप को निर्धारित किया जाता था। सामान्यतया कई बार किसी देश में धर्म विशेष का प्रभाव अधिक होता है जैसे इजराइल में यहूदी धर्म, नेपाल में हिन्दू धर्म, पाकिस्तान में मुस्लिम धर्म इत्यादि। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से धर्म मानव को मानसिक संतोष प्रदान करता है, तनावों को दूर करता है, मानसिक विचलन से दूर रखता है। उपर्युक्त चर्चा के आधार पर हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि औद्योगीकरण और आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं के फलस्वरूप धर्म की मध्ययुगीन शक्ति और भूमिका में बहुत कमी आयी है। आम तौर पर धर्म एक व्यक्ति का निजी मामला हो गया है, धर्म की राजनीति से दूरी हो गयी है और संस्कृति के आधारों से धर्म की दूरी के कारण इसका स्वरूप और चरित्र बदल गये हैं। यह संभव है कि धर्म का बाहरी स्वरूप अभी भी शक्तिशाली है परन्तु धर्म की मूल भावना अर्थात् अलौकिक शक्ति के प्रति भय और विश्वास निश्चित रूप से कमजोर पड़ गये हैं।

महत्वपूर्ण बिंदु

1. विवाह समाज द्वारा मान्यता प्राप्त संस्था है।
2. विवाह परिवार को स्थायित्व प्रदान करता है।
3. विवाह की उत्त्पति और उसका क्रमिक विकास पाँच अवस्थाओं में हुआ है।
4. हिन्दू विवाह के उद्देश्य थे– धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन, एवं संतान प्राप्ति।
5. हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार है जिसके विवाह संबंधी कुछ वरीयतायें और निषेध हैं।
6. मुस्लिम विवाह एक सामाजिक समझौता है जिसका उद्देश्य संतानोत्पत्ति तथा उत्पन्न संतान को वैधता प्रदान करना है।
7. परिवार समाज की प्रथम पाठशाला है।
8. परिवार समाजीकरण के अभिकरण के रूप में देखा जाता है।
9. परिवार सर्वाधिक महत्वपूर्ण और प्रमुख आधारभूत सामाजिक समूह है जिसका समाज की संरचना में केन्द्रीय महत्व है।
10. नातेदारी या स्वजनता में सम्मिलित व्यक्तियों का परस्पर संबंध वंशावली के आधार पर होता है। ये तीन प्रकार की होती है रक्त संबंधी, विवाह संबंधी और काल्पनिक।
11. नातेदारी अथवा स्वजनता की रीतियाँ या व्यवहार व्यक्ति को यह बताती हैं कि उसे किस नातेदार से कैसा व्यवहार करना है।
12. दो महत्वपूर्ण राजनैतिक संगठन या संस्था राज्य तथा सरकार हैं।
13. राज्य के आवश्यक तत्व निश्चित भू–भाग, जनसंख्या, सरकार तथा प्रभुसत्ता हैं।
14. राज्य सामाजिक नियंत्रण के साधन के रूप में भी कार्य करता है।
15. साधारण शब्दों में भौतिक वस्तुओं को संपत्ति कहा जाता है।
16. आर्थिक संस्थाएँ समग्र संस्कृति की एक ईकाई हैं।
17. धर्म का शाब्दिक अर्थ सात्विक गुणों को धारण करना या पालन करना है।
18. धर्म की उत्त्पति आदिमानव द्वारा प्रकृति के भयंकर स्वरूप में विश्वास, डर, अज्ञानता एवं असहायता से हुई है।
19. धर्म के भौतिक लक्षण हैं– अलौकिक सत्ता, वस्तु, व्यक्ति और शक्ति में विश्वास, धार्मिक व्यवहार के स्वरूप पवित्रता की धारणा, अनुज्ञा और निषेध संवेगात्मक भावनाओं से संबंध एवं विशेष धार्मिक सामग्री और प्रतीक।
20. टायलर ने कहा कि सभी धर्म एक ही विचार पर आधारित हैं और यह है आत्मा या जीव में विश्वास जिसे आत्मावाद या जीववाद कहा जाता है।
21. शिक्षा सीखने, आत्मसात करने और उसके अनुरूप व्यवहार की प्रक्रियाओं से संबंधित है।
22. एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी की परम्परा, संस्कृति, कौशल और ज्ञान को औपचारिक या अनौपचारिक ढंग से हस्तान्तरित करने में शिक्षा की भूमिका महत्वपूर्ण संस्था के रूप में है।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न–

1. ''विवाह एक सामाजिक संस्था है।'' यह कथन है–
   (अ) रिवर्स (ब) लोबो
   (स) गिलिन एवं गिलिन (द) उपर्युक्त सभी
2. निम्न में से हिन्दू विवाह का कौन सा उद्देश्य प्रमुख है?
   (अ) भावनात्मक सुरक्षा (ब) धार्मिक कर्तव्य
   (स) पुत्र प्राप्ति (द) उपर्युक्त सभी
3. किस प्रकार के परिवार विश्व के सभी समाजों में पाये जाते हैं?
   (अ) एकाकी परिवार (ब) संयुक्त परिवार
   (स) विस्तृत परिवार (द) उपर्युक्त सभी
4. जिस परिवार में वंश परम्परा माँ के नाम पर चलती है उसे कहते हैं–
   (अ) मातृवंशीय परिवार (ब) पितृवंशीय परिवार
   (स) मातृसत्तात्मक परिवार (द) पितृसत्तात्मक परिवार
5. नातेदारी या स्वजनता में परिहास रीति किससे संबंधित है।
   (अ) हँसी–मजाक (ब) घृणा
   (स) अपमान (द) क्रोध
6. प्राथमिक संबंधी नातेदारी या स्वजनता की श्रेणी में कुल कितने संबंध बनते हैं।
   (अ) सात (ब) आठ
   (स) दस (द) बीस
7. राज्य के आवश्यक तत्व हैं–
   (अ) निश्चित भू–भाग (ब) जनसंख्या
   (स) सरकार (द) उपर्युक्त सभी
8. संपत्ति के प्रमुख प्रकार हैं–
   (अ) भौतिक (ब) चल एवं अचल
   (स) निजी (द) उपर्युक्त सभी
9. धर्म विश्वास है–
   (अ) समाज में (ब) समुदाय में
   (स) संस्था में (द) अलौकिक सत्ता में
10. शिक्षा का मूल उद्देश्य है।
    (अ) राजनीतिज्ञ बनना (ब) उद्योगपति बनना
    (स) नौकरी दिलाना
    (द) व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना

अति लघूत्तरात्मक प्रश्न–

1. विवाह के उद्देश्य बताइये।
2. विवाह कितने प्रकार के होते हैं।
3. बहु–पति विवाह के प्रकार बताइये।
4. परिवार का क्या महत्व है ?
5. वंश एवं सत्ता के आधार पर परिवार के प्रकार बताइये।
6. पारिवारिक विघटन के कोई चार कारण लिखिए।
7. नातेदारी या स्वजनता का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
8. वर्गात्मक संज्ञाओं और व्यक्तिकारक संज्ञाओं से आप क्या समझते हैं ?
9. सहप्रसविता या सहकष्ट क्या है ?
10. आधुनिक राज्य के कार्य बताइये।
11. राज्य की उत्पत्ति के किन्हीं तीन सिद्धांतों के नाम बताइये ?
12. राज्य के आवश्यक तत्व बताइये
13. आर्थिक संस्था से आप क्या समझते हैं ?
14. कोई दो आर्थिक संस्थाओं के नाम बताइये ?
15. धर्म की विशेषताएँ बताइये।
16. सामाजिक नियंत्रण में धर्म की भूमिका बताइये।
17. समाज पर धर्म के चार प्रभाव लिखिए।
18. शिक्षा का अर्थ क्या है।
19. शिक्षा कितने प्रकार की होती है।
20. भारत में शिक्षा प्रणाली का महत्वपूर्ण क्षेत्र क्या है ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न–

1. विवाह क्या है ?
2 विवाह की दो विशेषताएँ लिखिए।
3. एक विवाह के दो लाभ बताइये।
4. परिवार की दो विशेषताएँ लिखिए।
5. भारत का परिवार किन अंशो तक संयुक्त है ?
6. परिवार के आर्थिक कार्यों का उल्लेख कीजिए।
7. दो या दो से अधिक प्रारंभिक संज्ञाओं को मिलाकर बनाये गये नातेदार या स्वजन सूचक को क्या कहते हैं?
8. विभिन्न स्वजनों के बीच परस्पर हँसी–मजाक के संबंध को क्या कहते हैं ?
9. मातुलेय किस प्रकार के समाजों में पाया जाता है ?
10. राज्य का अर्थ बताइये।
11. सरकार से आप क्या समझते हैं ?
12. कल्याणकारी राज्य क्या है ?
13. सम्पत्ति के प्रमुख प्रकार बताइये।
14. सम्पत्ति की किन्हीं तीन विशेषताओं के नाम बताइये।
15. धर्म क्या है ?
16. धर्म की तीन विशेषताएँ बताइये।
17. धर्म के चार कार्यों का उल्लेख कीजिए।
18. शिक्षा को परिभाषित कीजिए।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

19. शिक्षा का महत्वपूर्ण प्रकार्य क्या है ?
20. भारतीय शिक्षा प्रणाली के दोषों पर संक्षिप्त प्रकाश डालिए।

निबंधात्मक प्रश्न–

1. विवाह की परिभाषा दीजिए तथा हिंदू विवाह के परम्परागत और आधुनिक प्रकारों का वर्णन कीजिए।
2. विवाह की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
3. विवाह के प्रमुख उद्देश्यों का संक्षिप्त विवरण दीजिए।
4. परिवार को परिभाषित कीजिए। परिवार की विशेषताएँ बताइये।
5. एक संस्था के रुप में परिवार के कार्यों का उल्लेख कीजिए।
6. परिवार के प्रमुख प्रकारों का वर्णन कीजिए।
7. नातेदारी या स्वजनता की रीतियों का वर्णन कीजिए।
8. नातेदारी या स्वजनता शब्दावली अथवा संबंध संज्ञायें क्या हैं ?
9. नातेदारी या स्वजनता से आप क्या समझते हैं? नातेदारी या स्वजनता के प्रकार का वर्णन कीजिए।
10. राज्य की परिभाषा दीजिए व राज्य के आवश्यक तत्वों का वर्णन कीजिए।
11. एक आधुनिक राज्य के कार्य बताइये।
12. राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्तों को समझाइये।
13. आर्थिक संस्थाओं का अर्थ बताईये एवं समाज में पाई जाने वाली आर्थिक संस्थाओं का वर्णन कीजिए।
15. आर्थिक संस्थाओं के विकास का वर्णन कीजिए व उनके सामाजिक प्रभावों को समझाइये।
16. धर्म को परिभाषित कीजिए। इसकी विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
17. धर्म की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्तों पर प्रकाश डालिए।
18. भारतीय समाज के विभिन्न धर्मों के विश्वास, व्यवहार और प्रभाव का वर्णन कीजिए।
19. शिक्षा को परिभाषित करते हुए इसकी अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
20. औपचारिक एवं अनौपचारिक शिक्षा के अर्थ स्पष्ट करते हुए इसके कार्यों का वर्णन कीजिए।

उत्तरमाला–1. (द) 2. (ब) 3. (अ) 4. (अ) 5. (अ) 6. (ब) 7. (द) 8. (द) 9. (द) 10. (द)

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

5. संस्कृति एवं समाजीकरण

संस्कृति अर्थ, विशेषताएँ एवं तत्व

मनुष्य इसलिए मनुष्य है क्योंकि उसके पास उसकी संस्कृति है। उसकी संस्कृति के आधार पर ही उसे प्राणी जगत के अन्य प्राणियों से अलग किया जा सकता है। यदि मनुष्य को उसकी संस्कृति से अलग कर दिया जाये तो वह अन्य पशुओं के समान हो जायेगा। मानव ही संसार में वह प्राणी है जो अपनी विशिष्टताओं के कारण संस्कृति का निर्माण कर पाया है।

शारीरिक दृष्टि से देखा जाये तो मनुष्य बहुत विशाल या बलिष्ठ प्राणी नहीं है। मनुष्य से कहीं अधिक शक्तिशाली हाथी, घोड़े, घड़ियाल, भेड़िए, शेर आदि हैं पर मनुष्य में पर्याप्त विकसित मस्तिष्क है, जो उसे अपने अस्तित्त्व को बनाये रखने व पशुओं पर नियंत्रण कर लेने की क्षमता प्रदान करता है।

संस्कृति का अर्थ–संस्कृति शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है। सामान्यतः संस्कृति का अर्थ 'सुसंस्कृत' होने से लगाया जाता है।

मनुष्य द्वारा परिष्कृत भाषा, अच्छा पहनावा, शालीन व्यवहार, खान–पान, रहन–सहन के तरीके, धर्म, आचार–विचार, मनोरंजन के साधन आदि के प्रयोग को संस्कृति में सम्मिलित किया जाता है। लेकिन यह संस्कृति के प्रति समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण नहीं है।

संस्कृति शब्द 'संस्कृत' भाषा से लिया गया है। ''संस्कृति'' तथा 'संस्कृत' दोनों ही शब्द संस्कार से बने हैं और संस्कार का शाब्दिक अर्थ है कुछ धार्मिक क्रियाओं की पूर्ति करना अर्थात् विभिन्न संस्कारों के माध्यम से सामूहिक जीवन के उद्देश्यों की प्राप्ति।

मानवशास्त्री 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में करते हैं। उनके अनुसार संस्कृति के विभिन्न आयाम बच्चा सामूहिक जीवन में सहभागिता के द्वारा बचपन से ही सीखता रहता है। सीखकर ही एक व्यक्ति समाजीकृत प्राणी बनता है।

टायलर के अनुसार ''संस्कृति वह जटिल समग्रता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून, प्रथा और ऐसी ही अन्य क्षमताओं और आदतों का समावेश रहता है जिन्हें मनुष्य समाज के सदस्य के नाते प्राप्त करता है।''

इस परिभाषा में टायलर ने संस्कृति को सामाजिक विरासत माना है। जिसे मनुष्य समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है।

हर्षकोविट्स ने संस्कृति की संक्षिप्त परिभाषा देते हुए लिखा है, ''संस्कृति पर्यावरण का मानव–निर्मित भाग है।'' इस परिभाषा में हर्षकोविट्स ने स्पष्ट किया है कि सम्पूर्ण पर्यावरण को हम संस्कृति नहीं कह सकते बल्कि संस्कृति वही कहलायेगी जो मनुष्य द्वारा निर्मित है। मनुष्य द्वारा निर्मित इन वस्तुओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है एक जो मूर्त्त है जिन्हें छुआ जा सकता है, देखा जा सकता है तथा दूसरी वह जिन्हें देखा व छुआ नहीं जा सकता। आगबर्न ने इसी आधार पर संस्कृति के दो प्रकार बताए हैं– भौतिक व अभौतिक संस्कृति। उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर संस्कृति मानव की वह विरासत है जो उसे समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त होती है। सामाजिक प्राणी के रूप में व्यक्ति अपने समाज से जो कुछ प्राप्त करता है व सीखता है वही सामाजिक ज्ञान उसकी सामाजिक विरासत कहलाता है। सीखा हुआ यही ज्ञान संस्कृति कहलाता है।

ऊपर अध्याय में संस्कृति की विभिन्न परिभाषाओं का उल्लेख किया जा चुका है। संस्कृति को और अधिक स्पष्टतः समझने के लिए हम उसकी विशेषताओं पर विचार करेंगे। संस्कृति की कुछ सर्वमान्य विशेषताएँ निम्न हैं–

1. संस्कृति मानव निर्मित है–मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्य ही संस्कृति का निर्माण करता है। मनुष्य में कुछ शारीरिक और मानसिक विशिष्टताएँ पाई जाती है जैसे सीधे खड़े होने की क्षमता, विकसित और मेधावी मस्तिष्क, हाथों की संरचना, गर्दन की रचना आदि जो उसे अन्य प्राणियों से विशिष्ट बनाती है। ये सभी क्षमतायें अन्य प्राणियों में नहीं पायी जाती। मानव ने इन क्षमताओं के द्वारा ही नये–नये आविष्कार किए और अपनी विभिन्न आवश्कताओं की पूर्ति भी की है। मानव के द्वारा किए गये आविष्कार व उसके अनुभव मिलकर ही संस्कृति का निर्माण करते हैं।

2. संस्कृति सीखी जाती है–संस्कृति मानव को वंशानुक्रमण में प्राप्त नहीं होती है बल्कि यह तो समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा सीखी जाती हैं। हॉबल ने कहा है कि संस्कृति सीखा हुआ व्यवहार है। जब बच्चे का जन्म होता है तो वह एक जैविक प्राणी होता है। वह समाज के बारे में अनभिज्ञ होता है कि उसका जन्म कहाँ हुआ है, किस जाति में या किस परिवार में हुआ है। समाज में रहकर ही वह इन सब चीजों से परिचित होता है तथा समाज में व्यवहार करना सीखता है। व्यक्ति के सीखे हुए व्यवहार प्रतिमानों (Behaviour patterns) का सम्पूर्ण योग ही संस्कृति कहलाता है। जन्म के समय मानव शिशु और पशु शिशु में कोई विशेष अन्तर नहीं होता है। मानव शिशु संस्कृति को सीखकर ही सामाजिक प्राणी के रूप में परिवर्तित होता है। संस्कृति सीखा हुआ व्यवहार है परन्तु प्रत्येक सीखा हुआ व्यवहार संस्कृति नहीं होता है। पशुओं में भी सीखने की क्षमता पाई जाती है। मानव के साथ रहते–रहते पशु भी बहुत कुछ व्यवहार सीख जाते हैं, किन्तु पशु द्वारा सीखा हुआ व्यवहार उसका व्यक्तिगत

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

है न कि सामूहिक व्यवहार का अंग। इसी कारण पशुओं द्वारा सीखा गया व्यवहार संस्कृति नहीं बन सकता। मानव के द्वारा सीखा गया व्यवहार सामूहिक है, जिन्हें हम प्रथाओं, परम्पराओं, रूढ़ियों, जनरीतियों आदि के द्वारा प्रदर्शित करते हैं।

3. संस्कृति हस्तान्तरित की जाती है— चूंकि संस्कृति सीखी जा सकती है इसलिए यह आसानी से एक समूह से दूसरे समूह को, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित हो जाती है। मानव संस्कृति का हस्तान्तरण मुख्य रूप से भाषा के माध्यम से करता है। भाषा, लेखन व प्रतीक ही वह माध्यम है जिसके द्वारा मानव ज्ञान का अर्जन व अर्जित ज्ञान का हस्तान्तरण कर पाता है।

पशु मानव से कुछ व्यवहार सीख तो लेते हैं, लेकिन पशुओं में मानव की भाँति सिखाने की क्षमता का अभाव पाया जाता है। भाषा ज्ञान के अभाव के कारण वे सीखे गये व्यवहार को अन्य पशुओं को नहीं सिखा पाते। संस्कृति की इसी विशेषता के कारण मानव अपने पूर्वजों द्वारा अर्जित ज्ञान को सीखता है। सीखे गये ज्ञान को परिमार्जित करता है तथा अपने द्वारा किए गये आविष्कारों व अनुभवों को संजोकर नयी पीढ़ी को हस्तान्तरित करता है। हस्तान्तरण का यह क्रम चलता रहता है। इससे मानव का ज्ञान व संस्कृति का कोष दिनों दिन समृद्ध होता जाता है।

4. संस्कृति सामाजिक होती है— संस्कृति एक समाज की सम्पूर्ण सामाजिक जीवन पद्धति को प्रदर्शित करती है। संस्कृति किसी व्यक्ति विशेष द्वारा नहीं बनाई जाती, अपितु यह सम्पूर्ण समाज की देन होती है। मानव की वही उपलब्धि संस्कृति का हिस्सा बनती है जिसमें समस्त समाज की भागीदारी होती है। कभी–कभी एक या दो व्यक्ति मिलकर किसी नयी चीज की खोज या कोई नया आविष्कार करते हैं, पर वह जब तक संस्कृति नहीं कही जा सकती तब तक कि उसे समस्त समाज मान्यता नहीं दे देता। संस्कृति में सम्मिलित परम्पराएँ, जनरीतियाँ, रूढ़ियाँ, प्रथाएँ, धर्म, दर्शन, कला, भाषा, विज्ञान आदि व्यक्तिगत जीवन विधि की अपेक्षा सम्पूर्ण समाज की विधि (Way of Life) को प्रदर्शित करती है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि संस्कृति में सामाजिकता का गुण निहित है तथा यह समाज की देन है।

5. प्रत्येक समाज की एक विशिष्ट संस्कृति— प्रत्येक समाज की अपनी एक विशिष्ट संस्कृति पायी जाती है। इसका कारण यह है कि अलग–अलग समाजों में भौगोलिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में भिन्नता पाई जाती है। भौगोलिक व सामाजिक विभिन्नताओं के कारण प्रत्येक समाज की आवश्कताएँ भी भिन्न–भिन्न होती है। अपनी इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मानव अनेक आविष्कार करता है। मानव द्वारा किए गये आविष्कार ही संस्कृति को एक नया रूप प्रदान करते हैं। अलग–अलग समाजों की आवश्यकताओं में भिन्नता होने के कारण ही प्रत्येक समाज की संस्कृति भी विशिष्ट बन जाती है। उसी संस्कृति के अनुरूप प्रत्येक समाज के सदस्यों के व्यवहारों में पर्याप्त भिन्नता दिखाई देती है। सांस्कृतिक विभिन्नताओं के होते हुए भी संस्कृति के कुछ तत्त्व सामान्यतः सभी समाजों में एक समान पाये जाते हैं। कुछ संस्थाएँ जैसे परिवार, विवाह, नातेदारी, धर्म, शिक्षा व कानून आदि सभी समाजों में देखी जा सकती हैं। इन संस्थाओं के कार्य भी सभी समाजों में लगभग एक जैसे हैं। प्रत्येक समाज में संस्कृति के कुछ तत्त्व समान होते हैं तो कुछ तत्त्व असमान भी होते हैं। ये तत्व ही प्रत्येक समाज की संस्कृति को विशिष्ट बनाते हैं।

6. संस्कृति मानव आवश्यकताओं की पूर्ति करती है— मानव की अनेक शारीरिक, मानसिक एवं भौतिक आवश्यकताएँ होती है। संस्कृति मानव की इन्हीं आवश्यकताओं कि पूर्ति में सहायता प्रदान करती है। प्रकार्यवादी समाजशास्त्री मैलिनोवस्की एवं रैडक्लिफ ब्राउन की मान्यता है कि संस्कृति का कोई तत्त्व बेकार नहीं होता है बल्कि वह मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। जब तक किसी सांस्कृतिक तत्त्व का समाज में योगदान समाप्त हो जाता है तो उसका अस्तित्व भी धीरे–धीरे समाप्त हो जाता है। वह सांस्कृतिक तत्त्व तब तक ही संस्कृति का अंग बना रहता है जब तक वह मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। मानव अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नये–नये आविष्कार करता है। ये आविष्कार और मानव के अनुभव संस्कृति के तत्त्व बन जाते हैं। इस प्रकार मानव द्वारा निर्मित संस्कृति के विभिन्न तत्त्व व स्वयं संस्कृति मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है।

7. संस्कृति में अनुकूलन की क्षमता होती है— संस्कृति में अनुकूलन व परिवर्तनशीलता का गुण निहित है। संस्कृति में समय, स्थान, परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं। विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियों जैसे मैदानी भागों, पहाड़ी क्षेत्रों, रेगिस्तानों, दुर्गम स्थानों, शीत प्रदेशों आदि स्थानों की संस्कृतियों में पर्याप्त विभिन्नता पाई जाती है। पहाड़ी प्रदेशों की संस्कृति मैदानी भागों से भिन्न होती है। उसी प्रकार ठंडे प्रदेशों के लोगों की जीवनशैली एवं जनरीतियाँ गर्म प्रदेशों में रहने वालों से भिन्न होती है। इस विभिन्नता का कारण यह है कि प्रत्येक स्थान की संस्कृति ने अपनी भौतिक परिस्थितियों के साथ अनुकूलन कर लिया है।

भौगोलिक परिस्थितियाँ संस्कृति के कुछ भागों व तत्त्वों में परिवर्तन तो लाती हैं पर पूर्ण रूप से इसको निश्चित नहीं करती हैं। संस्कृति के विभिन्न तत्त्वों व इकाईयों में समय के साथ–साथ परिवर्तन होता रहता है परन्तु यह परिवर्तन यकायक न होकर अत्यन्त धीमी गति से होता है। परिवर्तन व समंजन की यही प्रक्रिया अनुकूलनशीलता कहलाती है।

8. संस्कृति एक आदर्श के रूप में— प्रत्येक समाज

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

या समूह के लोग अपनी संस्कृति को आदर्श मानते हैं। संस्कृति इसलिए भी आदर्श होती है कि यह किसी व्यक्ति विशेष के व्यवहार की देन न होकर सम्पूर्ण समूह के व्यवहार को प्रदर्शित करती है। ये सामूहिक व्यवहार समूह द्वारा स्वीकृत होते हैं इसीलिए ये आदर्श माने जाते हैं। प्रत्येक समूह अपने सदस्यों से इन आदर्शों के अनुरूप व्यवहार करने की अपेक्षा रखता है तथा इन आदर्शों के पालन के लिए लोगों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से बाध्य करता है, जैसे बड़े बुजुर्गों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिए उनके सामने झुकना, पाँव छूना आदि जब दो संस्कृतियों की तुलना की जाती है तो व्यक्ति अपनी संस्कृति को आदर्श बताने का प्रयास करता है। उदाहरणार्थ भारतीय संस्कृति व पाश्चात्य संस्कृति की तुलना जब एक भारतीय करता है तो वह अपनी ही संस्कृति को श्रेष्ठ बताता है।

9. संस्कृति व्यक्तित्व निर्माण में सहायक है—जन्म के बाद मानव शिशु एक मानव—निर्मित सांस्कृतिक पर्यावरण में प्रवेश करता है। मानव का पालन पोषण किसी न किसी सांस्कृतिक पर्यावरण में ही होता है। इसमें रहकर ही मनुष्य अपनी संस्कृति को आत्मसात करता है। संस्कृति के अन्तर्गत प्रचलित रीति—रिवाजों, प्रथाओं, परम्पराओं, जनरीतियों, भाषा, धर्म, कला आदि का प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व पर पड़ता है। इसी कारण अलग—अलग संस्कृति में पले व्यक्तियों का व्यक्तित्व एक दूसरे से भिन्न होता है क्योंकि उनका पालन पोषण भिन्न—भिन्न सांस्कृतिक पर्यावरण में होता है।

प्रो. रूथ बेनेडिक्ट ने व्यक्तित्व पर पड़ने वाले संस्कृति के प्रभावों के महत्त्व को स्वीकार करते हुए लिखा है, ''व्यक्ति की संस्कृति उसे वह कच्चा माल प्रदान करती है। जिससे वह अपने जीवन का निर्माण करता है। यदि यह कच्चा माल अपर्याप्त है तो व्यक्ति का विकास पूर्ण रूप से नहीं हो पाता और यदि यह पर्याप्त है तो व्यक्ति को उसका सदुपयोग करने का अवसर मिल जाता है।'' अतः स्पष्ट है कि व्यक्तित्व और संस्कृति के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व को निश्चित दिशा व स्वरूप प्रदान करने में संस्कृति का बहुत बड़ा योगदान है।

10. संस्कृति में संतुलन एवं संगठन होता है— संस्कृति का निर्माण प्रत्येक समाज में विभिन्न छोटी—छोटी इकाइयों से मिलकर होता है। विभिन्न सांस्कृतिक तत्त्व एक दूसरे से पृथक न होकर आपस में बँधे हुए रहते हैं। इसीलिए ये व्यवस्थित व संतुलित होते हैं। जिन तत्त्वों से संस्कृति का निर्माण होता है, वे आपस में अनर्गल रूप से जुड़े हुए नहीं हैं, बल्कि एक दूसरे तत्त्वों से सामंजस्य स्थापित करते हुए जुड़े हुए हैं। जब संस्कृति के किसी एक तत्त्व में परिवर्तन आता है तो उसका प्रभाव अन्य तत्त्वों पर भी पड़ता है।

अलग—अलग क्षेत्र में अलग—अलग सांस्कृतिक तत्त्वों का विकास होता है। क्षेत्रीय विभिन्नताओं के बावजूद संस्कृति के विभिन्न तत्त्व लोगों को जोड़ने का काम करते हैं। इससे संस्कृति में एकीकरण व संगठन पाया जाता है। जिस प्रकार से हमारा समस्त जीवन संगठित व संतुलित होता है उसी प्रकार संस्कृति के सभी तत्त्व, संकुल व प्रतिमान भी संतुलित व संगठित होते हैं। किसी भी तत्त्व का अस्तित्व अलग—थलग रहकर नहीं होता बल्कि संगठन में ही होता है। सरल, आदिम व ग्रामीण समाजों में संस्कृति की यह विशेषता अधिक स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

11. संस्कृति अधि—वैयक्तिक एवं अधि—सावयवी है— प्रसिद्ध अमरीकी मानवशास्त्री क्रोबर ने संस्कृति की इस विशेषता की चर्चा करते हुए कहा है कि संस्कृति व्यक्ति एवं सावयवों से ऊपर है। यद्यपि संस्कृति का निर्माता स्वयं मानव है, परन्तु जब संस्कृति का निर्माण हो जाता है तो वह व्यक्तियों से ऊपर हो जाती है क्योंकि व्यक्ति उस संस्कृति के अनुरूप व्यवहार करता है। कोई भी अकेला व्यक्ति संस्कृति का निर्माण नहीं कर सकता है बल्कि ये सम्पूर्ण समाज व संस्कृति की देन होती है। कभी—कभी कुछ समाज सुधारक समाज में कुछ मूल्यों परम्पराओं व प्रथाओं में परिवर्तन अवश्य लाते हैं परन्तु, वे सम्पूर्ण संस्कृति को परिवर्तित नहीं कर सकते हैं। संस्कृति किसी व्यक्ति विशेष की देन न होकर सम्पूर्ण समाज व समूह की देन होती है। इसीलिए उसमें निरन्तरता का गुण पाया जाता है।

एक व्यक्ति न तो संस्कृति का निर्माण ही कर सकता है और न ही उसमें परिवर्तन ही ला सकता है। इस अर्थ में संस्कृति अधि—वैयक्तिक होती है।

सावयवी शब्द का प्रयोग मानव व अन्य जीवित प्राणियों के लिए किया जाता है। संस्कृति का निर्माण स्वयं मानव ने किया है। चूँकि मानव एक सावयव है अतः उसके द्वारा निर्मित संस्कृति उससे अधिक होने के कारण अधि सावयवी है।

संस्कृति के उपादान
(The Components of Culture)

संस्कृति अनेक भागों, उपभागों या इकाइयों से मिलकर बनी होती है। ये इकाइयाँ आपस में संगठित व व्यवस्थित होती है। संस्कृति की रचना करने वाले ये अंग सांस्कृतिक तत्व, संस्कृति संकुल, संस्कृति प्रतिमान और संस्कृति क्षेत्र कहलाते हैं। इनमें आपस में संतुलन व संगठन पाया जाता है, जिससे संस्कृति में निरन्तरता व स्थायित्व बना रहता है। संस्कृति की वह छोटी से छोटी इकाई जिसका विभाजन नहीं किया जा सकता सांस्कृतिक तत्व कहलाती है। जब अनेक सांस्कृतिक तत्व अर्थपूर्ण ढंग से मिलते हैं तो संस्कृति संकुल कहलाते हैं। संस्कृति के संस्कृति संकुलों में एक व्यवस्था पायी जाती है जिससे संस्कृति को एक विशिष्ट स्वरूप प्राप्त होता है। इसे सांस्कृतिक प्रतिमान कहा जाता है। सांस्कृतिक प्रतिमान का प्रसार एक विशिष्ट क्षेत्र तक होता है जो सांस्कृतिक क्षेत्र के

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

नाम से जाना जाता है।

संस्कृति के प्रमुख अंग या उपादान

1. सांस्कृतिक तत्व (Cultural trait or Element)
2. संस्कृति संकुल (Culture Complex)
3. संस्कृति प्रतिमान (Culture Pattern)
4. संस्कृति क्षेत्र (Culture Area)

सांस्कृतिक तत्व–संस्कृति की वह सबसे छोटी इकाई जिसका और अधिक विभाजन नहीं किया जा सकता, सांस्कृतिक तत्व कहलाती है। जिस प्रकार से शरीर की सबसे छोटी इकाई कोशिका (Cell), पदार्थ की छोटी से छोटी इकाई परमाणु तथा समाजिक संरचना की इकाई परिवार है, उसी प्रकार से संस्कृति की सबसे छोटी अविभाज्य इकाई सांस्कृतिक तत्व है। सांस्कृतिक तत्व किसी भी संस्कृति की सबसे छोटी इकाई है। संस्कृति के दो पक्ष होते हैं– भौतिक व अभौतिक इसलिए सांस्कृतिक तत्व भी दोनों ही प्रकार के भौतिक व अभौतिक होते हैं। भौतिक पक्ष में साइकिल, पंखा, टेबल, कुर्सी, घड़ी आदि सम्मिलित है। जबकि अभौतिक पक्ष में संकेत, विचार, प्रथा, जनरीति आदि सम्मिलित हैं। ये सभी भौतिक व अभौतिक सांस्कृतिक तत्व कहलाते हैं।

हर्षकोविट्स ने सांस्कृतिक तत्व को एक संस्कृति विशेष में पहचानी जा सकने वाली सबसे छोटी इकाई माना है।

डॉ. एस.सी. दुबे ने अपनी पुस्तक 'मानव तथा संस्कृति' में लिखा है, ''संस्कृति तत्वों को हम संस्कृति के गठन की सरलतम व्यावहारिक इकाइयाँ मान सकते हैं।''

क्रोबर इसे ''संस्कृति का अल्पतम परिभाषित तत्व'' मानते हैं।

सांस्कृतिक तत्व को समझने के लिए हम एक घड़ी का उदाहरण ले सकते हैं। घड़ी एक सांस्कृतिक तत्व है तथा मानव जीवन में इसका उपयोग समय का ज्ञान करवाने से है। जब तक घड़ी के पुर्जे यथा सुईयाँ, नम्बर, सेल आदि व्यवस्थित व संगठित रहते हैं तब तक ये उपयोगी रहते हैं। परन्तु सभी पुर्जे अलग–अलग हो जाने के बाद इनका घड़ी जैसा उपयोग नहीं हो पायेगा। चूँकि सांस्कृतिक तत्व अविभाज्य होते हैं और विभाजन होते ही वे अर्थहीन हो जाते हैं।

सांस्कृतिक तत्व की विशेषताएँ–

- सांस्कृतिक तत्व की उत्पत्ति का एक इतिहास होता है।
- सांस्कृतिक तत्व गतिशील व परिवर्तनशील होते हैं।
- सांस्कृतिक तत्व आपस में व्यवस्थित व संगठित होते हैं।

संस्कृति को समझने के लिए सांस्कृतिक तत्वों को समझना आवश्यक है। सम्पूर्ण सांस्कृतिक संरचना के सांस्कृतिक तत्व ही प्राथमिक आधार है।

सांस्कृतिक संकुल–सांस्कृतिक तत्वों का वह समूह जिसमें अनेक सांस्कृतिक तत्व आपस में अर्थपूर्ण ढंग से घुल–मिलकर मानव की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं तो उसे संस्कृति संकुल कहा जाता है। सम्पूर्ण संस्कृति में अकेले सांस्कृतिक तत्व का कोई महत्व नहीं होता। अपितु कुछ सांस्कृतिक तत्व मिलकर मानव की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। डॉ. दुबे सांस्कृतिक संकुल को परिभाषित करते हुए लिखते हैं, ''संस्कृति संकुल जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, समान धर्मों अथवा पूरक संस्कृति तत्वों से मिलकर बनते हैं।'' सदरलैण्ड व वुडवर्ड के शब्दों में, ''संस्कृति संकुल सांस्कृतिक तत्वों का वह समग्र समूह है जो कि इनके अर्थपूर्ण ढंग से परस्पर संबंधित होने से बनता है।''

'फुटबॉल का खेल' एक सांस्कृतिक संकुल का उदाहरण है। इसमें खिलाड़ी, फुटबॉल, खेल नियम, गेंद, खेल में दक्षता आदि सभी सांस्कृतिक तत्व आपस में अर्थपूर्ण ढंग से जुड़ते हैं तभी फुटबॉल का खेल खेला जा सकता है। इसी प्रकार परिवार, विवाह, मानव शरीर, धर्म आदि को संस्कृति संकुल के रूप में देख सकते हैं, जिनमें अनेकानेक सांस्कृतिक तत्व अर्थपूर्ण ढंग से जुड़े रहते हैं। बिना सांस्कृतिक तत्वों के सांस्कृतिक संकुल का निर्माण असंभव है।

संस्कृति प्रतिमान– रूथ बेनेडिक्ट ने अपनी पुस्तक ''पैटर्नस् ऑफ कल्चर'' में संस्कृति प्रतिमान की अवधारणा को विकसित किया। अनेक सांस्कृतिक तत्वों के योग से संस्कृति संकुल का निर्माण होता है। सांस्कृतिक तत्व व संकुल प्रकार्यात्मक रूप से संबंधित होकर जब किसी सार्थक उपादान का निर्माण करते हैं तो वह सांस्कृतिक प्रतिमान कहलाते हैं। सांस्कृतिक प्रतिमान में संस्कृति तत्व एवं संस्कृति संकुल एक विशेष प्रकार से व्यवस्थित होते हैं। हर्षकोविट्स के अनुसार, ''संस्कृति प्रतिमान एक संस्कृति के तत्वों का वह डिजाइन है जो कि उस समाज के सदस्यों के व्यक्तिगत व्यवहार प्रतिमान के माध्यम से व्यक्त होता हुआ जीवन के इस तरीके को संबंद्धता, निरन्तरता एवं विशिष्टता प्रदान करता है।''

विवाह एक प्रतिमान है जिसमें दूल्हा, दुल्हन, मिठाई, लड्डू, कुर्सी, लाइट आदि तत्व हैं। शादी में साज–सज्जा किसी एक तत्व से न होकर अनेक तत्वों से होती है। अतः साज–सज्जा एक संकुल हुआ। इसी प्रकार अनेक संकुल, भोजन संकुल, स्वागत संकुल, फेरों का संकुल, विदा संकुल आदि अनेक संकुल होते हैं, जो मिलकर विवाह प्रतिमान को बनाते हैं।

अतः सांस्कृतिक तत्वों का अर्थपूर्ण योग संस्कृति संकुल कहलाता है। संस्कृति संकुलों का व्यवस्थित एवं अर्थपूर्ण योग संस्कृति प्रतिमान की रचना करते हैं। संस्कृति प्रतिमान ही समाज की संस्कृति का निर्माण करते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि संस्कृति प्रतिमानों की सम्पूर्ण व्यवस्था ही संस्कृति है। संस्कृति प्रतिमानों के माध्यम से हम संस्कृति की विशेषताओं को सरलतापूर्वक समझ सकते हैं। भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत– संयुक्त परिवार, जाति, धार्मिक सामाजिक भिन्नता,

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

आध्यात्मिक जीवन दर्शन आदि सभी संस्कृति प्रतिमान सम्मिलित हैं।

संस्कृति क्षेत्र– प्रत्येक संस्कृति एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र तक विस्तृत होती है। इस निश्चित भौगोलिक क्षेत्र जिसमें सांस्कृतिक तत्वों, संकुलों एवं प्रतिमानों का प्रसार होता है, संस्कृति क्षेत्र कहलाता है। सांस्कृतिक क्षेत्र की अवधारणा का सर्वप्रथम प्रयोग विसलर ने अमरीकी इण्डियन संस्कृतियों के अध्ययन के दौरान किया था। डॉ. दुबे के अनुसार, 'कतिपय संस्कृति तत्व या सांस्कृतिक संकुल एक विशेष भौगोलिक क्षेत्र में फैलकर संस्कृति क्षेत्र का निर्माण करते हैं।''

हर्षकोविट्स के शब्दों में ''वह क्षेत्र जिसमें समान संस्कृतियाँ पायी जाती हैं, एक संस्कृति क्षेत्र कहलाता है।''

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रत्येक संस्कृति या उसके तत्वों का विस्तार एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में होता है। चूंकि संस्कृति सीखी जा सकती है। अतः कोई भी व्यक्ति संस्कृति को सीख सकता है। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से एक व्यक्ति के लिए अपने क्षेत्र की संस्कृति को सीखना अधिक सरल होता है।

सांस्कृतिक तत्वों में गतिशीलता एवं परिवर्तनशीलता का गुण पाया जाता है। अतः वे दूसरी संस्कृति के तत्वों और संकुलों के साथ मिश्रित होकर विस्तारित होते रहते हैं। संस्कृति तत्वों के विस्तार में यातायात व संचार साधनों का भी योगदान रहता है। विभिन्न लोगों के सम्पर्क के साथ ही उनकी संस्कृति का भी आदान–प्रदान होता है।

इसलिए सांस्कृतिक क्षेत्र की कोई स्पष्ट सीमा निश्चित नहीं की जा सकती है। एक सांस्कृतिक क्षेत्र के आस–पास के क्षेत्र व प्रदेश की सांस्कृतिक विशेषताएँ दूसरे क्षेत्र में किसी न किसी रूप में अवश्य ही देखी जा सकती है।

समाजीकरण–अर्थ, चरण एवं व्यक्तित्व निर्माण

आपने देखा होगा कि जन्म के समय शिशु हाड़–माँस का ढाँचा मात्र होता है वह हाड़–माँस का ढाँचा अपने व समाज के बारे में कुछ भी नहीं जानता है। वह सामाजिक गतिविधियों में भाग लेने योग्य नहीं होता है परन्तु, जैसे–जैसे वह शिशु बड़ा होता जाता है, वह अपने दैनिक जीवन में माता–पिता, भाई–बहनों, परिजनों, मित्रों, पड़ौसियों, अध्यापकों आदि के साथ रहकर सामाजिक व्यवहार करना सीखता है। समाज की संस्कृति के अनुरूप, अपने आपको ढालता जाता है। संस्कृति को सीखने व आत्मसात करने की प्रक्रिया को ही समाजीकरण कहा जाता है।

समाजीकरण की यह प्रक्रिया जीवन पर्यन्त चलती रहती है। समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से ही मनुष्य अपनी संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित करता है। परिवार ही वह संस्था है जो मनुष्य का परिचय सामाजिक, सांस्कृतिक व भौतिक पर्यावरण से कराती है। समाजीकरण की प्रक्रिया से ही मनुष्य समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बनता है तथा समाज की गतिविधियों में भाग लेना सीखता है अर्थात् समाजीकरण ही वह प्रक्रिया है, जो मनुष्य को जैविक प्राणी से सामाजिक प्राणी बनाती है। आज मनुष्य जिस स्थिति में है वह भी इस प्रक्रिया से ही संभव हो पाया है। मनुष्य ने सभी कार्य जैसे–भाषा, रीति–रिवाज, रहन सहन, खान–पान के तरीके आदि सभी समाजीकरण के द्वारा ही ग्रहण किए हैं। अतः मनुष्य का समस्त व्यवहार सीखा हुआ है और यह समाजीकरण का ही परिणाम है।

समाजीकरण का अर्थ और परिभाषा

सीखने की वह प्रक्रिया जिसमें मानव शिशु अपने सामाजिक, सांस्कृतिक संसार से परिचित होता है, समाजीकरण कहलाती है। अधिक स्पष्ट शब्दों में समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति अपने समूह व समाज के आदर्शों, मूल्यों, लोकाचारों और जनरीतियों को सीखता है तथा अपनी सामाजिक विरासत जिसे कि हम संस्कृति के नाम से जानते हैं, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित करता है। समाजशास्त्रियों ने समाजीकरण को विभिन्न परिभाषाओं के माध्यम से समझाया है। **जॉनसन** ने अपनी पुस्तक **''सोशियोलोजी ए सिस्टेमेटिक इन्ट्रॉडक्शन''** में समाजीकरण की परिभाषा देते हुए कहा है, ''समाजीकरण सीखने की वह प्रक्रिया है जो सीखने वाले को सामाजिक भूमिकाओं का निर्वाह करने के योग्य बनाती है।'' इस परिभाषा से स्पष्ट होता है कि समाजीकरण सीखने की एक प्रक्रिया है। उनके अनुसार हर चीज सीखना समाजीकरण नहीं होता बल्कि सामाजिक नियमों एवं मूल्यों के अनुरूप व्यवहार करना सीखना ही समाजीकरण है। समाजीकरण के द्वारा व्यक्ति अपनी विभिन्न सामाजिक प्रस्थितियों से परिचित होता है तथा उसके अनुरूप भूमिका निभाना भी सीखता है।

ए.डब्ल्यू. ग्रीन ने अपनी पुस्तक **'सोशियोलॉजी'** में लिखा है, ''समाजीकरण वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा बच्चा सांस्कृतिक विशेषताओं, आत्मपन और व्यक्तित्व को प्राप्त करता है। ''इस परिभाषा से स्पष्ट होता है कि समाजीकरण के द्वारा व्यक्ति सांस्कृतिक विशेषताओं को सीखता है तथा उनके अनुरूप अपने आप को ढालता है जिससे उसके व्यक्तित्व का विकास होता है।

गिलिन और गिलिन ने अपनी पुस्तक "cultural sociology" में समाजीकरण की परिभाषा देते हुए लिखा है, ''समाजीकरण से हमारा तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिसके द्वारा व्यक्ति, समूह में एक क्रियाशील सदस्य बनता है, समूह की कार्यविधियों से समन्वय स्थापित करता है, उसकी परम्पराओं का ध्यान रखता है और सामाजिक परिस्थितियों से अनुकूलन करके अपने साथियों के प्रति सहनशक्ति की भावना विकसित

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

करता है।'' गिलिन व गिलिन ने अपनी परिभाषा में समाजीकरण का मुख्य कार्य व्यक्ति को समाज का सक्रिय सदस्य बनाना बताया है। उनके अनुसार समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा ही व्यक्ति जीवन की विभिन्न परिस्थितियों से अनुकूलन करना सीखता है। साथ ही अपने आस पास रहने वाले परिजन, मित्रजन व पड़ौसियों से कैसा व्यवहार करना है यह भी समाजीकरण द्वारा सीखा जाता है। समाजीकरण की अन्य विद्वानों ने निम्न परिभाषाएँ दी है–

हारालाम्बोस के अनुसार–''वह प्रक्रिया जिसके द्वारा व्यक्ति अपने समाज की संस्कृति को सीखता है, समाजीकरण के नाम से जानी जाती है।''

किम्बाल यंग के मतानुसार, ''समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रवेश करता है तथा समाज के विभिन्न समूहों का सदस्य बनता है और जिसके द्वारा उसे समाज के मूल्यों और मानकों को स्वीकार करने की प्रेरणा मिलती है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि समाजीकरण सीखने की एक प्रक्रिया है, जिसमें व्यक्ति सामाजिक मूल्यों, मानदण्डों एवं समाज–सम्मत व्यवहार को सीखता है। इसी के तहत मनुष्य अपने समाज व समूह की सामाजिक व सांस्कृतिक विशेषताओं से अनुकूलन करता है।

समाजीकरण की विशेषताएँ

1. सीखने की प्रक्रिया–सीखने की प्रक्रिया ही समाजीकरण के नाम से जानी जाती है। सभी प्रकार के व्यवहार सीखना समाजीकरण नहीं कहा जा सकता अपितु सामाजिक मूल्यों और मानदण्डों के अनुरूप किए गए व्यवहार ही समाजीकरण कहलाते हैं। उदाहरण के लिए प्रतियोगी परीक्षा पास करने के लिए कड़ी मेहनत करना, बड़े–बुजुर्गों का सम्मान करना तथा निःशक्तजनों से अच्छा व्यवहार करना इत्यादि बातें सीखना समाजीकरण है, लेकिन पाकेटमारी का हुनर हासिल करना, परीक्षा में पास होने के लिए ब्ल्यूटूथ से नकल करना, गाली देना आदि सीखना समाजीकरण नहीं है।

2. आजीवन प्रक्रिया–समाजीकरण की प्रक्रिया शैशवकाल से प्रारम्भ होकर वृद्धावस्था तक चलती है। यह आजीवन चलने वाली प्रक्रिया है। वृद्धावस्था की तुलना में बाल्यावस्था में व्यक्ति अधिक शीघ्रता से सीखता है। व्यक्ति अपने जीवन काल में विभिन्न प्रस्थितियाँ धारण करता है तथा उन प्रस्थितियों के अनुरूप भूमिकाओं का निष्पादन करना सीखता है। जैसे बाल्यावस्था में वह अपने माता–पिता, दादा–दादी, भाई–बहन, मित्र आदि के साथ व्यवहार करना सीखता है। युवावस्था में वह पति, पिता, व्यापारी, कर्मचारी या अन्य पद धारण करता है। वृद्धावस्था में व्यक्ति दादा, नाना, श्वसुर आदि पदों के अनुरूप भूमिकाओं का निर्वाह करता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि समाजीकरण जीवन पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति समाज द्वारा मान्य व्यवहारों को सीखता है।

3. समय व स्थान सापेक्ष–समाजीकरण की प्रक्रिया समय व स्थान सापेक्ष है। इसका अर्थ यह है कि जो व्यवहार एक समाज में पुरस्कार के योग्य है वहीं दूसरे समाज में दण्डनीय हो सकता है। उदाहरण के लिए अफ्रीका की मसाई जनजाति में एक दूसरे के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिए एक दूसरे पर थूकते हैं। परन्तु सम्मान प्रदर्शित करने का यही तरीका यदि भारत में अपनाया जाये तो यह अनुचित माना जाएगा।

समाजीकरण की प्रक्रिया समय सापेक्ष भी है। दो भिन्न–भिन्न समयों में एक समाज व समूह के रीति–रिवाजों में बहुत अधिक परिवर्तन आ जाता है। उदाहरण के लिए प्राचीन भारतीय समाज में नव–वधू को पर्दा करना सिखाया जाता था परन्तु आधुनिक समाज में नव वधू से ऐसी अपेक्षा प्रायः नहीं की जाती।

4. संस्कृति को आत्मसात् करने की प्रक्रिया–संस्कृति को सीखने की प्रक्रिया ही समाजीकरण है। समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा मनुष्य संस्कृति के भौतिक व अभौतिक दोनों पक्षों को सीखता है तथा सांस्कृतिक मूल्यों, मानदण्डों तथा समाज स्वीकृत व्यवहारों को आत्मसात् करता है। संस्कृति को आत्मसात् करने की इस प्रक्रिया में ही व्यक्ति के आत्म (Self) का विकास होता है। धीरे–धीरे वही संस्कृति जिसे व्यक्ति ने समाजीकरण के द्वारा सीखा है वह व्यक्ति के व्यक्तित्व का अंग बन जाती है।

5. समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बनने की प्रक्रिया– समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा ही मनुष्य समाज की विभिन्न क्रियाओं को सीखता है तथा सामाजिक कार्यों में भाग लेने योग्य बनता है। किसी सामाजिक प्रस्थिति को धारण करके उसके अनुरूप भूमिका निभाना व अलग–अलग परिस्थितियों में व्यवहार करना सीखना ही समाजीकरण है। समाजीकरण की प्रक्रिया के अभाव में व्यक्ति समाज स्वीकृत व्यवहार नहीं कर सकता तथा वह समाज का सामान्य सदस्य भी नहीं बन सकता है।

6. 'आत्म' विकास की प्रक्रिया–समाजीकरण व्यक्ति के आत्म या स्व के विकास की प्रक्रिया है। व्यक्ति समाज में उसके द्वारा धारण की गई प्रस्थितियों की अपेक्षाओं के अनुरूप आचरण करता है। समाज में रहकर ही व्यक्ति के आत्म का विकास होता है। समाज उससे किस प्रकार के कार्य की अपेक्षा रखता है तथा उसके बारे में क्या सोचता है, वह उसी आधार पर व्यवहार करता है। समाजीकरण के द्वारा ही व्यक्ति स्वयं का मूल्यांकन समाज के लोगों के दृष्टिकोण से करना सीखता है।

7. सांस्कृतिक हस्तान्तरण–जैसा कि हम पहले पढ़ चुके हैं कि संस्कृति पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित की जाती है। हस्तान्तरण की यह प्रक्रिया ही समाजीकरण कहलाती है। हम

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

अपनी पुरानी पीढ़ी से सांस्कृतिक विरासत को सीखकर आत्मसात् करते हैं। संस्कृति हस्तान्तरण व ग्रहण की यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है।

समाजीकरण के चरण

हम पहले पढ़ चुके हैं कि समाजीकरण सीखने की एक प्रक्रिया है जो बच्चे के जन्म से ही प्रारम्भ हो जाती है तथा जीवनपर्यन्त चलती रहती है। अत्यधिक लम्बी प्रक्रिया होने के कारण ही विभिन्न मनोवैज्ञानिकों एवं समाजशास्त्रियों ने समाजीकरण को कई चरणों में विभाजित करने का प्रयास किया है।

गिडिन्स ने समाजीकरण के दो स्तर प्राथमिक व द्वितीयक बताये हैं। पारसन्स ने समाजीकरण को चार भागों में विभाजित किया है–

(1) मौखिकावस्था (Oral stage)
(2) शौच अवस्था (Anal stage)
(3) आडिपल स्तर (Oedipal)
(4) किशोरावस्था (Adolescence)

समाजीकरण के अन्य सोपान

(5) युवावस्था (Youth Stage)
(6) प्रौढ़ावस्था (Adult Stage)
(7) वृद्धावस्था (Old Stage)

समाजीकरण के विभिन्न स्तर निम्नलिखित हैं–

1. मौखिकावस्था–मानव शिशु जन्म के बाद विभिन्न तनावों का अनुभव करता है। उसे भूख, सर्दी, गर्मी, गीलेपन आदि से पीड़ा होती है, वह रोता चिल्लाता है। समाजीकरण के प्रथम चरण में बच्चा अपने सुख–दुःख, हाव–भाव आदि मुँह के माध्यम से ही प्रकट करता है इसलिए इसे मौखिकावस्था कहा जाता है। समाजीकरण के प्रथम चरण में बच्चा अपनी माँ के अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं जानता है। वह अपनी माँ व स्वयं की भूमिका में अन्तर नहीं कर पाता है। इस अवस्था में बच्चा अपनी माँ को अपने से अलग नहीं समझता है। यदि माँ उससे दूर होती है तो वह मुँह के हाव–भाव से दुःख प्रकट करता है। किसी कारणवश पिता या परिवार का अन्य सदस्य बच्चे की देखभाल करता है तो वह भी माता की भूमिका ही निभाता है। इस अवस्था में बच्चा और माँ आपस में मिले हुए रहते हैं। इस स्थिति को फ्रायड़ ने 'प्राथमिक परिचय' कहा है। बच्चा अपनी माँ के शारीरिक सम्पर्क से आनन्द का अनुभव करता है। यह सोपान लगभग जन्म से डेढ़ वर्ष तक चलता है।

2. शौच अवस्था–समाजीकरण का द्वितीय स्तर शौच अवस्था है। यह अवस्था विभिन्न समाजों में अलग–अलग आयु में प्रारम्भ होती है। भारतीय समाज में यह अवस्था डेढ़ दो वर्ष से प्रारम्भ होकर तीन–चार वर्ष की आयु तक चलती है। इस अवस्था में बच्चे को शौच प्रशिक्षण दिया जाता है। उससे यह अपेक्षा की जाती है कि वह थोड़ा आत्मनिर्भर होना सीखे जैसे–हाथों की सफाई, बिस्तर गीला न करना, कपड़े गंदे न करना, ब्रश करना, यथा स्थान पर शौच जाना आदि। यह अवस्था शौच संकट से आरम्भ होती है। इसमें माँ बच्चे को शौच के लिए शौचालयों का प्रयोग करना सिखाती है। यदि बच्चा सही व्यवहार करता है तो उसे माँ से प्यार मिलता है तथा गलत व्यवहार करने पर दण्ड। इससे माँ व बच्चे दोनों का एक दूसरे से तादात्म्य हो जाता है। वह माँ से प्यार पाता भी है तथा प्यार देता भी है। बच्चे को शौच प्रशिक्षण देने तथा स्तन पान की आदत को छुड़ाने में माँ को काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। समाजीकरण की यह अवस्था माँ व बच्चे के लिए कष्टदायक होती है। माता बच्चे को शौच प्रशिक्षण देते वक्त तथा दूध छुड़ाते वक्त आनन्द का अनुभव नहीं करती लेकिन अन्तिम परिणामों को ध्यान में रखकर वह यह भावात्मक भूमिका निभाती है। इस अवस्था के अन्त में बच्चा परिवार के अन्य सदस्यों के सम्पर्क में आता है। वह बोलना, चलना, खेलना आदि सीखता है।

3. आडिपल या मातृरति स्तर– यह अवस्था सामान्यतः चौथे वर्ष से प्रारम्भ होकर बारह या तेरह वर्ष की आयु तक रहती है। मनोवैज्ञानिकों ने इस चरण को आडिपल संकट काल कहा है। यही वह काल है जिसमें बच्चे में 'आडिपल कॉम्पलैक्स' (Oedipus Complex) और इलैक्ट्रा कॉम्प्लेक्स' (Electra Comple) की भावना जन्म ले लेती है। मनोवैज्ञानिकों ने यह स्पष्ट किया है कि 'आडिपस कॉम्पलैक्स' लड़के की उस भावना को कहते हैं जिसमें पुत्र अपनी माँ के प्रति स्नेह रखता है और उस पर अपना एकाधिकार चाहता है और कुछ इसी तरह का भाव बेटी अपने पिता के प्रति रखती है जिसे 'इलेक्ट्रा कॉम्प्लेक्स' कहते है।

इस अवस्था में बच्चों से अपेक्षा की जाती है कि वह अपने लिंग के अनुसार व्यवहार करे। अपने लिंग के अनुकूल व्यवहार करने पर उन्हें पुरस्कृत किया जाता है। लड़के व लड़कियों के खिलौनों व उनके पहनावे में भी भिन्नता होती है। जिससे बालक अपने विपरीत लिंग के प्रति जागरूक होता है तथा विपरीत लिंग के प्रतिरुचि बढ़ने लगती है। इस अवस्था में बालक के मन में अनेक प्रश्न उठते हैं। मन के इन अन्तरंग संकटों से बचने तथा अपने स्वतंत्र अस्तित्व की नई माँगों की स्वीकृति के लिए बालक अपने साथियों के समूह में अधिक समय व्यतीत करता है।

4. किशोरावस्था– किशोरावस्था मानव जीवन का वह संक्रांति काल है जिसमें एक किशोर को भारी तनाव व संघर्ष का सामना करना पड़ता है। इस अवस्था में बच्चे अपने माता–पिता के नियन्त्रण से अधिकाधिक मुक्त होना चाहते हैं। इस अवस्था में किशोर अपने जीव जन्य अभिप्रेरण (Bio-genic motivation) के अनुरूप व्यवहार करने व मनोभावों को पूर्ण करने की कोशिश करता है। किशोर का पारिवारिक सदस्यों की अपेक्षा अपने साथियों में अधिक मन लगता है। इस आयु में लड़के व लड़कियों में शारीरिक परिवर्तन स्पष्ट रूप से

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

दिखाई देने लगते हैं। इन शारीरिक व मानसिक परिवर्तनों की वजह से उनमें विभिन्न प्रकार के तनाव देखे जा सकते हैं। इन तनावों का एक कारण यह है कि किशोर इस अवस्था में ही अपने जीवन के अनेक निर्णय लेता है। जिनमें जीवन साथी का चयन, व्यवसाय या किसी नौकरी का चयन आदि सम्मिलित है। इन निर्णयों को लेते वक्त किशोर को अपनी पारिवारिक परम्पराओं और सांस्कृतिक मूल्यों को ध्यान में रखना आवश्यक है। इस अवस्था में उसे अनेक नये–नये लोगों से समायोजन करना होता है। इस दौरान ही उसमें सांस्कृतिक मूल्यों एवं व्यक्तिगत अनुभवों के द्वारा आत्म–नियन्त्रण व पराअहम् (Super ego) अर्थात् नैतिकता की भावना का विकास होता है।

समाजीकरण के अन्य सोपान

ये चार समाजीकरण के मुख्य सोपान है। हम जानते हैं कि समाजीकरण जीवन पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है जो जैविक प्राणी को सामाजिक प्राणी के रूप में परिवर्तित करती है। इन चार सोपानों में ही व्यक्ति का समाजीकरण पूरा नहीं होता बल्कि अन्य तीन सोपान यथा युवावस्था, प्रौढ़ावस्था व वृद्धावस्था में भी सीखने का क्रम चलता रहता है। यद्यपि यह सत्य है कि ये चार सोपान व्यक्तित्व निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं क्योंकि इसमें ही व्यक्ति अपनी संस्कृति व भाषा सीखता है तथा पारिवारिक व व्यावसायिक जीवन के महत्त्वपूर्ण निर्णय लेता है। इसके बाद की अवस्था में समाजीकरण की प्रक्रिया सरल व स्वचालित हो जाती है। मौखिकावस्था से किशोरावस्था तक के चार सोपानों के अलावा समाजीकरण के तीन सोपान निम्न हैं–

युवावस्था– इस अवस्था में व्यक्ति युवक बन जाता है। वह अपनी योग्यता व क्षमता के अनुकूल कोई न कोई रोजगार करने लगता है। व्यवसाय के दौरान वह विभिन्न प्रस्थितियाँ धारण करता है तथा विभिन्न पदों पर कार्यरत अधिकारियों, कर्मचारियों व अधीनस्थ पदों पर कार्यरत लोगों के साथ अलग–अलग भूमिका निभाता है। युवावस्था में ही व्यक्ति का विवाह होता है। जिससे वह वैवाहिक बंधनों में बँधकर अनेक नये पद धारण करता है, जैसे– पति, जीजा, दामाद, पिता, चाचा आदि। इन प्रस्थितियों की भूमिका अपेक्षाओं का निर्वाह उसे करना पड़ता है। एक व्यक्ति के जीवन में युवा काल सर्वाधिक उत्तरदायित्व का समय है। उससे अपने माता–पिता, छोटे भाई–बहिनों, पत्नी, पुत्र–पुत्री आदि सभी के प्रति जिम्मेदारियाँ निर्वाह की अपेक्षा की जाती है। विभिन्न भूमिकाओं को एक साथ निभाने के कारण उसे भूमिका संघर्ष का सामना करना पड़ता है।

प्रौढ़ावस्था–इस अवस्था में व्यक्ति के उत्तरदायित्व और अधिक बढ़ जाते हैं। इसी समय बच्चों की उच्च शिक्षा की व्यवस्था, विवाह तथा उनके कैरियर की चिंता आदि विभिन्न स्थितियों में व्यक्ति समायोजन करता है। वह अपने कार्य क्षेत्र में पदोन्नति प्राप्त करता है जिससे उसे नयी स्थितियों का सामना करना पड़ता है। प्रौढ़ावस्था में व्यक्ति नवीन प्रस्थितियों को धारण करने के साथ–साथ भूमिकाओं का आन्तरीकरण भी आसानी से कर लेता है।

वृद्धावस्था–वृद्धावस्था में भी समाजीकरण की प्रक्रिया चलती रहती है। इस अवस्था में व्यक्ति में अनेक सामाजिक, शारीरिक व मनोवैज्ञानिक परिवर्तन आ जाते हैं। व्यक्ति शारीरिक रूप से दुर्बल हो जाता है, काम करने का सामर्थ्य नहीं रहता है, सेवानिवृत्ति के कारण आर्थिक निर्भरता बढ़ जाती है तथा नई पीढ़ी से वैचारिक मतभेद होने के कारण वह कुंठाग्रस्त हो जाता है। यद्यपि वह इस अवस्था से पहले ही विभिन्न जिम्मेदारियों को पूरा कर चुका होता है तथापि अब वह दादा, परदादा, नाना, श्वसुर आदि के रूप में नये पद ग्रहण कर उनके अनुरूप भूमिका निभाता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि समाजीकरण की प्रक्रिया आजीवन चलती रहती है जिसमें मनुष्य जन्म से अन्तिम क्षणों तक कुछ न कुछ सीखता रहता है।

समाजीकरण की प्रमुख संस्थाएँ (अभिकरण)

मानव अपने सम्पूर्ण जीवन काल में अनेक संस्थाओं एवं समूहों का सदस्य बनता है और उनसे वह अनेक बातें सीखता है। इससे मानव के समाजीकरण की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। व्यक्ति अपने समाजीकरण के दौरान विभिन्न संस्थाओं से अनुकूलन करता है। व्यक्ति के समाजीकरण में प्रमुख भूमिका निभाने वाली संस्थाओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है।

(1) प्राथमिक संस्थाएँ (Primary Institutions)

(2) द्वितीयक संस्थाएँ (Secondry Institutions)

इसे निम्न प्रकार से समझा जा सकता है–

समाजीकरण की प्रमुख संस्थाएँ (अभिकरण)

प्राथमिक संस्थाएँ	**द्वितीयक संस्थाएँ**
परिवार	शिक्षण संस्थाएँ
क्रीड़ा समूह	राजनैतिक संस्थाएँ
पड़ौस	आर्थिक संस्थाएँ
नातेदारी समूह	सांस्कृतिक संस्थाएँ
विवाह	धार्मिक संस्थाएँ
	व्यावसायिक समूह

(1) परिवार– समाजीकरण करने वाली संस्थाओं में परिवार की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। परिवार ही बच्चे की प्रथम पाठशाला है जहाँ वह अपने माता–पिता, भाई–बहन, चाचा, बुआ, आदि के सम्पर्क में रहकर समाज के रीति–रिवाजों, लोकाचारों, प्रथाओं एवं संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करता है। परिवार के सदस्यों के साथ रहकर ही उसे विभिन्न भूमिकाओं का ज्ञान होता है तथा वह उनके अनुरूप व्यवहार करना सीखता है।

(2) क्रीड़ा समूह–प्राथमिक संस्थाओं में क्रीड़ा समूह या मित्रों का समूह भी समाजीकरण की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

परिवार के बाद सबसे अधिक समय बच्चे अपने साथियों के साथ ही व्यतीत करते हैं। हम उम्र समूह के सदस्यों से बच्चे अनेक व्यवहार करना सीखते हैं। वे खेल के नियम, अनुशासन, प्रतिस्पर्धा, अनुकूलन, संघर्ष आदि अपने मित्र समूह से ही सीखते हैं।

(3) **पड़ौस**—बचपन से ही व्यक्ति अपने पड़ौसियों के सम्पर्क में रहता है। पड़ौसी समाजीकरण में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। उनकी प्रशंसा व निन्दा व्यक्ति को समाज सम्मत व्यवहार करने की प्रेरणा देती है। शहरों की तुलना में गाँवों में पड़ौस का अधिक प्रभाव होता है।

(4) **नातेदारी समूह**—नातेदारी में रक्त व विवाह से सम्बन्धित रिश्तेदार सम्मिलित हैं। भाई–बहिन, पति–पत्नी, सास–ससुर, साले–साली, देवर–भाभी तथा अन्य रिश्तेदारों के सम्पर्क में व्यक्ति अनेक बातें सीखता है। उनके अनुरूप भूमिकाएँ निभाता है तथा आचरण के विभिन्न नियमों का ज्ञान प्राप्त करता है।

(5) **विवाह**—विवाह के पश्चात् व्यक्ति के जीवन में महत्वपूर्ण परिवर्तन आते हैं। विवाह के उपरान्त ही व्यक्ति को नये दायित्वों का निर्वाह करना होता है। पति–पत्नी को एक दूसरे के लिए त्याग व निष्ठा की भावना रखनी होती है। पति–पत्नी ही आगे चलकर माता–पिता व दादा–दादी बनते हैं तथा उनके पद के अनुरूप भूमिका निभाना सीखते हैं।

द्वितीयक संस्थाएँ—

(1) **शिक्षण संस्थाएँ—** शिक्षण संस्थाओं में बच्चा अपने अध्यापकों, पाठ्य–पुस्तकों एवं कक्षा के साथियों से अनेक बातें सीखता है। इन शिक्षण संस्थाओं के अन्तर्गत स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय आदि प्रमुख है। इन विभिन्न शिक्षण संस्थाओं में पढ़कर व्यक्ति धीरे–धीरे समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बनता है तथा अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है।

(2) **राजनैतिक संस्थाएँ—** राजनैतिक संस्थाएँ व्यक्ति को अपने अधिकार एवं कर्त्तव्यों के प्रति सजग बनाती है। इन संस्थाओं के माध्यम से ही व्यक्ति कानून, शासन, अनुशासन व विभिन्न योजनाओं के बारे में ज्ञान प्राप्त कर समाज का जागरूक नागरिक बनता है।

(3) **आर्थिक संस्थाएँ—** आर्थिक संस्थाएँ मनुष्य के जीवन यापन एवं व्यवसायिक गतिविधियों का दिशा निर्देशन करती है। ये संस्थाएँ ही व्यक्ति को सहयोग, प्रतिस्पर्द्धा एवं समायोजन के भाव सिखाती है। बेईमानी व ईमानदारी के लक्षण भी आर्थिक संस्थाओं के द्वारा ही सीखे जाते हैं।

(4) **सांस्कृतिक संस्थाएँ—** ये संस्थाएँ ही व्यक्ति को अपनी संस्कृति से परिचित करवाती हैं। इनके द्वारा ही व्यक्ति अपनी प्रथाओं, साहित्य, वेश–भूषा, परम्पराओं, संगीत, कला, भाषा आदि का ज्ञान प्राप्त करता है तथा अपने व्यक्तित्व का विकास करता है।

(5) **धार्मिक संस्थाएँ—** व्यक्ति के जीवन पर धर्म का गहरा प्रभाव पड़ता है। कोई भी समाज बिना धर्म के नहीं रह सकता है। धर्म के कारण ही व्यक्ति में शान्ति, पवित्रता, नैतिकता, दया, आदर्श, ईमानदारी, न्याय आदि भावनाओं का विकास होता है। पाप–पुण्य तथा स्वर्ग–नरक की धारणा लोगों को सामाजिक प्रतिमानों के अनुरूप आचरण करने पर बल देती है।

(6) **व्यवसाय समूह—** व्यक्ति जिस पद अथवा व्यवसाय में कार्यरत होता है। उसी के अनुरूप आचरण करता है। वह व्यवसाय के दौरान अनेक छोटे बड़े अधिकारियों, एजेण्टों व मैनेजर आदि के सम्पर्क में आता है। इसी दौरान वह व्यावसायिक ज्ञान ग्रहण करता है तथा नवीन कार्यों की जानकारी प्राप्त करता है।

समाजीकरण के सिद्धान्त

मनोवैज्ञानिकों एवं समाजशास्त्रियों ने समाजीकरण के सिद्धान्त को 'आत्म' या स्व के विकास के आधार पर समझाने का प्रयत्न किया है। 'आत्म' कोई शारीरिक तथ्य न होकर एक मानसिक तथ्य है 'आत्म' के विकास एवं समाजीकरण से सम्बंधित कुछ सिद्धान्त निम्न है—

सी.एच. कूले का सिद्धान्त

अमरीकन समाजशास्त्री सी.एच. कूले ने अपनी पुस्तक "Human Nature and the Social Order ह्यूमन नेचर एण्ड सोशल ऑर्डर' में अपने समाजीकरण सम्बन्धी सिद्धान्त की विस्तार से चर्चा की है। उन्होंने अपने सिद्धान्त में स्पष्ट किया है कि कैसे कोई जैविक प्राणी सामाजिक प्राणी बनता है। व्यक्ति व समाज के सम्बन्धों के आधार पर कूले ने यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। उनके मत में समाज में रहकर ही व्यक्ति के 'आत्म' (Self) का विकास होता है। समाज उसके लिए एक दर्पण का कार्य करता है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति किसी दर्पण में अपना स्वरूप देखने का प्रयास करता है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वरूप समाजरूपी दर्पण में देखता है। समाज के लोग उसके बारे में क्या कहते हैं, उसी आधार पर वह अपने बारे में धारणा बनाता है। जिस प्रकार से हम दर्पण में अपनी छवि देखकर मूल्यांकन करते हैं कि हम ठीक लग रहे हैं या नहीं, ठीक उसी प्रकार एक बच्चा भी समाज रूपी दर्पण में स्वयं की छवि देखता है और उसी आधार पर अपने बारे में राय बना लेता है कि समाज के लोग उसके बारे में क्या सोचते हैं। इसी राय के आधार पर उसमें श्रेष्ठता व हीनता के भाव पैदा होते हैं। उदाहरण के लिए हर व्यक्ति में यह जानने की तीव्र इच्छा होती है कि परिवार के लोग, मित्र तथा समाज में उसे किस रूप में देखा जाता है और उसके बारे में क्या सोचा जाता है। यदि लोग ये सोचते हैं कि वह बुद्धिमान, अनुशासित, आकर्षक या व्यवहार कुशल हैं तो व्यक्ति अपने बारे में श्रेष्ठता का भाव रखता है। लेकिन इसके विपरीत अगर कोई उसे मूर्ख, अनुशासनहीन, क्रोधी एवं लड़ाकू मानता है, तो व्यक्ति के मन में अपने बारे में हीनता की भावना का विकास होता है। इस

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

प्रकार अपने बारे में दूसरों की प्रतिक्रिया से ही व्यक्ति के 'स्व' का निर्माण होता है। इसलिए ही कूले इसे 'आत्म दर्पण दर्शन' या 'दर्पण में आत्म दर्शन' का सिद्धान्त कहते हैं।

कूले ने अपने सिद्धान्त को दर्पण में आत्म दर्शन (Looking Glass Self) के आधार पर समझाया है। कूले के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति इस प्रक्रिया में तीन चरणों से गुजरता है–

अ– व्यक्ति यह सोचता है कि समाज के लोग उसके बारे में क्या सोचते हैं।

ब– दूसरों की राय के आधार पर वह अपने बारे में क्या सोचता है।

स– व्यक्ति अपने बारे में सोचकर अपने को कैसा मानता है अर्थात् ग्लानि अनुभव करता है या गर्व।

इन तीनों बातों को हॉर्टन व हण्ट ने एक उदाहरण द्वारा समझाया है। मान लीजिए आप एक कमरे में प्रवेश करते हैं, जहाँ कुछ व्यक्ति एक समूह में परस्पर बातें कर रहे हैं। आपके आते ही वे बहाना बनाकर वहाँ से चले जाते हैं और ऐसा कई बार होता है तो आपको अपने बारे में हीनता की भावना महसूस होगी। इसके विपरीत, आपके कमरे में प्रवेश करने पर सभी व्यक्ति आपको घेर लेते हैं और आपसे चर्चा करना चाहते हैं तो आपको गर्व महसूस होता है। इस प्रकार समाज के व्यक्ति हमारे प्रति जिस प्रकार की प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। हम अपने बारे में वैसी धारणा बनाते हैं। इसे ही कूले 'आत्म दर्पण दर्शन' कहते हैं।

इस प्रकार व्यक्ति का समाज के दूसरे लोगों से सम्पर्क होने से ही ''स्व'' का निर्माण होता है। ''स्व'' के निर्माण के आधार पर ही व्यक्ति स्वयं का मूल्यांकन करता है। इस प्रक्रिया में ही व्यक्ति अपने को श्रेष्ठ व हीन समझता है और अपना समाजीकरण करता है।

मीड का सिद्धान्त

मीड ने समाजीकरण सम्बन्धी अपना सिद्धान्त ''माइन्ड सेल्फ एण्ड सोसाइटी'' नामक पुस्तक में व्यक्त किया है। मीड यह मानते हैं कि व्यक्ति ही समाज का निर्माता है, जिसमें दिमाग और 'स्व' होता है। जन्म के समय बच्चा मात्र जैविकीय प्राणी होता है, जिसमें बुद्धि का अभाव होता है। उस समय वह आन्तरिक प्रेरणाओं से प्रेरित होकर ही क्रियाएँ करता है। समाज के सम्पर्क में रहकर ही व्यक्ति दूसरों की अपेक्षा के अनुरूप व्यवहार करना सीखता है। इस प्रकार बच्चे का ''स्व'' दूसरों के व्यवहार से प्रभावित होने लगता है। इसे ही वह 'सामान्यीकृत' अन्य (Generalised Others) कहते हैं।

'सामान्यीकृत अन्य का अर्थ है किसी व्यक्ति की स्वयं के बारे में वह धारणा जो दूसरे लोग उसके बारे में रखते हैं।

अन्य शब्दों में दूसरे लोग उसके बारे में जो निर्णय लेते हैं और उससे जो अपेक्षाएँ रखते हैं, व्यक्ति उसका आंतरीकरण करता है, उसे ही ''सामान्यीकृत अन्य'' कहते हैं। मीड ने ''मैं'' (I) और ''मुझे'' (ME) दो शब्दों का प्रयोग व्यक्ति में आत्म चेतन के विकास को स्पष्ट करने के लिए किया है। ''मैं'' का अर्थ व्यक्ति द्वारा दूसरों के प्रति किए जाने वाले व्यवहार से है। ''मुझे'' से तात्पर्य व्यक्ति द्वारा किए गए व्यवहार पर दूसरों की प्रतिक्रिया से है, जिसे व्यक्ति आन्तरीकृत करता है। ''मैं'' और ''मुझे'' में अन्तः क्रिया के कारण ही 'स्व' का विकास होता है, जिससे व्यक्ति का समाजीकरण होता है।

समाज से सम्पर्क के कारण बालक जो कुछ सीखता है, उसे वह दुबारा अपनाने का प्रयत्न करता है। उदाहरण स्वरूप बच्चा खेल के दौरान अपने माता–पिता, चोर–पुलिस आदि बनकर भूमिकाओं को निभाता है और वैसा ही व्यवहार करता है, जैसा कि उनके साथ वास्तविक जीवन में होता है। बच्चा दूसरे के व्यवहारों को अनुकरण, संकेत एवं भाषा के माध्यम से ग्रहण करता है। धीरे–धीरे उसमें विभिन्न प्रकार की भूमिकाएँ निभाने की क्षमता पैदा हो जाती है, इसे ही मीड ने ''आत्म का विकास'' कहा है।

कुछ विद्वानों ने सामान्यीकृत अन्य के स्थान पर 'महत्वपूर्ण अन्य' की अवधारणा का प्रयोग किया है। 'महत्वपूर्ण अन्य' वह व्यक्ति होता है जिसकी स्वीकृति हम अपने व्यवहार में चाहते हैं और जिसका निर्देशन हम स्वीकार करते हैं। ये माता–पिता, अध्यापक, प्रशंसनीय व्यक्ति या मित्र हो सकता है। व्यक्ति 'महत्वपूर्ण अन्य' के मार्गदर्शन में अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है

जब व्यक्ति 'महत्वपूर्ण अन्य' से सम्मान प्राप्त करता है तो वह अपने आपको सम्मानित समझने लगता है। 'महत्वपूर्ण अन्य' से प्राप्त सम्मान के आधार पर व्यक्ति के 'आत्म सम्मान' का विकास होता है, इससे ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण सही दिशा में होता है।

फ्रायड का सिद्धान्त

मनोवैज्ञानिक सिगमण्ड फ्रॉयड ने अपने सिद्धान्त को मानसिक क्रियाओं के आधार पर समझाया है। मानसिक क्रियाओं के आधार पर फ्रॉयड ने मस्तिष्क का तीन भागों में विभाजन किया है (1) चेतन मन (2) अवचेतन मन (3) अचेतन मन। चेतन मन में व्यक्ति के जीवन की वे घटनाएँ व क्रियाएँ सम्मिलित है जिसमें व्यक्ति जागरूक अवस्था में क्रियाएँ सम्पन्न करता है। अवचेतन मन मनुष्य के अतीत के अनुभवों व घटनाओं का भंडार है। अचेतन मन के सम्बन्ध में फ्रायड का मत है कि जिस प्रकार हिमखण्ड का अधिकांश भाग पानी में रहता है, उसी प्रकार मानव के व्यक्तित्व का एक बड़ा भाग अचेतन व अनदेखी शक्तियों द्वारा संचालित होता है। फ्रायड के अनुसार मस्तिष्क में एकत्र अनुभव व घटनाएँ व्यक्तित्व निर्माण में योगदान देते हैं।

फ्रायड ने समाजीकरण के अपने सिद्धान्त में 'स्व' को तीन भागों 'इड' (ID) 'अहम्' (Ego) और 'परा अहम्' (Super Ego) में विभाजित किया है। 'इड' व्यक्ति की समस्त मानसिक

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

क्रियाओं का आधार है और इसका सम्बन्ध मूल प्रवृतियों, प्रेरणाओं, असमाजीकृत इच्छाओं एवं स्वार्थों के योग से है। 'इड' के सामने अच्छे–बुरे, नैतिक–अनैतिक का कोई प्रश्न नहीं होता है। यह किसी न किसी प्रकार से सन्तुष्टि चाहता है।

'अहम्' वास्तविकता के सिद्धान्त पर काम करता है। यह 'स्व' का चेतन व तार्किक पक्ष है जो इड पर नियंत्रण रखता है तथा उसे परिस्थितियों के अनुसार व्यवहार करने का निर्देश देता है। यद्यपि 'अहम्' भी नैतिक–अनैतिक, प्रेम व घृणा को अधिक महत्व तो नहीं देता फिर भी 'अहम्' 'इड' से अधिक व्यावहारिक है। 'अहम्' आवश्यकता पूर्ति के लिए 'इड' से परिस्थिति अनुकूल व्यवहार करने का निर्देश देता है।

'पराअहम्' का सम्बन्ध समाज के नैतिक मूल्यों और मान्यताओं से होता है। 'पराअहम्' व्यक्ति को यह बताता है कि व्यक्ति की इच्छा पूर्ति हेतु समाज ने क्या नियम बना रखे हैं?

इसे एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। जैसे 'इड' 'ईगो' तथा 'सुपर ईगो' तीन भाई हैं। 'इड' सबसे छोटा है, ईगो मंझला तथा 'सुपर ईगो' बड़ा भाई है। छोटा भाई (इड) एक बाग में पेड़ पर लगे हुए आम देखकर खाने की इच्छा प्रकट करता है। वह किसी भी तरह आम प्राप्त करना चाहता है। मंझला भाई (ईगो) उसे समझाता है कि अभी रूको माली के इधर–उधर जाने पर आम तोड़ लेना। किन्तु बड़ा भाई (सुपर ईगो) कहता है चोरी करना पाप है। यदि आम खाना है तो पैसे देकर प्राप्त करना चाहिए, अन्यथा नहीं।

इस प्रकार 'इड' तथा 'सुपर ईगो' में अन्तर्द्वन्द्व शुरू होता है। फ्रायड के अनुसार इसी प्रक्रिया में व्यक्ति जितना पराअहम् के अनुसार आचरण करता है, उतना ही उसका समाजीकरण सफल माना जाता है।

समाजीकरण के इन सिद्धान्तों से स्पष्ट होता है कि समाज में रहकर ही व्यक्ति के आत्म या स्व का विकास होता है। आत्म के विकास के साथ–साथ ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है।

समाज से अलग रहकर व्यक्ति समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य नहीं बन सकता है और न ही समाज की विभिन्न गतिविधियों में भाग ले सकता है।

व्यक्तित्व निर्माण के लिए समाजीकरण आवश्यक है। इसे समझने के लिए हम समाज से विलग रहे बच्चों के उदाहरण ले सकते हैं। रामू, कमला, अमला व कास्पर हासर नामक बच्चे विभिन्न परिस्थितियों के कारण समाज से अलग रहे। 1920 में कमला और अमला नामक दो बहिनें भेड़िये की गुफा में पाई गयी। वे भेड़िये की तरह व्यवहार करती थीं। वे खाने–पीने और उठने–बैठने की क्रिया भी भेड़ियों की तरह करती थीं। वे बोलने के स्थान पर गुर्राती थीं। रामू नामक बालक की भी यही स्थिति थी। कास्पर हासर को भी राजनीतिक कारणों से समाज से अलग रखा गया। उसका मस्तिष्क अविकसित था तथा भाषा उसकी समझ से परे थी। वह सीधा खड़ा होकर चल भी नहीं सकता था। इसी प्रकार 1956 में परशुराम नामक बच्चा भेड़ियों के समूह में पाया गया। ये सभी बच्चे समाज से पृथक रहे जिसके कारण इनका उचित समाजीकरण नहीं हो पाया और ये अपने व्यक्तित्व विकास से वंचित रहे।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि समाज में रहकर ही मनुष्य संस्कृति को सीखकर अपने व्यक्तित्व का विकास करता है।

टालकट पारसन्स ने कहा है कि एक बच्चा उस पत्थर के समान है जो मानो जन्म के द्वारा सामाजिक तालाब में फैंक दिया जाता है। समाज रूपी तालाब में ही रहकर उसका समाजीकरण होता है। जन्म के समय बालक मात्र मानव शरीर होता है, जिसमे सीखने की क्षमता होती है।

जन्म के समय मनुष्य न तो सामाजिक प्राणी होता है न असामाजिक और न ही समाज विरोधी ही होता है। उसमें सीखने की क्षमता अवश्य होती है, जिससे व धीरे–धीरे सीखता जाता है तथा अपने व्यक्तित्व का विकास करता है।

जॉनसन ने भी कहा है कि बालक का मस्तिष्क कोमल होता है उसे जैसे चाहे वैसे मोड़ा जा सकता है।

बालक का मस्तिष्क ग्रहणशील होता है, उसे जो भी सिखाया जाए वह उसे आसानी से सीख जाता है। सीखने की ये क्षमता ही व्यक्ति को अन्य प्राणियों से अलग करती है परन्तु यह प्रक्रिया समाज से पृथक रहकर पूर्ण नहीं हो सकती है।

अन्त में, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि समाजीकरण मानव के लिए एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके बिना मानव जीवन अपूर्ण है। अतः मानव व्यक्तित्व के निर्माण में समाजीकरण एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है।

महत्वपूर्ण बिन्दु

- मनुष्य इसलिए मनुष्य है क्योंकि उसके पास उसकी संस्कृति है।
- टायलर ने संस्कृति को सामाजिक विरासत माना है। जिसे मनुष्य समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है।
- भाषा, लेखन व प्रतीक ही वह माध्यम है जिसके द्वारा मानव ज्ञान का अर्जन व अर्जित ज्ञान का हस्तान्तरण कर पाता है।
- संस्कृति में सम्मिलित परम्पराएँ, जनरीतियाँ, रूढ़ियाँ, प्रथाएँ, धर्म, दर्शन, कला, भाषा, विज्ञान आदि व्यक्तिगत जीवन विधि की अपेक्षा सम्पूर्ण समाज की विधि (Way of Life) को प्रदर्शित करती है।
- संस्कृति का कोई तत्त्व बेकार नहीं होता है बल्कि वह मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।
- व्यक्ति के व्यक्तित्त्व को निश्चित दिशा व स्वरूप प्रदान करने में संस्कृति का बहुत बड़ा योगदान है।
- संस्कृति की वह सबसे छोटी इकाई जिसका और अधिक विभाजन नहीं किया जा सकता, सांस्कृतिक तत्व कहलाती है।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

- संस्कृति के दो पक्ष होते हैं– भौतिक व अभौतिक। भौतिक पक्ष में साइकिल, पंखा, टेबल, कुर्सी, घड़ी आदि सम्मिलित है। जबकी अभौतिक पक्ष में संकेत, विचार, प्रथा, जनरीति आदि सम्मिलित है।
- सांस्कृतिक तत्वों का वह समूह जिसमें अनेक सांस्कृतिक तत्व आपस में अर्थपूर्ण ढंग से घुल–मिलकर मानव की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं तो उसे संस्कृति संकुल कहा जाता है।
- सांस्कृतिक तत्वों में गतिशीलता एवं परिवर्तनशीलता का गुण पाया जाता है।
- समाजीकरण सीखने की एक प्रक्रिया है, जिसमें व्यक्ति सामाजिक मूल्यों, मानदण्डों एवं समाज– सम्मत व्यवहार को सीखता है। इसी के तहत मनुष्य अपने समाज व समूह की सामाजिक व सांस्कृतिक विशेषताओं से अनुकूलन करता है।
- व्यक्ति अपने जीवन काल में विभिन्न प्रस्थितियाँ धारण करता है तथा उन प्रस्थितियों के अनुरूप भूमिकाओं का निष्पादन करना सीखता है।
- समाजीकरण जीवन पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति समाज द्वारा मान्य व्यवहारों को सीखता है।
- पारसन्स ने समाजीकरण को चार भागों में विभाजित किया है–
  (1) मौखिकावस्था (Oral stage)
  (2) शौच अवस्था (Anal stage)
  (3) आडिपल स्तर (Oedipal)
  (4) किशोरावस्था (Adolescence)
- समाजीकरण के अन्य सोपान–युवावस्था, प्रौढ़ावस्था, वृद्धावस्था
- समाजीकरण के प्रथम चरण में बच्चा अपने सुख–दुःख, हाव भाव आदि मुँह के माध्यम से ही प्रकट करता है इसलिए इसे मौखिकावस्था कहा जाता है।
- किशोरावस्था मानव जीवन का वह संक्रांति काल है जिसमें एक किशोर को भारी तनाव व संघर्ष का सामना करना पड़ता है।
- परिवार ही बच्चे की प्रथम पाठशाला है।
- धर्म के कारण ही व्यक्ति में शान्ति, पवित्रता, नैतिकता, दया, आदर्श, ईमानदारी, न्याय आदि भावनाओं का विकास होता है।
- फ्रॉयड ने मस्तिष्क का तीन भागों में विभाजन किया है– (1) चेतन मन (2) अवचेतन मन (3) अचेतन मन।
- फ्रायड ने समाजीकरण के अपने सिद्धान्त में 'स्व' को तीन भागों 'इड' (ID) 'अहम्' (Ego) और 'परा अहम्' (Super Ego) में विभाजित किया है।
- समाज में रहकर ही मनुष्य संस्कृति को सीखकर अपने व्यक्तित्व का विकास करता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. निम्न में से संस्कृति की कौनसी विशेषता नहीं है?
   (अ) संस्कृति सीखी जाती है।
   (ब) संस्कृति मानव निर्मित है।
   (स) संस्कृति खरीदी जाती है।
   (द) संस्कृति सामाजिक होती है।
2. संस्कृति की सबसे छोटी ईकाई कहलाती है।
   (अ) संस्कृति तत्व (ब) संस्कृति संकुल
   (स) संस्कृति प्रतिमान (द) संस्कृति क्षेत्र
3. "समाजीकरण सीखने की वह प्रक्रिया है जो सीखने वाले को सामाजिक भूमिकाओं का निर्वाह करने योग्य बनाती है" यह परिभाषा किसने दी है?
   (अ) ग्रीन (ब) गिलिन व गिलिन
   (स) जॉनसन (द) मर्टन
4. समाजीकरण का तात्पर्य निम्न में से कौनसा है?
   (अ) समाज का एकीकरण करने की प्रक्रिया।
   (ब) संस्कृति को सीखने की प्रक्रिया।
   (स) घूमने–फिरने की प्रक्रिया।
   (द) लोगों से वार्तालाप करने की प्रक्रिया।
5. 'माइण्ड, सेल्फ एण्ड सोसायटी' पुस्तक के लेखक कौन है?
   (अ) फ्रायड (ब) कूले
   (स) वेबर (द) मीड
6. फ्रायड ने समाजीकरण का कौन सा सिद्धान्त दिया है?
   (अ) समाज में रहने का (ब) मैं और मुझे का
   (स) आत्म दर्पण दर्शन का
   (द) इड, अहम् और पराअहम् का

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न–

1. संस्कृति की कोई दो विशेषताएँ लिखिए।
2. समाजीकरण की कोई एक परिभाषा दीजिए।
3. फ्रायड ने 'प्राथमिक परिचय' की स्थिति किसे कहा है?
4. "ह्यूमन नेचर एण्ड सोशल आर्डर" नामक पुस्तक किसने लिखी है?
5. समाजीकरण की प्रथम पाठशाला क्या है?
6. फ्रायड के अनुसार उचित–अनुचित का ज्ञान किसके द्वारा होता है?
7. समाजीकरण की किन्ही दो द्वितीयक संस्थाओं के नाम लिखिए।
8. मानव किसके ज्ञान के कारण पशुओं से भिन्न है?
9. हर्षकोविट्स के अनुसार संस्कृति तत्वों के अर्थपूर्ण योग से क्या निर्मित होता है?

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

लघूत्तरात्मक प्रश्न–

1. टायलर के अनुसार संस्कृति की परिभाषा लिखिए।
2. संस्कृति पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित की जाती है, समझाइए।
3. ''संस्कृति का कोई तत्व बेकार नहीं होता'' समझाइए।
4. समाजीकरण की प्रक्रिया समय व स्थान सापेक्ष कैसे है?
5. आडिपस कॉम्पलेक्स और इलैक्ट्रा कॉम्पलैक्स क्या है?
6. समाजीकरण की किन्हीं दो प्राथमिक संस्थाओं को समझाइए।
7. समाजीकरण की प्रक्रिया आजीवन चलती है। स्पष्ट कीजिए
8. ''दर्पण में आत्म दर्शन'' का सिद्धान्त क्या है?

निबन्धात्मक प्रश्न–

1. संस्कृति को परिभाषित कीजिए। इसकी प्रमुख विशेषताएँ लिखिए।
2. संस्कृति के उपादानों का उल्लेख कीजिए।
3. 'संस्कृति' अधि–वैयक्तिक एवं अधि–सावयवी है। समझाइए।
4. समाजीकरण को परिभाषित करते हुए इसकी विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
5. समाजीकरण के विभिन्न चरणों का वर्णन कीजिए
6. समाजीकरण के फ्रायड के सिद्धान्त को समझाइए।
7. 'सामान्यीकृत अन्य' का सिद्धान्त किसने दिया है? इसका विस्तार से वर्णन कीजिए।
8. समाजीकरण की प्रमुख संस्थाओं का उल्लेख कीजिए।

उत्तरमाला– 1. (स) 2. (अ) 3. (स) 4. (ब) 5. (द) 6. (द)

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

6. संरचना, स्तरीकरण और प्रक्रियाएँ

सामाजिक संरचना

विश्व में प्रत्येक भौतिक वस्तु की एक संरचना होती हैं जो कई इकाइयों या तत्वों से मिलकर बनी होती हैं। ये इकाइयाँ परस्पर व्यवस्थित रूप से संबंधित होती हैं तथा इन इकाइयों में स्थिरता पाई जाती हैं। मानव शरीर की संरचना हाथ, पाँव, नाक, आँख, मुँह इत्यादि कई अंगों अथवा इकाइयों से मिलकर हुई होती हैं। उसी प्रकार से समाज की भी संरचना होती हैं। इस संरचना का संबंध बाह्य आकृति व स्वरूप से होता हैं। संरचना एक जटिल समग्र होती है जिसमें अनेक इकाइयां एक दूसरे से अर्थपूर्ण रूप से संबंधित होती हैं। ये इकाइयां एक दूसरे पर परस्पर निर्भर होती हैं। इनमें संबंध स्थायी और व्यवस्थित होते हैं। जब सभी इकाइयां विशेष क्रम में परस्पर व्यवस्थित होती हैं तो वे एक जटिल समग्र बनाती हैं, उसे ही संरचना कहते हैं। अगर कहीं ईंट, चूना पत्थर, सीमेंट, लोहा व लकड़ी आदि इकट्ठा कर दिया जाये तो वह मकान नहीं कहलायेगा। यदि इसी सम्पूर्ण सामग्री को क्रमबद्ध व परस्पर व्यवस्थित कर दिया जाये तो मकान की संरचना निर्मित हो जायेगी। अतः स्पष्ट हैं कि जिस प्रकार शरीर, मकान अथवा किसी भौतिक वस्तु की संरचना होती हैं, उसी प्रकार से समाज की भी एक संरचना होती हैं जिसे हम सामाजिक संरचना कहते हैं। सामाजिक संरचना विभिन्न इकाइयों जैसे परिवार, संस्थाएँ, प्रतिमान, मूल्य, विश्वास एवं पदों आदि से मिलकर बनी होती हैं। 19 वीं शताब्दी में सर्वप्रथम हर्बर्ट स्पेन्सर ने समाजशास्त्र संरचना का प्रयोग किया था। समाजशास्त्र में यह शब्द प्राणीशास्त्र से ग्रहण किया गया।

सामाजिक संरचना का अर्थ एवं परिभाषा

समाजशास्त्रियों ने सामाजिक संरचना को अलग–अलग दृष्टिकोण से परिभाषित किया हैं उनमें से प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं–

रैडक्लिफ ब्राउन के अनुसार, ''सामाजिक, संरचना के अंग या भाग मनुष्य ही हैं और स्वयं संरचना द्वारा परिभाषित और नियमित संबंधों में लगे हुए व्यक्तियों की एक क्रमबद्धता हैं।'' ब्राउन के अनुसार हम व्यक्तियों का अध्ययन संरचना के संदर्भ में ही कर सकते हैं। व्यक्ति परस्पर सामाजिक संबंधों द्वारा बंधें हुए होते हैं। इन संबंधों द्वारा ही संरचना का निर्माण होता हैं।

पारसन्स के अनुसार, ''सामाजिक संरचना परस्पर संबंधित संस्थाओं, एजेन्सियों और सामाजिक प्रतिमानों तथा साथ ही साथ समूह के प्रत्येक सदस्य द्वारा ग्रहण किये गये पदों तथा कार्यों की विशिष्ट क्रमबद्धता को कहते हैं।'' पारसन्स द्वारा दी गई परिभाषा में मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं– (1) सामाजिक संरचना का निर्माण अनेक इकाइयों जैसे व्यक्तियों के पद, भूमिकाओं, संस्थाओं, प्रतिमानों आदि द्वारा होता हैं। (2) इन इकाइयों में परस्पर अर्थ पूर्ण संबंध होते हैं। (3) सामाजिक संरचना की इकाइयों में क्रमबद्धता पायी जाती हैं तथा ये व्यवस्थित होती हैं। (4) सामाजिक संरचना अमूर्त धारणा हैं, क्योंकि इसका निर्माण अमूर्त पक्षों जैसे सामाजिक संबंधों, संस्थाओं, प्रतिमानों, पदों व भूमिकाओं द्वारा होता हैं।

कोजर एवं रोजनबर्ग के शब्दों में, ''संरचना का तात्पर्य सामाजिक इकाइयों के तुलनात्मक स्थिर एवं प्रतिमानित संबंधों से हैं।'' इस परिभाषा में यह स्पष्ट किया गया हैं कि सामाजिक संरचना का निर्माण सामाजिक इकाइयों जैसे समूह, संस्थाओं, पद, भूमिकाओं आदि से होता हैं। ये इकाइयां व्यवस्थित और तुलनात्मक रूप से स्थायी होती हैं।

सामाजिक संरचना की विशेषताएँ

सामजिक संरचना प्रायः प्रत्येक समाज की अलग–अलग होती हैं। इसका कारण यह हैं कि प्रत्येक समाज का निर्माण कराने वाली इकाइयां अथवा उसके संरचनात्मक अंग अलग–अलग प्रकृति एवं स्वरूप लिये हुए होते हैं। सामाजिक संरचना की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं–

1. अमूर्तता– मैकाइवर एवं पेज और पारसन्स ने सामाजिक संरचना को अमूर्त माना हैं। उनका मत हैं कि सामाजिक संरचना का निर्माण जिन संस्थाओं, एजेन्सियों, प्रतिमानों, प्रस्थितियों एवं भूमिकाओं से मिलकर होता हैं, वे सभी अमूर्त इकाइयाँ हैं। अतः सामाजिक संरचना भी अमूर्त होती हैं।

2. बाह्य स्वरूप का ज्ञान कराना– सामाजिक संरचना का निर्माण विभिन्न इकाइयों एवं समितियों की क्रमबद्ध व्यवस्था से होता हैं। समाज का निर्माण करने वाली विभिन्न इकाइयाँ भी क्रमबद्ध रूप से जुड़ने पर बाह्य ढांचे का निर्माण करती हैं जिसे सामाजिक संरचना कहते हैं।

3. सामाजिक संरचना अखण्ड व्यवस्था नहीं हैं– सामाजिक संरचना अखण्ड व्यवस्था नहीं हैं। इसका निर्माण कई इकाइयों से होता हैं। ये इकाइयाँ व्यक्ति, समूह, संस्था, समितियाँ आदि हो सकती हैं। प्रत्येक संरचना के कई खंड होते हैं, जिनसे इसका निर्माण होता हैं।

4. सामाजिक संरचना की इकाइयों में क्रमबद्धता पाई जाती हैं– क्रमबद्वता के अभाव में संरचना का निर्माण संभव है अर्थात समाजिक सरंचना का निर्माण संभव नहीं है। जैसे सिलाई मशीन के समस्त कल पुर्जे अलग–अलग पड़े होने पर सिलाई मशीन नहीं कहलाती है। उसे सिलाई मशीन कहलाने हेतु पुर्जो को व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध रूप से जोडना आवश्यक होता हैं।

5. सामजिक सरंचना स्थायी व गतिशील अवधारणा है– सामाजिक संरचना अपेक्षाकृत एक स्थायी

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

अवधारणा है अर्थात सामाजिक संरचना का निर्माण करने वाली इकाईयां अपेक्षाकृत स्थायी होती है। इनमें स्थायित्व दो प्रकार से पाया जाता है:–प्रथम इकाइयाँ स्वयं स्थायी होती है तथा द्वितीय, इकाइयों के पारस्परिक सम्बन्धों में भी स्थिरता पायी जाती हैं। दूसरी ओर मैकाइवर एवं पेज ने समाज और सामाजिक संरचना को गतिशील कहा हैं किन्तु उसमें परिवर्तन बहुत धीरे–धीरे होते हैं। थोड़े बहुत परिवर्तनों से सम्पूर्ण सामाजिक संरचना में कोई प्रभाव नहीं पडता हैं।

6. उपसंरचनाओं से सामजिक संरचना का निर्माण– सामाजिक संरचना का निर्माण विभिन्न उपसंरचनाओं जैसे परिवार, जाति, वर्ग शिक्षण संस्था, आर्थिक संस्था, धार्मिक संस्था आदि के द्वारा होता हैं, जिनकी स्वयं की अपनी संरचना होती हैं। इस प्रकार अनेक उपसंरचनाएँ मिलकर सामाजिक संरचना का निर्माण करती हैं जिनकी अपनी भी एक संरचना होती हैं।

7. प्रत्येक सामाजिक संरचना में सामाजिक प्रक्रियाएँ भी महत्वपूर्ण होती हैं– सामाजिक संरचना के निर्माण में सहयोगी एवं असहयोगी प्रक्रियाओं जैसे सहयोग, अनुकूलन, व्यवस्थापन, एकीकरण, प्रतिस्पर्धा एवं सहयोग आदि की भूमिका भी महत्वपूर्ण हैं। ये सामाजिक प्रक्रिया ही सामाजिक संरचना के स्वरूप को निर्धारित करती हैं।

8. सामाजिक संरचनाएँ स्थानीय विशेषताओं से प्रभावित होती हैं– प्रत्येक समाज की अपनी अलग विशेषताएँ होती हैं। भौगोलिक परिस्थितियों, संस्कृति एवं राजनैतिक परिस्थितियें में अन्तर पाया जाता हैं। अतः सामाजिक संरचनाएँ भी इनसे प्रभावित होने के कारण भिन्न–भिन्न होती हैं।

9. प्रत्येक इकाई का पूर्व निश्चित स्थान होता है– सामाजिक संरचना में प्रत्येक इकाई का पद एवं स्थान निर्धारित होता हैं। उस स्थान पर रहकर ही वह सामाजिक संरचना का निर्माण करती हैं। इकाइयों का स्थान बदलने से उनकी संरचना का रूप विकृत हो जाता हैं। अतः सामाजिक संरचना राज्य, धर्म, परिवार, विवाह, न्याय व्यवस्था, शिक्षण संस्था आदि सभी का स्थान पूर्व निर्धारित होता है।

सामाजिक संरचना की उपर्युक्त विशेषताओं से सामाजिक संरचना का अर्थ और स्पष्ट हो जाता हैं। संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि सामाजिक सरंचना का निर्माण विभिन्न इकाइयों या तत्वों से मिलकर हुआ हैं जो परस्पर व्यवस्थित रूप से संबंधित हों। अतः जिस प्रकार से किसी शरीर या भौतिक वस्तु की सरंचना होती हैं, ठीक उसी प्रकार से समाज की भी एक संरचना होती हैं, जिसे हम सामाजिक सरंचना कहते हैं।

जॉनसन ने सामाजिक सरंचना के अग्रांकित प्रमुख तत्व बतलाये हैं–

1. विभिन्न प्रकार के उपसमूह– सामाजिक संरचना का निर्माण कई प्रकार के उपसमूहों द्वारा होता हैं जो परस्पर संबंधात्मक मानदण्डों द्वारा जुड़े होते हैं। समाज में विभिन्न प्रकार की भूमिकाएँ धारण करने वाले इन उपसमूहों में संगठित रहते हैं। इनका सामाजिक संरचना में महत्वपूर्ण स्थान होता हैं।

2. विभिन्न प्रकार की भूमिकाएँ– इन विभिन्न प्रकार के उपसमूहों में विभिन्न प्रकार की भूमिकाएँ होती हैं, जो सापेक्ष दृष्टि से स्थायी होती हैं। भूमिकाएँ भूमिकाधारियों से अधिक स्थाई होती हैं।

3. सांस्कृतिक मूल्य– सामाजिक संरचना में संबंधात्मक एवं नियामक मानदंडों के अतिरिक्त सांस्कृतिक मूल्य भी होते हैं, जिनके आधार पर वस्तुओं की तुलना की जाती हैं। ये सांस्कृतिक मूल्य प्रत्येक संस्कृति में अलग–अलग होते हैं। मूल्यों के आधार पर ही भावनाओं, विचारों, लक्ष्यों, साधनों, संबंधों, समूहों, पदार्थों एवं गुणों का मूल्यांकन किया जाता हैं। जीवन के विभिन्न पक्षों व क्षेत्रों के अनुसार मूल्य भी अलग–अलग होते हैं।

4. नियामक प्रतिमान– उपसमूहों तथा भूमिकाओं को परिभाषित, नियंत्रित एवं निर्देशित करने के लिए नियामक प्रतिमान होते हैं। ये मानदंड ही भूमिकाओं के पारस्परिक संबंधों एवं प्रणालियों के संबंधों को भी निर्धारित करते हैं। इन्हीं के फलस्वरूप सामाजिक अन्तः क्रिया में स्थायित्व एवं नियमितता पायी जाती हैं।

जॉनसन के अनुसार उपरोक्त चार तत्त्वों में से प्रत्येक को आंशिक संरचना कह सकते हैं। किसी भी समाज की सामाजिक संरचना का अध्ययन दो स्तरों पर किया जा सकता हैं–सूक्ष्म स्तर एवं वृहद् स्तर पर यदि किसी विशिष्ट समुदाय,समूह अथवा ग्राम का अध्ययन करें तो वह सूक्ष्म स्तर कहा जायेगा जबकि किसी समाज का सम्पूर्ण अध्ययन, जैसे भारतीय समाज का तो वह वृहद् स्तर के अध्ययन के अंतर्गत आयेगा।

सामाजिक स्तरीकरण

सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था विश्व के सभी समाजों में पाई जाती है। कई समाजों में यह प्राथमिक रुप में पाई जाती है। फिर भी यह पहचानी जा सकती है। विश्व में ऐसा कोई भी समाज नहीं है जो भिन्न–भिन्न आधारों में विभक्त न हो। इसका मुख्य कारण यह है कि समाज में आयु, लिंग, आर्थिक व्यवस्था, प्रजातीय व्यवस्था, राजनीतिक व्यवस्था, जातिगत व्यवस्था, शिक्षा, मानव की रुचियाँ आदि सभी एक दूसरे से अलग हैं। इसी कारण कोई भी समाज अपने सभी सदस्यों को समान स्तर, स्थिति या पद प्रदान नहीं कर सकता है। सभी समाजों की जनसंख्या अनेक सामाजिक समूहों में न केवल विभक्त होती है बल्कि उन समूहों में ऊँच–नीच का स्तर भी पाया जाता है। जंगली समाजों में भी

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

आयु, लिंग, मुखिया का पद आदि बातों के आधार पर समूह का विभाजन व ऊँच–नीच का भेदभाव देखने को मिलता है। सभ्यता व संस्कृति के विकास के साथ जब सामाजिक जीवन में जटिलताऐं आती हैं तो समाज में सामाजिक स्तरीकरण प्रणाली को प्रोत्साहन मिलता है।

उदाहरण के लिए शहरी सभ्यता, आर्थिक आधार पर पूंजीपति व मजदूर वर्ग आदि को दो भागों में बंटा हुआ माना जाता है।

इसी तरह भारत जैसे राष्ट्र में भी जाति व्यवस्था के आधार पर भारत प्राचीन काल से ही चार भागों में विभाजित माना जाता है। इसी कारण ब्राह्मण, क्षत्रियों, वेश्यों व शुद्रों में एक–दूसरे के प्रति ऊँच–नीच की भावनाऐं विद्यमान हैं। वैसे यह बात भिन्न है की कहीं पर सामाजिक स्तरीकरण प्रणाली से समाज को लाभ पहुंचता है तो कहीं हानि। इस प्रक्रिया में एक सिक्के के दो पहलू वाली बात पाई जाती है। निस्सन्देह इस व्यवस्था के आधार पर ही आर्थिक क्षेत्र में आर्थिक उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। राजनीतिक जागृति उत्पन्न की जा सकती है। सामाजिक पद का उचित निर्धारण और संघर्षो से रक्षा एकता के माध्यम से की जा सकती है। इस प्रणाली को सभ्यता और संस्कृति का भी आधार स्तंभ कहें तो अतिश्योक्ति न होगी।

सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ–

सामाजिक स्तरीकरण शब्द अंग्रेजी का Stratification का हिंदी रुपांतरण है, जिसका अभिप्रायः Strata अर्थात विभाजन से होता है। प्रत्येक समाज की जनसंख्या अनेक सामाजिक वर्गो में विभक्त रहती है। सामाजिक स्तरीकरण एक सार्वभौमिक घटना है। यह किसी न किसी रुप में प्रत्येक समाज में विद्यमान रहता है। सामाजिक स्तरीकरण का अभिप्रायः "समान के अंतर्गत संपूर्ण जनसंख्या को विभिन्न स्थितियों, समूहों या स्तरों में विभक्त हो जाने की प्रक्रिया से है।"

परिभाषा– सामाजिक स्तरीकरण की मुख्य परिभाषाएँ निम्नानुसार हैं–

1. पी. गिसबर्ट के अनुसार– "सामाजिक स्तरीकरण समाज का उन स्थायी समूहों अथवा श्रेणियों में विभाजन है जो कि उच्च्ता और अधीनता संबंधों में परस्पर जुड़े होते हैं।"
2. बरट्रेण्ड रसैल के अनुसार– "सामाजिक स्तरीकरण एक प्रकार से दिये गये समाज में व्यक्तियों का विभाजन है जैसे कि उच्च वर्ग, मध्य वर्ग व निम्न वर्ग।"

सामाजिक स्तरीकरण विशेषताएँ– सामाजिक स्तरीकरण की मुख्य विशेषताएँ निम्नानुसार है–

1. कार्यो की प्रधानता– सामाजिक स्तरीकरण की प्रमुख विशेषता यह है कि इससे कार्यों को महत्व दिया जाता है।
2. सार्वभौमिकता– प्रत्येक समाज में किसी न किसी रूप में स्तरीकरण अवश्य पाया जाता है।
3. निरंतरता– सामाजिक स्तरीकरण एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है।
4. उच्चता एवं निम्नता– सामाजिक स्तरीकरण में जो भी विभाजन समाज का होता है उसमें उच्चता और निम्नता को आधार माना जाता है।
5. स्थायित्व– समाज का विभाजन स्तरीकरण सामाजिक स्तरीकरण के आधार पर ही होता है, जिसमें स्थायित्व पाया जाता है।

सामाजिक स्तरीकरण के आधार–

1. आयु – कुछ समाजों में सामाजिक स्थिति प्रदान करने में आयु को विशेष महत्व प्रदान किया जाता है। हमारे देश में अधिक आयु के लोगों को आदर सम्मान दिया जाता है।
2. लिंग– विभिन्न समाजों में लिंगभेद के आधार पर भी स्तरीकरण पाया जाता है। यह स्तरीकरण संभवतः सबसे प्राचीन एवं एक सरल स्तरीकरण है। लिंग के आधार पर स्थिति व कार्यो का विभाजन किया जाता है। भारत में स्त्रियों का स्थान पुरुषों के स्थान से निम्न समझा जाता था।
3. संपत्ति– संपत्ति के आधार पर भी सामाजिक स्तरीकरण पाया जाता है। जिस व्यक्ति के पास अधिक धन होता है, उसे समाज में ऊँची प्रतिष्ठा प्राप्त होती है।
4. प्रजाति– प्रजाति के आधार पर भी समाज में स्तरीकरण पाया जाता है।
5. जन्म आधार पर– जन्म के आधार पर भी उच्चता व निम्नता को स्थान प्रदान किया जाता है, जाति–प्रथा इसका उदाहरण है।
6. रक्त सम्बंधों के आधार पर– रक्त संबंधों के आधार पर भी सामाजिक स्तरीकरण किया जाता है। जो व्यक्ति ऐसे पुरुषों की संतान हैं, जिन्होंने अपने सदगुणों द्वारा समाज में सम्मान एवं प्रतिष्ठा प्राप्त की है, वे अपने रक्त संबंधों के कारण ही समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं तथा उनको उच्च स्थिति प्रदान की जाती है।
7. आध्यात्मिकता– समाज में जो व्यक्ति आध्यात्मिकता दृष्टि से ऊँचे उठ जाते हैं, उनका समाज में विशेष स्थान होता है। ऐसे व्यक्तियों की आयु, जाति, तथा आर्थिक स्थिति पर भी विचार नहीं किया जाता है।
8. शारीरिक एवं बौद्धिक योग्यता– समाज में व्यक्ति की स्थिति उसकी शारीरिक एवं बौद्धिक योग्यता पर भी निर्भर करती है।
9. धार्मिक योग्यता– आदिम समाजों और उन समाजों में जहाँ पर जातिगत स्तरण पाया जाता है। धार्मिक योग्यता सामाजिक स्थिति का निर्धारण करने में महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

उपर्युक्त सभी सामाजिक स्तरीकरण के महत्वपूर्ण आधार हैं फिर भी हम मुख्यतः जाति, वर्ग, प्रजाति तथा लिंग का विस्तार से अध्ययन करेंगे–

जाति व्यवस्था

जाति का अर्थ एवं परिभाषाएँ

जाति अंग्रेजी के कास्ट (Caste) का हिन्दी पर्यायवाची शब्द है जो कि पुर्तगाली शब्द कास्टा (Casta) से बना है। जिसका अर्थ प्रजाति, जन्म या भेद होता है। हिन्दी का जाति शब्द संस्कृत भाषा की 'जन' धातु से बना है जिसका अर्थ उत्पन्न होना व उत्पन्न करना है। जाति शब्द का सर्वप्रथम उपयोग सन् 1563 में ग्रेसिया ड़ी ओर्टा ने किया था। विभिन्न समाजशास्त्रियों ने जाति शब्द का प्रयोग विभिन्न रूपों में किया है। संक्षेप में, जाति की निम्न परिभाषाएँ दी जा सकती है–

1. **मैकाइवर व पेज** के अनुसार, "जब व्यक्ति की स्थिति पूर्व निश्चित होती है, अर्थात् जब व्यक्ति अपनी स्थिति में किसी भी प्रकार के परिवर्तन की आशा लेकर उत्पन्न नहीं होता, तब व्यक्ति समूह या वर्ग जाति के रूप में स्पष्ट होता है।"

2. **केतकर** के अनुसार, "जाति एक सामाजिक समूह है जिसकी दो विशेषताएँ है। प्रथम– जाति की सदस्यता सिर्फ उन व्यक्तियों तक ही सीमित है जो कि उस जाति विशेष के सदस्यों से ही पैदा हुए है और इस प्रकार उत्पन्न होने वाले सभी व्यक्ति एक जाति में आते हैं। द्वितीय– जिसके सदस्य एक निश्चित सामाजिक नियम के द्वारा अपने समूह के बाहर विवाह करने से रोक दिए जाते हैं।"

3. **मजूमदार और मदान** के अनुसार, "जाति एक बन्द वर्ग है।"

4. **एन.के. दत्ता** के अनुसार, "एक जाति के सदस्य जाति के बाहर विवाह नहीं कर सकते तथा अन्य जाति के व्यक्तियों के साथ भोजन करने एवं पानी के सम्बन्ध में इसी प्रकार के कुछ कम कठोर नियम रहते हैं तथा अनेक जातियों के कुछ निश्चित व्यवसाय होते हैं। जातियों में संस्तरणात्मक श्रेणियाँ होती है। मनुष्य की जाति का निर्णय जन्म से होता है। यदि व्यक्ति नियमों का उल्लंघन करने के कारण जाति से न निकाल दिया जाए तो एक जाति से दूसरी जाति में परिवर्तन होना सम्भव नहीं है।"

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि जाति जन्म पर आधारित वह महत्वपूर्ण समूह है जिसकी सदस्यता जन्म पर आधारित होती है। यह अपने सदस्यों के व्यवसाय, विवाह, खान–पान आदि पर कुछ निश्चित प्रतिबन्ध लगाती है। संक्षेप में, जाति समाज का ऐसा खण्डात्मक विभाजन है जो कि आनुवंशिकता पर आधारित रहकर अपने सदस्यों के व्यवसाय, खान–पान व विवाह पर निश्चित स्थिति में रोक लगाती है।

जाति की विशेषताएँ

भिन्न–भिन्न विद्वानों ने जाति की विशेषताओं को अपने–अपने ढंग से स्पष्ट करने का प्रयास किया। जिसमें ए. के. दत्ता, किंग्सले डेविस व घूर्ये मुख्य हैं। ए.के. दत्ता ने जाति की निम्नांकित विशेषताओं को स्पष्ट किया है–

1. जाति का कोई भी सदस्य जाति के बाहर विवाह नहीं कर सकता।
2. प्रत्येक जाति में भोजन और खान–पान सम्बन्धी प्रतिबन्ध अवश्य होते हैं।
3. जाति के पेशे प्रायः निश्चित होते हैं।
4. सभी जातियों व उपजातियों में ऊँच–नीच का एक संस्तरण पाया जाता है जिसमें ब्राह्मणों का स्थान सर्वोच्च रहता है।
5. जन्म के साथ ही जाति की सदस्यता व्यक्ति को जीवनपर्यन्त के लिए प्राप्त हो जाती है, किन्तु जातीय नियमों के विपरीत कृत्यों को करने से उसकी सदस्यता समाप्त भी की जा सकती है।

घूर्ये ने अपनी सुप्रसिद्ध कृति, 'जाति, वर्ग, व्यवसाय' में जाति की निम्न विशेषताओं को स्पष्ट किया है–

1. **समाज का खण्डीय विभाजन**– जाति व्यवस्था समाज को विभिन्न खण्डों या भागों में विभक्त कर देती है तथा प्रत्येक खण्ड या भाग अनेक उपखण्डों या उपभागों में विभक्त हो जाता हैं तथा प्रत्येक खण्ड व उपखण्ड के सदस्यों की स्थिति, पद, कार्य आदि निश्चित रहते हैं। जिससे व्यक्तियों की निष्ठा, प्रेम व सहानुभूति अन्य जाति की अपेक्षा अपनी जाति में अधिक होती है। अतः स्पष्ट है कि सम्पूर्ण समाज विभिन्न खण्डों व उपखण्डों में विभक्त हो जाता है।

2. **संस्तरण**– जाति व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न जातियों में एक संस्तरण या ऊँच–नीच के क्रम अथवा उतार–चढ़ाव के क्रम देखने को मिलते हैं। संस्तरण में परिवर्तन धन, सम्पत्ति या प्रतिष्ठा के आधार पर सम्भव नहीं होता, क्योंकि जाति एक बन्द वर्ग का रूप है।

3. **भोजन व सहवास पर प्रतिबन्ध**– जाति व्यवस्था की यह एक विशिष्ट विशेषता है। प्रत्येक जाति का ऐसा नियम होता है कि दूसरी जाति के सदस्यों के हाथ का बना भोजन निषिद्ध रहता है।

4. **नागरिक व धार्मिक निर्योग्यताएँ और प्रतिबन्ध**– घूर्ये के अनुसार तत्कालीन समय में ब्राह्मणों को तथाकथित उच्च मानते हुए सर्वाधिकार प्रदान किए और दलितों पर धार्मिक निर्योग्यताएँ लादी गई

5. **व्यवसाय के चयन का अभाव**– जाति व्यवस्था में प्रत्येक जाति के व्यवसाय या पेशे पूर्व निर्धारित या परम्परागत होते थे तथा इनमें परिवर्तन करने का अधिकार किसी को भी नहीं दिया जाता था। समाज अपने सदस्यों से आशा करता था कि वे जाति व्यवस्था द्वारा निर्धारित व्यवसाय

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

या पेशों को ही करे, जिससे समाज की व्यवस्था में किसी प्रकार का व्यवधान न आए।

6. विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध– प्रत्येक जाति में इस नियम का कठोरता से पालन किया जाता है कि इसके सदस्य अपनी ही जाति में विवाह सम्बन्ध स्थापित करे। इस रूप में जाति अन्तर्विवाही समूह का प्रतिनिधित्व करती है। विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध सभी जातियों में चाहे वह उच्च जाति हो या निम्न, निश्चित रूप से पाया जाता है।

उपरोक्त विशेषताएँ जाति की परम्परागत विशिष्टताएँ हैं, क्योंकि वर्तमान परिस्थितियों में परिवर्तित होती जाति व्यवस्था के कारण इसकी विशेषताएँ भी बदल रही है। अतः आवश्यक है कि समाजशास्त्रियों को जाति व्यवस्था पर पुनः सूक्ष्म अध्ययन व विश्लेषण करना चाहिए। उदाहरण के लिए आधुनिक समय में समाज के सभी नागरिकों, चाहे वे किसी भी जाति के सदस्य क्यों न हो, उन्हें समान अधिकार है। वे अपनी इच्छा एवं स्वेच्छा अनुसार व्यवसाय का चयन कर सकते हैं और कर भी रहे हैं। निम्न जाति के सैकड़ों व्यक्ति आज उच्च पदों पर कार्यरत है। इसी प्रकार बहुत से उच्च वर्ग या जाति के सदस्यों ने भी अपना व्यवसाय व पेशा बदल लिया है। विवाह सम्बन्ध भी कमजोर होते जा रहे हैं। प्रतिवर्ष प्रेम–विवाह एवं अन्तर्जातीय विवाहों की बढ़ती संख्या स्पष्ट करती है कि विवाह सम्बन्धी जातीय प्रतिबन्ध टूटते जा रहे हैं। किन्तु घुर्ये द्वारा प्रस्तुत जाति की विशेषताएँ ग्रामीण अंचलों में आज भी दिखाई देती है। किन्तु नगरीय क्षेत्रों में तो जाति व्यवस्था परिवर्तन के पथ पर चली पड़ी है।

जाति के कार्य/गुण

वर्तमान समय में जाति व्यवस्था की कितनी ही आलोचना क्यों न की जाए, किन्तु इसने भारतीय समाज को संगठित रखकर व्यवस्थित रूप से व्यक्ति के पद एवं कार्यों को सुनिश्चित किया है। जाति व्यवस्था ने हमारे समाज को जितनी लम्बी अवधि तक प्रभावपूर्ण ढंग से नियन्त्रित रखा, वैसी अन्य कोई व्यवस्था नहीं कर सकी। जाति व्यवस्था ने व्यक्ति और समाज के लिए इतने महत्वपूर्ण कार्य किए हैं जिन्हें भुलाया नहीं जा सकता।

संक्षेप में, जाति के कार्यों को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है–1. व्यक्तिगत जीवन में जाति के कार्य, 2. जातीय समुदाय के लिए जाति के कार्य, 3. सामाजिक जीवन में जाति के कार्य।

1. जाति के कार्य गुण

1. व्यक्ति की सामाजिक स्थिति का निर्धारण– जाति प्रथा के कारण व्यक्ति की सामाजिक स्थिति का निर्धारण जन्म से ही हो जाता है। जाति के कार्यों की समीक्षा करते हुए जे.एच. हट्टन ने लिखा है कि ''जाति व्यवस्था व्यक्ति को उसके जन्म से ही निश्चित सामाजिक स्थिति प्रदान करती है, जिसमें निर्धनता, सम्पत्ति तथा सामाजिक क्षेत्र में सफलता, असफलता कोई भी परिवर्तन नहीं कर सकती है।

2. व्यवसाय का निर्धारण– व्यक्ति के जन्म से ही व्यवसाय का निर्धारण जाति व्यवस्था के कारण हो जाता है जिससे वह व्यर्थ की प्रतियोगिता से सिर्फ बच ही नहीं जाता बल्कि चिन्तामुक्त भी रहता है। जन्म से ही उसे पैतृक व्यवसाय से सम्बन्धित ज्ञान मिलता प्रारम्भ हो जाता है जिससे परिपक्वता आने तक वह उस व्यवसाय में दक्षता प्राप्त कर लेता है।

3. मानसिक रूप से सुरक्षित– जाति व्यवस्था के कारण ही व्यक्ति अपने आपको मानसिक रूप से सुरक्षित समझता है। मानसिक सुरक्षा में स्थिरता तब ही आती है जब व्यक्ति के जीवन में परिवर्तन शनैः शनैः आते हो। जाति व्यवस्था के कारण व्यक्ति के जीवन में सब कुछ पूर्व नियोजित रहता है जिससे उसे व्यर्थ के कष्ट नहीं उठाना पड़ते हैं। यदि व्यक्ति के जीवन में बार–बार उतार–चढाव आता है तो वह व्यक्ति मानसिक रूप से कभी सुरक्षित नहीं रह सकेगा। जाति व्यवस्था उसे मानसिक सुरक्षा उपलब्ध कराती है।

4. जीवनसाथी के चुनाव में सहायक– जाति व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक जाति के अपने नियम हैं जिनका पालन करना प्रत्येक सदस्य का परम कर्तव्य है। विवाह के सम्बन्ध में भी प्रत्येक जाति के अपने नियम हैं जो व्यक्ति को जीवन साथी चुनने में सहायता करते हैं।

5. सामाजिक सुरक्षा– जाति व्यवस्था प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक सुरक्षा उपलब्ध कराती है। यदि जाति का कोई सदस्य कभी किसी संकट में फँस जाता है तो जाति उसको आवश्यक सुविधा तो उपलब्ध कराती ही है उसे संकट से उबरने का तरीका भी बताती है जिससे व्यक्ति उस संकट से दूर ही रहे।

6. व्यक्ति के व्यवहारों पर नियन्त्रण– जाति व्यवस्था के कारण ही व्यक्ति के व्यवहार नियन्त्रित रहते हैं। प्रत्येक जाति के अपने नियम है जिनका पालन करना प्रत्येक सदस्य का कर्तव्य है। यदि कोई व्यक्ति इन नियमों को तोड़ने का प्रयास करता है तो वह जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है, जिसके कारण सम्पूर्ण हिन्दू समाज में वह स्थान प्राप्त नहीं कर सकता। इसी प्रकार कोई भी व्यक्ति इन नियमों का उल्लंघन नहीं करता है जिसके कारण उसके व्यवहार सदैव नियन्त्रित रहते हैं।

उपरोक्त कार्यों के अतिरिक्त भी जाति व्यवस्था ने समाज के हित में कई कार्य किए, जैसे, आवश्यक प्रशिक्षण व कार्यकुशलता बनाए रखी। जाति व्यवस्था ने समाजवादी व्यवस्था की कल्पना को साकार रूप प्रदान किया।

जाति व्यवस्था के अकार्य, अवगुण अथवा दोष

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

यद्यपि जाति व्यवस्था व्यक्ति, समुदाय तथा समाज की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी व्यवस्था है, परन्तु समय और परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ–साथ जाति प्रथा के स्वरूप में अनेक परिवर्तन आ गये हैं तथा इसके अनेक दोष भी उभर कर सामने आने लगे है। इसके प्रमुख दोष निम्नलिखित है–

1. **अप्रजातांत्रिक–** जाति व्यवस्था पूर्णतया अप्रजातांत्रिक है। यह व्यवस्था समानता की भावनाओं पर कुठाराघात करती है तथा इसने समाज में ऊँच–नीच की भावनाओं को जन्म दिया है। प्रजातंत्र में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उन्नति करने का समान अधिकार होता है, परन्तु जाति प्रथा द्वारा निम्न जातियों के सदस्यों को इस अधिकार से युगों तक वंचित रखा गया। असमानता को महत्व देने वाली जाति प्रथा अप्रजातांत्रिक है।

2. **श्रमिकों की गतिशीलता में बाधक–** जाति व्यवस्था वंशानुगत या परम्परागत व्यवसाय करने पर बल देती है और व्यक्ति को किसी अन्य व्यवसाय का चयन करने से रोकती है। अतः व्यक्ति अपने जातिगत व्यवसाय के अतिरिक्त अन्य व्यवसाय नहीं कर पाता, चाहे उसमें उस व्यवसाय को करने की क्षमता है या उससे लाभ होता है।

3. **सामाजिक प्रगति में बाधक–** जाति प्रथा सामाजिक प्रगति में सदा बाधक रही है। जाति के सदस्यों को सदा जाति बहिष्कार का भय लगा रहता है अतः वे अपने परम्परागत दृष्टिकोण का परित्याग नहीं करते और न ही किसी अन्य समाज की अच्छाई को ग्रहण करने की चेष्टा करते हैं। इसके अतिरिक्त कार्य जन्म से निश्चित हो जाने के कारण सारे समाज की क्रिया स्थिर हो जाती है। किसी भी प्रकार के सामाजिक या भौतिक आविष्कार का विचार मन में नहीं उठता। वास्तव में रूढ़िवादिता और स्थिरता जातिवाद का ही परिणाम है। ऐसी दशा में किसी भी प्रकार के परिवर्तन का विचार नहीं पनप पाता। परिवर्तन के बिना प्रगति की आशा करना ही व्यर्थ है।

4. **सांस्कृतिक विकास में बाधक–** जाति सांस्कृतिक विकास में एक बाधा का कार्य करती है। इसके अंदर विभाजन और ऊँच–नीच की भावना रहने के कारण सांस्कृतिक एकता का अभाव बना रहता है। भेदभाव के कारण प्रत्येक समूह एक–दूसरे से दूर रहता है और उनमें परस्पर मिलकर सांस्कृतिक प्रगति करने की भावना नहीं उत्पन्न हो पाती। इसके अतिरिक्त प्रत्येक जाति एक प्रकार से पृथक जाति समूह के रूप में कार्य करती है अतः उसके सदस्य अपनी रूढ़िग्रस्त सांस्कृतिक परम्पराओं से ही जुड़े रहते हैं और उनमें परिवर्तन पसंद नहीं करते।

5. **व्यक्तित्व के विकास में बाधक–** सभी व्यक्तियों की शारीरिक–मानसिक क्षमताएँ समान नहीं होती। अतः समाज का हित इसी में है कि व्यक्तिगत–क्षमता के आधार पर ही कार्यों का विभाजन किया जाये। जाति व्यवस्था में इस सिद्धांत की पूर्ण अवहेलना की जाती है। इसमें केवल व्यवसायों का ही नहीं बल्कि उत्तरदायित्वों तथा अधिकारों का बँटवारा भी व्यक्तिगत क्षमता के आधार पर न होकर जन्म के आधार पर होता है। व्यक्ति को अपनी क्षमताओं का स्वतंत्र रूप से विकास करने का अवसर नहीं मिलता।

6. **सामाजिक समानता में बाधक–** जाति व्यवस्था ने मनुष्य और मनुष्य के बीच जाति व्यवस्था के तथाकथित उच्च–निम्न के संस्तरणों को लादकर सामाजिक समानता के भाव को ठेस पहुँचाई है।

7. **आर्थिक विकास में बाधक–** जाति व्यवस्था के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को केवल अपने परम्परागत व्यवसाय को करने की ही अनुमति मिलती है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति अनेक लाभपूर्ण पेशों से वंचित रह जाता है। दूसरी ओर अनेक लाभप्रद पेशे व्यक्ति की योग्यता और अयोग्यता को देखे बिना ही कुछ विशेष जाति के सदस्यों को प्राप्त हो जाते हैं। इस तरह के विभाजन से कार्य ही कम नहीं होता, वरन् धीरे–धीरे व्यक्ति की कार्यक्षमता भी कम हो जाती है तथा समाज में धन का वितरण असमान हो जाता है। जाति व्यवस्था ने पवित्रता का क्षेत्र इतना संकुचित कर दिया है कि व्यक्ति अनेक प्रकार का उत्पादन कार्य करने से ही नहीं बचते बल्कि कृषि में अनेक रासायनिक खादों का प्रयोग करने को भी अपवित्र समझ लेते हैं।

8. **राष्ट्रीय एकता में बाधक–** जाति व्यवस्था जहाँ छोटे–छोटे समुदायों की एकता में योग देती हैं वहाँ यह राष्ट्र की एकता में सहायक नहीं है। जब सम्पूर्ण देश या राष्ट्र की एकता का प्रश्न आता है तो व्यक्ति अपने–अपने जातीय समुदायों के हित को सर्वोपरि मानते हुए उसी के बारे में सोचते–विचारते हैं। इस प्रकार इन छोटे–छोटे समुदायों से अलग–अलग वातावरण देखने को मिलता है और जातीय सदस्य अपना कर्तव्य इन छोटे समुदायों तक ही सीमित रखते हैं। व्यक्तियों का यह दृष्टिकोण राष्ट्र में अनेक भ्रामक बातों व समस्याओं को जन्म देती है, जो राष्ट्र की एकता के स्थान पर विघटन की ओर ले जाता है। सच तो यह है कि विभिन्न जातियों, उपजातियों में पायी जाने वाली सामाजिक दूरी (Social distance) सम्पूर्ण राष्ट्र में समानता की भावना को विकसित करने में असफल रहती है, परिणामस्वरूप राष्ट्रीय एकता की बात यों ही रह जाती है।

9. **धर्म परिवर्तन–**भारत में तत्कालीन समय मे हिन्दू ध ार्म में व्याप्त कठोरता के कारण लाखों हिन्दू स्त्री पुरुषों को ईसाई व इस्लाम धर्म के प्रवर्त्तकों ने धर्म परिवर्तन करने के लिए प्रोत्साहित किया।

10. **विवाह का सीमित क्षेत्र–** जाति एक अन्तर्विवाही समूह है। अतः जाति व्यवस्था विवाह के क्षेत्र को सीमित करती है। अतः एक जाति के सदस्य अपनी जाति से बाहर विवाह नहीं कर पाते। परिणामस्वरूप बाल विवाह, बेमेल

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

विवाह, विधवा विवाह, कुलीन विवाह तथा दहेज प्रथा की समस्याएँ उत्पन्न हो गई।

वर्तमान समय में बहुत सी जातियों ने अपने पैतृक व्यवसाय को छोड़ अन्य व्यवसायों को अपनाया है।

ऊपर हमने जाति प्रथा के गुण एवं दोषों को अध्ययन किया। अब प्रश्न यह है कि जाति प्रथा यदि हितकर है तो इसे स्थिर रखा जाए और यदि जाति अहितकर है तो इस समाप्त कर दिया जाए। अनेक समाजशास्त्रियों एवं मानवशास्त्रियों का मत है कि यह बहुमूल्य कार्य करती है अतः इस रहने देना चाहिए। इस प्रथा की हानिकारक सहयोगी प्रथाओं को समाप्त कर देना चाहिए न कि सम्पूर्ण व्यवस्था को। टूटी हुई विषपूर्ण अंगुली को काटना चाहिये, न कि पूरे हाथ को। यह जहर सम्पूर्ण समाज में फैल गया है अतः इसे समाप्त कर देना चाहिये। इस संस्था के कार्य दूसरी संस्था द्वारा भी किये जा सकते हैं।

जाति व्यवस्था के परिवर्तित प्रतिमान

आधुनिक भारत में निम्नलिखित कारकों ने जाति प्रथा में अनेक परिवर्तन कर दिये हैं–

1. कार्यक्षमता का महत्व– जाति प्रथा में व्यक्ति की स्थिति जाति के आधार पर निर्धारित होती है। उच्च जाति के लोगों की समाज में उच्च स्थिति और निम्न जाति के लोगों की समाज में निम्न स्थिति थी, किन्तु आज जातिगत संरचना में परिवर्तन हो रहा है। आज व्यक्ति की योग्यता, कुशलता तथा उसकी कार्यक्षमता के आधार पर ही उसकी सामाजिक स्थिति का निर्धारण किया जाता है।

2. व्यावसायिक परिवर्तन– प्राचीनकाल से ही एक जाति के सदस्य अपनी जाति के परम्परागत पेशों को करते थे किन्तु आज औद्योगीकरण के कारण ग्रामीण समुदाय के लोग नगरों या औद्योगिक केंद्रों में पहुँचकर विभिन्न प्रकार के व्यवसाय कर रहे हैं।

3. स्थिति के निर्धारण में परिवर्तन– भारत की जाति व्यवस्था में तथाकथित ब्राह्मणों की स्थिति सर्वोच्च मानी जाती थी। परन्तु वर्तमान में जातिगत भेद से कहीं ऊपर व्यक्ति की कार्यकुशलता और कार्यक्षमता का महत्व बढ़ गया है।

4. अस्पृश्यता की समाप्ति– छुआछूत, भेदभाव अर्थात् अस्पृश्यता जाति प्रथा के मेरूदण्ड थे, किन्तु आज पश्चिमी संस्कृति व शिक्षा के कारण ग्रामीण समुदाय का दृष्टिकोण विस्तृत हो गया है। अतएव निम्न जातियों की सभी निर्योगयताएँ समाप्त हो गई है।

5. विवाह के क्षेत्र में परिवर्तन– कुछ जातियों में बाल विवाह का प्रचलन था और लड़के व लड़की की राय विवाह के समय नहीं ली जाती थी किन्तु आज विवाह के क्षेत्र में भी परिवर्तन हो गये है। बाल विवाह के स्थान पर विलम्ब विवाह होने लगे। विवाह के समय लड़के की आयु 21 वर्ष तथा लड़की की आयु 18 वर्ष होना अनिवार्य माना गया है। विवाह के समय लड़के तथा लड़की की राय भी जानी जाती है। इसके अतिरिक्त प्रेम विवाह या कोर्ट मैरिज भी होने लगे जिनमें माता–पिता की राय की भी आवश्यकता नहीं होती है।

6. खानपान संबन्धी प्रतिबन्धों का पतन– पहले जाति प्रथा में एक उच्च जाति का व्यक्ति निम्न जाति के सदस्य के साथ भोजन,खान–पान के संबंध नहीं जोड सकता था, किन्तु आज के युग में स्थिति बदल गई है। आज औद्योगीकरण के कारण कारखाने में सभी जातियो के लोग एकसाथ बैठकर खान–पान करते हैं। रेलों में, बसों में, हवाई जहाजों में सभी जाति के लोग एक साथ मिलकर बैठते हैं। अब होटलों में भोजन करते हैं। अब जाति– पाँती के सभी प्रतिमानों की शिथिलता व्यापक होती जा रही है।

7. शिक्षा में परिवर्तन– जाति व्यवस्था को कमजोर बनाने में वर्तमान शिक्षा का महत्वपूर्ण हाथ रहा है। आज की भारतीय शिक्षा स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व भावना पर अधिक बल देती है, छुआछूत तथा ऊँच–नीच की भावना का उन्मूलन करती है। इसके अतिरिक्त भारतीय शिक्षा पर पाश्चात्य देशों में प्रचलित वैज्ञानिक विचारों की छाप है, जिसके कारण भारतीय जनता के मस्तिष्क से रूढ़िवादिता समाप्त होती जा रही है। इस प्रकार ये सब बातें जाति प्रथा को कमजोर बनाती है।

8. औद्योगीकरण– औद्योगीकरण भी जाति प्रथा को निर्बल बना रहा है। औद्योगीकरण के कारण होटलों, दुकानों, सिनेमाघरों तथा अन्य स्थानों पर और कारखानों में लोगों का मिलना–जुलना, साथ–साथ खाना–पीना और बातचीत करना सम्भव हुआ और छुआछूत तथा जाति व्यवस्था पर इसका कठोर रूप से अवश्यम्भावी प्रभाव पड़ा।

9. समाज सुधार आन्दोलन– इस सम्बन्ध में समाज सुधार आंदोलन का भी प्रभाव कम नहीं रहा है। आधुनिक शिक्षा के कारण देश में समाज सुधार आंदोलन की बाढ़–सी आ गई है जिससे जाति प्रथा का धीर–धीरे उन्मूलन हो रहा है।

10. धन के महत्व में वृद्धि– आज धन ही जाति के स्थान पर सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार बनाता जा रहा है। धनी व्यक्ति कोई भी हो, उसका समाज में आदर किया जाता है। व्यवसायों का आधार भी आज जाति नहीं वरन् व्यक्तिगत योग्यता हो गया है।

11. आवागमन के साधनों का प्रभाव– आवागमन के साधनों के कारण व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने लगा है और वे मिल–जुलकर अपनी समस्याओं को आपस में सुलझाने पर जोर देने लगे है। इससे एक–दूसरे के विचारों, परम्पराओं और अन्य सामाजिक व्यवस्था के तत्वों को प्रभावित करने लगे जिससे भेदभाव की कड़ी जो समाज को विभिन्न जातियों में बॉटे रखती थी, आज टूटती जा रही है।

12. नवीन कानून– भारत में जनतंत्रीय सरकार ने

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

अनेक कानून बनाये। जिनके आधार पर कानून की दृष्टि में कोई भी जाति ऊँची या नीची नहीं और न जाति के आधार पर समाज या राज्य किसी के साथ पक्षपात ही कर सकता है।

13. राजनैतिक आंदोलन– राजनैतिक आंदोलन के प्रभाव का भी जाति प्रथा पर भयानक आक्रमण हुआ। गांधीजी ने अपने नेतृत्व में देश की समस्त जातियों, वर्णो और वर्गों को एक साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलने के लिए ललकारा। उनकी एक ललकार पर देश का बच्चा–बच्चा उनके पीछे चल दिया और सदियों पुरानी दासता की जंजीरों को तोड़ कर टुकड़े–टुकड़े कर दिये और भारत में जनतंत्रीय सरकार की स्थापना हुई। जिससे भेदभाव के लिये (कम से कम सिद्धांत रूप में) तो कोई स्थान नहीं रहा।

14. नये सामाजिक वर्गों का उदय– भारतीय समाज में भी आज विभिन्न वर्गों का निर्माण हो चुका है और आगे होता भी जा रहा है। जैसे व्यापारी वर्ग और शिक्षक वर्ग आदि। इन वर्गों में जाति व्यवस्था पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। इस प्रकार ये नवीन वर्ग भी जाति प्रथा पर कुठाराघात कर रहे हैं।

15. भारत की स्वतंत्रता– भारत की स्वतंत्रता ने भी इस विषय में महत्वपूर्ण योगदान दिया है क्योंकि स्वतंत्रता के पश्चात् किसी भी प्रकार की भेदभाव नीति का अन्त हो गया है और सरकार तथा समाज दोनों ही प्रयास कर रहे हैं कि जाति व्यवस्था का भारत से उन्मूलन हो जाए और सब समान रूप से अपना जीवन व्यतीत करे।

निष्कर्ष– जाति व्यवस्था के विरुद्ध इतनी युक्तियाँ हमने दी किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि इन्होंने भारत से जाति व्यवस्था का बिल्कुल उन्मूलन कर दिया हो। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जाति व्यवस्था के प्रभाव में इसने कमी अवश्य की है, किन्तु इसका पूर्णतया उन्मूलन होना कठिन हो रहा है।

वर्ग (Class)

वर्ग को सामाजिक स्तरीकरण के प्रमुख आधार के रूप में स्वीकार किया जाता है। वर्तमान समय में प्रत्येक समाज में किसी न किसी रूप में वर्ग–व्यवस्था अवश्य ही पाई जाती है। अनादिकाल से ही मनुष्य आयु, लिंग, व्यवसाय, धर्म, आय आदि के आधार पर वर्गों में विभक्त रहा है और समाज में स्त्री–पुरुष, शिक्षित–अशिक्षित, अमीर–गरीब, बलवान–निर्बल, शिक्षक, व्यापारी, युवा, प्रौढ़ और वृद्ध आदि वर्ग पाए जाते रहे हैं जो कि आधुनिक एवं वर्तमान युग में भी देखे जा सकते हैं। अतः स्पष्ट है कि वर्ग विशिष्ट सम्बन्धों वाला समूह है। सामान्य रूप में वर्ग ऐसे व्यक्तियों का समूह होता है जिनके सदस्यों की समान सामाजिक परिस्थिति होती है।

वर्ग का अर्थ एवं परिभाषा

वर्ग का पर्यायवाची शब्द खण्ड है। सामान्य अर्थों में वर्ग का आशय समान स्थिति वाले व्यक्तियों के ऐसे समूह से होता है, जिसमें व्यक्ति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से एक– दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। उदाहरण के लिए शिक्षक वर्ग, विद्यार्थी वर्ग, मजदूर वर्ग, बीड़ी कामगार श्रमिक वर्ग, व्यापारी वर्ग आदि। वर्ग की विभिन्न समाज विज्ञानियों ने निम्न रूपों में परिभाषाएँ प्रस्तुत की है–

मैकाइवर तथा पेज के अनुसार, "एक सामाजिक वर्ग समूह का वह भाग है जो कि सामाजिक स्थिति के आधार पर अन्य लोगों से पृथक किया जा सकता है।"

कार्ल मार्क्स ने वर्ग की अवधारणा को आर्थिक आधार पर प्रस्तुत करते हुए बताया है कि "वर्ग किसी भी समाज का एक ऐसा तथ्य है जिसमें सम्पति और उत्पादन के साधन सामाजिक स्तरीकरण का आधार प्रस्तुत करते हैं।"

मैक्स वेबर के विचारानुसार, "सामाजिक आर्थिक व्यवस्था एक नहीं है। आर्थिक व्यवस्था केवल वह पद्धति है, जिसमें आर्थिक वस्तुओं और सेवाओं का वितरण तथा उपभोग किया जाता है। यही प्रक्रिया वर्गों का निर्माण करती है।"

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट होता है कि विभिन्न समाज विज्ञानियों ने सामाजिक वर्ग को विभिन्न आधारों– जैसे सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आदि आधारों पर समझाने का प्रयास किया है। इसी प्रकार बिटेन व अमेरिका के आधुनिक समाज विज्ञानियों ने व्यवसाय को आधार मानकर वर्ग की अवधारणा प्रस्तुत की है, तो अन्य विद्वानों ने धर्म तथा विलासिता को आधार बनाकर वर्ग को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि वर्ग सामाजिक स्तरीकरण की एक मुक्त व्यवस्था का रूप है, जिसका आधार सामाजिक स्थिति, आर्थिक स्थिति, सांस्कृतिक स्थिति, शैक्षणिक स्थिति, योग्यता आदि हो सकता है। यह समाज का वह भाग होता है जिसके सदस्यों की सामाजिक स्थितियाँ समान होती है, जिसके आधार पर इनमें सामाजिक जागरूकता पाई जाती है और समाज के अन्य वर्गों से अलग होते हैं।"

वर्ग की प्रमुख विशेषताएँ

1. सामाजिक संस्तरण– सामाजिक वर्ग सामान्यतः संस्तरणों, स्तरों या खंडों में पाए जाते हैं। जिसमें सबसे ऊँचे क्रम में उच्चतम वर्ग और उससे नीचे क्रम में निम्नतर वर्ग होते हैं। इस प्रकार समाज वर्गों में उतार–चढाव की संस्तरणात्मक व्यवस्था होती है। मार्क्सवादी विचारक पूँजीवादी समाज में पूँजीपति वर्ग व निर्धन वर्ग के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं।

2. वर्ग चेतना का समावेश– समाज में पाए जाने वाले विभिन्न वर्गों में चेतना पाई जाती है और वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि उनका पद एवं प्रतिष्ठा दूसरे वर्गों की अपेक्षा उच्च या निम्न है। यही वर्ग चेतना वर्ग के सदस्यों के व्यवहार का निर्धारण करने में अहम् भूमिका निभाती हैं।

3. ऊँच–नीच की भावना– विभिन्न वर्गों के सदस्यों के बीच ऊँच–नीच की भावना पाई जाती है। उदाहरण के लिए पूँजीपति वर्ग अपने को निर्धन वर्गो की अपेक्षा ऊँचा व श्रेष्ठ

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

मानता है। इसी प्रकार निर्धन वर्ग पूँजीपति वर्ग को देखकर अपने को कमजोर एवं हीन समझते हैं व अपने को पूंजीपति वर्ग से नीचे समझते हैं।

4. वर्ग मुक्त व्यवस्था है– वर्ग की यह एक महत्वपूर्ण विशेषता है। वर्ग व्यवस्था एक खुली एवं मुक्त व्यवस्था है, अर्थात् व्यक्ति अपनी स्थिति व परिस्थितियों के अनुसार किसी भी वर्ग में मिल सकता है। उदाहरण के लिए एक मजदूरी करने वाला व्यक्ति निम्न वर्ग का सदस्य होता है किन्तु उसकी लाटरी खुल जाती है तो वह उच्च वर्ग में पहुँच सकता है। अतः स्पष्ट है कि वर्ग व्यवस्था एक खुली व्यवस्था होती है जिसे व्यक्ति कभी भी बदल सकता है।

5. वर्ग में जन्म का महत्व नहीं– वर्ग व्यवस्था में व्यक्ति के जन्म का किसी भी प्रकार से महत्व नहीं होता वरन् वर्ग की सदस्यता के लिए तो व्यक्ति की सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक व शैक्षणिक स्थिति को आधार माना जाता है। उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति का जन्म अशिक्षित परिवार में हुआ किन्तु वह शिक्षा ग्रहण करके शिक्षित वर्ग की सदस्यता ले सकता है अर्थात् वर्ग में जन्म का बिल्कुल महत्व नहीं रहता।

6. वर्ग व्यवस्था अस्थिर धारणा– वर्ग की यह भी महत्वपूर्ण विशेषता है कि इसकी धारणा अस्थिर होती है अर्थात् वर्ग को बनवाने वाले आधारों में परिवर्तन होता रहता है। इसी के साथ–साथ वर्ग व्यवस्था में भी परिवर्तन होते हैं। जो व्यक्ति आज अशिक्षित एवं अज्ञानी है, कुछ वर्षों में वह शिक्षित एवं ज्ञानी हो सकता है। अतः स्पष्ट है कि वर्ग का आधार ही अस्थिर है, इस कारण वर्ग भी अस्थिरता लिए रहते हैं।

7. विभिन्न वर्गों में सामाजिक दूरी– प्रत्येक वर्ग के सदस्य अपने वर्ग के सदस्यों से ही घनिष्ठ व नजदीकी सम्बन्ध बनाए रखते हैं तथा अपने वर्ग के प्रति ही प्रेम, सहयोग व सहानुभूति की भावना रखते हैं और दूसरे वर्ग के सदस्यों से औपचारिक व दूरी के सम्बन्ध ही रखते हैं तथा अपने उत्सवों, त्यौहारों व शादी विवाह में प्रत्येक वर्ग अपने वर्ग अपने वर्ग के ही सदस्यों को बुलाता है, व सम्पर्क रखता है। संक्षेप में, विभिन्न वर्गों के मध्य सामाजिक दूरी होती है।

8. वर्ग अर्जित प्रस्थिति पर आधारित–वर्ग व्यवस्था अधिकांशतः अर्जित प्रस्थिति पर ही आधारित होती है। व्यक्ति अपनी योग्यता व क्षमताओं से जो स्थिति अर्जित करता है वही स्थिति उसे वर्ग विशेष की सदस्यता प्रदान कराती है।

9. परस्पर निर्भरता– समाज में पाये जाने वाले सभी वर्ग, चाहे वे किसी भी आधार पर निर्मित क्यों न हुए हो, एक–दूसरे पर निर्भर रहते हैं। सामाजिक व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने हेतु आवश्यक होता है कि उनमें पारस्परिक निर्भरता बनी रहे। यदि ये वर्ग पूर्णतया स्वतंत्र हो जायेंगे तो सामाजिक व्यवस्था भंग हो जायेगी। उदाहरण के लिए एक शिक्षित वर्ग के सदस्यों का सम्बन्ध पूँजीगत वर्ग, मजदूर वर्ग, अशिक्षित वर्ग, व्यापारी वर्ग, कृषक वर्ग आदि सभी से होता है और वह सभी वर्गों पर निर्भर रहता है। इसी प्रकार सभी वर्ग एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं। संक्षेप में, वर्ग की एक महत्वपूर्ण विशेषता पारस्परिक निर्भरता है।

10. उपवर्गों का निर्माण– वर्ग व्यवस्था में भी प्रत्येक वर्ग के अन्तर्गत अनेक उपवर्ग उत्पन्न हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक वर्ग में अनेक उपवर्ग पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए श्रमिक वर्ग के अन्तर्गत बीड़ी श्रमिकों का वर्ग, अगरबत्ती श्रमिकों का वर्ग, मजदूरी करने वाले श्रमिक का वर्ग, फैक्ट्रियों व कारखानों में कार्यरत श्रमिकों का वर्ग आदि। ये सभी श्रमिक वर्ग के ही उपवर्ग है।

वर्ग निर्धारण के प्रमुख आधार

वर्ग निर्धारण के सम्बन्ध में समाज विज्ञानियों के विचारों में पर्याप्त भिन्नता है। कुछ समाजशास्त्री वर्ग निर्धारण का आधार सामाजिक व आर्थिक तत्वों को मानते है, तो कुछ विद्वान सांस्कृतिक पक्ष को मुख्य आधार मानते हैं। वास्तविकता तो यह है कि वर्गों का निर्माण विभिन्न आधारों पर हो सकता है, जैसे शिक्षा, व्यवसाय, लिंग, जाति, धर्म, सम्पत्ति, आय, राजनैतिक सत्ता, निवास का स्थान आदि। इनमें से प्रमुख आधारों की नीचे चर्चा की जा रही है–

1. आर्थिक स्थिति– आधुनिक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में वर्ग निर्धारण का आधार आर्थिक स्थिति है। व्यक्ति की आर्थिक स्थिति ही उसे एक विशिष्ट सामाजिक स्थिति प्रदान करने में सहयोगी होती है। व्यक्ति की आर्थिक स्थिति ही या तो उसका जीवन स्वर्ग में गुजारने की स्थिति कर देती है या उसका जीवन नरक से भी बदतर स्थिति में गुजारने को मजबूर कर देती है। आर्थिक स्थिति के आधार पर ही समाज में उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग व निम्न वर्गों का उदय हुआ है। आर्थिक स्थिति किस प्रकार वर्ग निर्धारण का आधार बनाती है, इसके सम्बन्ध में कार्ल मार्क्स व मैक्स वेबर ने बहुत सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की है।

2. व्यवसाय की प्रकृति– व्यवसाय की प्रकृति भी वर्ग निर्धारण करने का एक महत्वपूर्ण आधार हैं भारतीय समाज में तो प्राचीनकाल से ही व्यवसाय को समाज के स्तरीकरण का आधार माना गया है। व्यवसाय की प्रकृति के आधार पर विभिन्न वर्गों का उदय हुआ तथा व्यवसाय की समानता के आधार पर आधुनिक युग में विभिन्न वर्ग बने। उदाहरण के लिये शिक्षक का पेशा निश्चित रूप से मजदूरी का पेशा अपनाने वाले से ऊँचा व अलग होता है। व्यवसाय की प्रकृति ही व्यक्तियों में ऊँच नीच की भावना तथा अपने व्यवसाय से सम्बन्धित सदस्यों के प्रति प्रेम, सहानुभूति, सहयोग व आत्मीयता की भावना को जन्म देती है। अतः व्यवसाय की प्रकृति वर्ग निर्धारण का आधार है।

3. निवास स्थान का आधार– वर्ग निर्धारण में निवास करने का स्थान भी महत्वपूर्ण है। प्रत्येक शहर एवं गाँव

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

विभिन्न हिस्सों में बॅटा रहता है, जिन्हें कि मोहल्लों, वार्डो व विभिन्न क्षेत्रो के नाम से जाना जाता है। समाज के सदस्यों के मन में इन क्षेत्रों के प्रति एक विशेष प्रकार का दृष्टिकोण बन जाता है और एक विशेष प्रकार की भावना होती है और इसी के आधार पर वहाँ निवास करने वालों की स्थिति का निर्धारण किया जाने लगता है। उदाहरण के लिए सिविल लाइन, सर्राफा बाजार, मेन बाजार आदि ऐसे क्षेत्रो के उदाहरण हैं जिनके साथ आर्थिक सुदृढता की भावना जुड़ी रहती है और इन क्षेत्रों के निवासियों को आर्थिक दृष्टि से उच्च वर्ग का माना जाता है। इसी प्रकार लेबर कॉलोनी, झुग्गी–झोपड़ियों का मोहल्ला, चमरोला, बसुरयाना आदि ऐसे क्षेत्र है जिनमें रहने वालों में मुख्यतः निम्न वर्ग के या गरीब व्यक्ति होते हैं। अतः व्यक्ति अपनी स्थिति के अनुसार ही रहने के स्थान का चयन करता है। निवास स्थान का आधार भी वर्ग निर्धारण करता है।

4. शिक्षा– शिक्षा अर्थात् ज्ञान प्राचीन समय से ही सामाजिक प्रतिष्ठा का एक महत्वपूर्ण आधार माना जाता रहा है। एक विचारक के अनुसार, "ज्ञान (शिक्षा) मनुष्य का तीसरा नेत्र है।" शिक्षा वह महत्वपूर्ण माध्यम है जो व्यक्ति के स्वाभाविक गुणों का विकास करती है तथा उसे सामाजिक व्यवहार करने योग्य बनाती है। अतः स्पष्ट है कि शिक्षा की क्षमता या अक्षमता के आधार पर वर्गों का निर्माण होता है और समान दृष्टिकोण रखने वाले एक वर्ग विशेष के सदस्य हो जाते हैं। उदाहरण के लिये शिक्षित वर्ग व अशिक्षित वर्ग।

5. धर्म– भारतीय समाज में धर्म अनादिकाल से सामाजिक महत्व का विषय रहा है और विभिन्न वर्गों का आधार बना रहा। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासनकाल के समय सम्पूर्ण भारतीय समाज हिन्दू, मुस्लिम व अंग्रेज वर्ग में विभक्त था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् सर्वधर्म स्वभाव के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया, किन्तु आज भी हिन्दू वर्ग, मुस्लिम वर्ग, सिख वर्ग, क्रिश्चियन वर्ग के रूप में समाज विभक्त है।

6. जाति– जाति भी वर्ग निर्धारण का एक मुख्य आधार है। जिसके आधार पर वर्तमान समय में विभिन्न जातीय वर्ग देखे जा सकते हैं। जाति में भी उच्चता एवं निम्नता की भावना समाहित रहती है। इस प्रकार जाति भी वर्ग निर्धारण का एक महत्वपूर्ण आधार है।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि वर्ग–निर्धारण के विभिन्न आधार हैं जो कि समाज को विभिन्न स्तरों या भागों में बॉटते हैं। राबर्ट बीरस्टीड ने वर्ग–निर्धारण के आधारों को निम्न सात प्रकार से स्पष्ट किया है– 1. सम्पत्ति, धन, पूँजी या आय, 2. परिवार या रक्त समूह, 3. निवास का स्थान, 4. निवास की अवधि, 5. पेशा, 6. शिक्षा, 7. धर्म। जबकि थार्सटीन वेब्लन ने समाज को चार प्रमुख वर्गों में बॉटा है– (अ) परजीवी या अनुत्पादक विलासी वर्ग, (ब) पुराने रईस या नवाब (धनाढ्य वर्ग), (स) नवधनाढ्य या सट्टेदार, (द) उत्पादक श्रमजीवी वर्ग। वेब्लन का कहना है कि प्रत्येक वर्ग अपने से उँचे वर्ग में पहुँचने हेतु आकर्षक व विलासितापूर्ण वस्तुओं का उपयोग अधिक से अधिक करता है। संक्षेप में, कहा जा सकता है कि वर्ग निर्धारण के लिए किसी एक आधार को स्वीकार नहीं किया जा सकता। वर्ग निर्धारण के विभिन्न आधार है।

नवीन वर्ग व्यवस्था (अथवा) वर्ग व्यवस्था के नये आयाम

भारतीय सामाजिक व्यवस्था के स्तरीकरण का प्रमुख आधार वर्ग व्यवस्था ही रही है। आधुनिक समाज में बढते औद्योगीकरण, नगरीकरण, शिक्षा, तथा विभिन्न राजनीतिक एवं अन्य आन्दोलनों के कारण परम्परागत वर्ग व्यवस्था में परिवर्तन आया है। कई नये वर्गों का जन्म हुआ है, और पुराने वर्गों का लोप भी। वर्तमान समाज में विद्यमान प्रमुख नवीन वर्ग व उनकी भूमिका को निम्नानुसार समझा जा सकता है।

1. बुद्धिजीवी वर्ग–पाश्चात्य शिक्षा, संस्कृति एवं नवीन विचारधाराओं के प्रभाव से विवेकवाद, जनतंत्रवाद, विज्ञानवाद आदि मूल्यों पर आधारित नये भौतिक वर्गों का उदय हुआ है। इससे राजा राममोहन राय व उनके द्वारा स्थापित ब्रह्म समाज का 'बौद्धिक' वर्ग अग्रणी था। वास्तविकता यह थी कि इस देश में आधुनिक शिक्षा व वैज्ञानिक ज्ञान का जैसे–जैसे विस्तार होता गया, उसी के साथ–साथ बुद्धिजीवी वर्ग का आकार भी बढ़ गया। फलतः आज शिक्षकों, सामाजिक विचारकों, दार्शनिकों, वैज्ञानिकों, शोधकर्ताओं, पत्रकारों आदि के एक विशाल बुद्धिजीवी वर्ग को इस देश में देखा जा सकता है। कुछ भी हो, इस बुद्धिजीवी वर्ग ने भारतीय समाज–व्यवस्था को संगठित व स्वस्थ रूप देने में अपना महत्वपूर्ण योगदान किया है। स्मरण रहे कि इस देश में सभी समाज सुधार व धर्म–सुधार, यहाँ तक कि राजनैतिक राष्ट्रीय आन्दोलन इसी बुद्धिजीवी वर्ग के द्वारा ही प्रारम्भ किये गए।

2. शासक वर्ग– इस वर्ग के अन्तर्गत सत्तारूढ राजनीतिक दल के लोग आते हैं। ये शासन व्यवस्था में विभिन्न पदों पर रहते हुए शासन तन्त्र का संचालन करते हैं। लोकतान्त्रिक व्यवस्था में कई बार इस वर्ग के लोगों में बदलाव होता रहता है। कभी किसी राजनीतिक दल के लोग शासन वर्ग में आते है, तो कभी किसी अन्य दल के। इस वर्ग का प्रमुख कार्य देश का आर्थिक एवं सामाजिक विकास में योगदान करना होता है। यह वर्ग अपने इस उद्देश्य की पूर्ति में लगा भी रहता है और कई रूपों में उसे सफलता भी मिली है। पर वर्तमान में देश राजनीति के गिरते स्तर, भाई–भतीजावाद, भ्रष्टाचार, बेईमानी तथा सत्ता–लोलुपता की भावना ने इस वर्ग की कार्यप्रणाली को कलुषित कर दिया है।

3. मजदूर या श्रमिक वर्ग– भारत की कुल आबादी का लगभग एक–तिहाई भाग इसी वर्ग के अन्तर्गत आता है। यह मेहनतकश, सर्वहारा लोगों का वर्ग है जिसके पास

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

रोटी–रोजी कमाने के लिए अपने 'श्रम' के अलावा कुछ भी नहीं होता। इसीलिए इस वर्ग के सदस्य मिल और कारखानों में काम करते है, खानों एवं चाय–बागानों में दिन–रात मेहनत करते हैं, रिक्शा, ठेला, टैक्सी या बस चलाते, खेतों में काम करते हैं। भारत में आर्थिक तौर पर उनकी स्थिति बहुत ही गिरी हुई है। इन्हें न तो उचित भोजन मिलता है, न पूरे कपड़े और न ही समुचित विकास।

4. कृषक वर्ग– सामन्यतः कृषक वर्ग को भी श्रमिक वर्ग का ही एक उपभाग माना जा सकता है, फिर भी भारतीय समाज के सन्दर्भ में इस वर्ग का पृथक् उल्लेख इस कारण जरूरी है क्योंकि भारत एक कृषि प्रधान देश है और आज भी इस देश की कुल जनसंख्या की लगभग 75 प्रतिशत जनता गाँवों में निवास करती है एवं देश के कुल श्रमिकों या श्रम शक्ति का लगभग 65 प्रतिशत लोग कृषक है। खेती करना ही इस वर्ग के सदस्यों का मुख्य पेशा है। यह वर्ग पहले भी था, आज भी है, परन्तु आधुनिक भारत में इसके स्वरूप व प्रकृति में पर्याप्त परिवर्तन हो गया है। दूसरे शब्दों में, यंत्रीकरण, आधुनिकीकरण, लौकिकीकरण एवं राजनीतिकरण का कुछ–न–कुछ प्रभाव ग्रामीण समदायों में रहने वाले इस वर्ग के सदस्यों पर पड़ा है फिर भी यह वर्ग भारतीय अर्थव्यवस्था की प्राण शक्ति है।

5. पूँजीपति वर्ग– इस वर्ग के अन्तर्गत बड़े–बड़े उद्योगपति, मिल–कारखानों, खानों तथा व्यावसायिक घरानों के मालिक आते हैं। इसी वर्ग को कार्ल मार्क्स ने 'शोषक वर्ग' की संज्ञा दी है।

यह वर्ग सम्पूर्ण देश की अर्थव्यवस्था की कुंजी को अपनी मुट्ठियों में बन्द रखता है और इसी कारण देश के आर्थिक क्रियाकलापों, उत्पादन, वितरण आदि पर इसका पूर्ण नियन्त्रण होता है, यहाँ तक कि सरकार की आर्थिक नीतियों का दिशा–निर्धारण इन्हीं के इशारे पर होता है। अपनी विशाल आर्थिक शक्ति के कारण इस वर्ग में सरकार पर अनुचित दबाव तक डालने की क्षमता होती है। यह विलासी–वर्ग भी है, खूब ऐश–आराम की जिन्दगी बिताता, दृष्टि–आकर्षण उपभोग और बरबादी भी करता है। यही वर्ग चुनाव के समय अपनी स्वार्थ–सिद्धि के लिए चुनाव फण्ड में बहुत बड़ी रकम चन्दे में देता है और यही वर्ग करोड़ों रुपये के आय–करों व सम्पत्ति–करों की चोरी भी करता है। वर्तमान भारत में जो औद्योगीकरण की प्रक्रिया क्रियाशील है वह वास्तव में इसी वर्ग की देन है। इसके अन्तर्गत मुख्यतः बड़े थोक व्यापारी आते हैं जो कि वस्तुओं के उत्पादक व उपभोक्ता के बीच एक कड़ी का काम करते हैं। अपने आर्थिक हितों की रक्षा के लिए यह वर्ग कुछ भी कर सकता है। जमाखोरी, मुनाफाखोरी तथा कालाबाजारी इस देश के व्यापारी वर्ग के कार्य हैं। यह वर्ग प्रचार या व्यापारिक विज्ञापनों के माध्यम से लोगो की रुचि, पसन्द तथा फैशन को बदलने में सहायक होता है और लोगों को देश–विदेश के नये–नये उत्पादनों के सम्बन्ध में जानकारी देकर उन्हें 'अप टू–डेट' बनने में मदद करता है। यही वर्ग व्यापार के नये'नये तरीकों को खोजकर नये परिवर्तनों को लाने में मददगार सिद्ध होता है।

6. स्वतन्त्र पेशों में लगा अभिजात वर्ग– इस वर्ग के अन्तर्गत डॉक्टर, वकील, कलाकार आदि आते हैं जो कि किसी के नौकर के रूप में काम न करके स्वतंत्र रूप में अपने कार्य व कर्तव्यों को करते रहते हैं। यह वर्ग किसी न किसी रूप में जनसेवा कार्य में लगा रहता है। किन्तु देश के सामान्य नैतिक पतन का प्रभाव इस वर्ग पर भी पडा है और इसके भी अधिकांश सदस्य सस्ते व आसान ढंग से पैसा कमाने की फिराक में रहते हैं। इसका सामाजिक महत्व अत्यधिक है क्योंकि यह भी बुद्धिजीवी वर्ग का ही एक अंग है और अपने ज्ञान व तर्क के आधार पर अनेक सामाजिक परिवर्तनों को लाने में सहायक हो सकता है। स्वतंत्र व्यवसाय में लगा एक विशिष्ट वर्ग तस्करों (Smugglers) का है, जो कि चोरी–छिपे सोना, कपड़ा, विदेशी मुद्रा, फिल्म आदि असंख्य चीजों को विदेशों से इस देश में ले आते और इस देश से विदशों को ले जाते हैं। इस वर्ग का संगठन अत्यन्त ही सुदृढ़, सुव्यवस्थित एवं गोपनीय है। ये करोड़ो का सौदा करते हैं और इनका उच्चतम नेता एक सम्राट से कम हैसियत का नहीं होता। कहते हैं कि देश में इस वर्ग ने सरकार के समानान्तर अर्थव्यवस्था को चला रखा है और अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर इनका कारोबार चलता रहता है यह तस्करों का वर्ग, देश का सबसे बड़ा दुश्मन है क्योंकि यह देश को परिवर्तन की स्वस्थ दिशा से पथभ्रष्ट कर देता है।

7. नौकरशाह वर्ग– नौकरशाह वर्ग एक प्रकार का संस्तरणात्मक संगठन है जिसका प्रमुख उद्देश्य बड़े पैमाने पर प्रशासनिक कार्य को चलाने के लिए अनेक व्यक्तियों व विशेषज्ञों के कार्यों में तर्कसंगत रूप में समन्वय करना होता है। सरकारी सचिवालय के कर्मचारी, अथवा जिला स्तर पर कलेक्टर आदि नौकरशाह वर्ग के ही सदस्य होते हैं। यह वर्ग उन संगठित कर्मचारियों का बोध करवाता है जो कि सरकार के एक स्थायी अंग के रूप में निरन्तर शासन–प्रबन्ध से सम्बन्धित कार्यों को करता रहता है और सरकार के बदल जाने पर भी उस पर कोई ऑच नहीं आती। भारत में इस वर्ग का प्रशासनिक कार्यों को चलाने में महत्वपूर्ण योगदान होता है।

जाति और वर्ग के मध्य अन्तर

जाति व वर्ग के सम्बन्ध में पूर्व की गई विवेचना से स्पष्ट है कि जाति व वर्ग में अनेक विभिन्नताएँ है जिन्हें कि विभिन्न आधार जैसे कि सदस्यों की स्थिति में गतिशीलता, व्यवसाय, विवाह, पारस्परिक सम्बन्ध प्रमुख है, के द्वारा समझा जा सकता है। जाति व वर्ग में अन्तर बताते हुए श्री मजूमदार और मदान ने तो संक्षेप में स्पष्ट किया है कि "जाति एक बन्द वर्ग है, जबकि वर्ग एक खुली हुई जाति है।" जाति और वर्ग दोनों ही

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

सामाजिक स्तरीकरण के प्रमुख आधार है।

रजनीकान्त शास्त्री ने लिखा है कि ''जाति प्राकृतिक है, पर वर्ग कृत्रिम है, जाति जन्म द्वारा प्राप्त आकृति– विशेष पर किन्तु वर्ग वैयक्तिक गुण–कर्म पर आश्रित रहता है।'' संक्षेप में जाति व वर्ग के मध्य निम्न अन्तर होता है–

1. जाति में व्यक्तियों की सामाजिक स्थिति का आकलन जन्म के आधार पर किया जाता है। जाति जन्म की स्थिति की सूचक है। जबकि वर्ग में व्यक्तियों की स्थिति का निर्धारण उनके वैयक्तिक गुणों, आर्थिक गुणों आदि के आधार पर होता है। अतः स्पष्ट है कि जाति जन्म की स्थिति तथा वर्ग गुण–धर्म द्वारा प्राप्त वर्ग स्थिति का सूचक है, जो व्यक्ति अपनी कुशलता के आधार पर प्राप्त करता है।
2. जाति की सदस्यता चुंकि प्रदत्त होती है, इसलिए इसके सदस्य कितने भी कुशल व योग्य क्यों न हों, उच्च जाति को ग्रहण नहीं कर सकते, अर्थात् जाति में गतिशीलता नहीं होती। इसके विपरीत वर्ग की सदस्यता हेतु वैयक्तिक गुणों का विशेष महत्व होता है तथा इसकी सदस्यता अर्जित की हुई होती है इसलिए वर्ग के आधार चाहे पूर्वजों द्वारा प्राप्त हो या स्वयं अर्जित किये गये हों, वे व्यक्ति को पूर्ण परिवर्तित करने में सहायक बनते है, अर्थात् वर्ग में गतिशीलता का गुण पाया जाता है।
3. जाति के अन्तर्गत प्रत्येक जाति का व्यवसाय पूर्व से ही निश्चित होता है, तथा जातीय सदस्यों से आशा की जाती है कि वे परम्परागत व्यवसाय ही करें किन्तु वर्ग में ऐसा कोई नियम नहीं रहता और उसके सदस्य भिन्न–भिन्न व्यवसाय या पेशों को करते हैं। अतः कहा जा सकता है जाति में व्यावसायिक गतिशीलता का अभाव पाया जाता है, जबकि वर्ग में व्यवसायिक गतिशीलता पाई जाती है।
4. जाति अपने सदस्यों पर जाति के बाहर विवाह सम्बन्ध स्थापित करने पर कठोर नियन्त्रण लगाती है तथा नियन्त्रण को तोड़ने वालों के लिए दण्ड का प्रावधान रहता है। इस प्रकार जाति अन्तर्विवाही समूह होता है। जबकि वर्ग में इस प्रकार के कोई नियम नहीं रहते, बल्कि विवाह के पूर्व वर्ग के सदस्य दोनों पक्षों (वर व वधू) की सामाजिक स्थिति, आर्थिक स्थिति व वैयक्तिक गुणों पर विशेष ध्यान देते हैं। वर्ग के सदस्य किसी भी जाति या धर्म में विवाह सम्बन्ध स्थापित करने हेतु स्वतंत्र होते हैं।
5. जाति विभिन्न माध्यमों से अपने सदस्यों के आचरण, व्यवहार व कार्यों पर प्रतिबन्ध लगाती है, किन्तु वर्ग अपने सदस्यों पर इस सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का नियन्त्रण नहीं रखता।
6. जाति के सदस्यों के मध्य पारस्परिक प्रेम, सहानुभूति, आत्मीयता व सहयोग के सम्बन्धों का विस्तार रहता है, क्योंकि जाति अपने सदस्यों के हितों व लाभों के लिए प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष कार्य करती है। किन्तु वर्ग के सदस्यों के मध्य दिखावटी, स्वार्थ पर आधारित सम्बन्ध पाये जाते है, तथा इनमें पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता, वैयक्तिक लाभ की प्रवृति पाई जाती है।
7. जाति व्यवस्था में विभिन्न, स्तरण पाये जाते हैं। साथ ही एक ही जाति विभिन्न उपभोगों या जातियों में विभक्त रहती है। उदाहरण के लिए ब्राह्मण जाति कान्यकुब्ज, मैथिल, सनाढ्य व झिझौतिया आदि उपजातियों में विभक्त है तो क्षत्रिय जाति, राजपूत, तोमर, राठौर, चौहान व ठाकुरों में विभक्त हो गई। इसी प्रकार वर्ग में भी विभिन्न स्तरण पाये जाते हैं, जैसे– उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग व निम्न वर्ग। शासक वर्ग व शासित वर्ग, इत्यादि।
8. जाति व्यवस्था चूँकि एक बन्द वर्ग होती है तथा इसके सदस्यों पर विभिन्न प्रकार के नियन्त्रण होते हैं अतः ये अवसरों का उपयोग नहीं कर पाते और न इन्हें ऐसा करने की अनुमति ही रहती है। किन्तु वर्ग एक खुली हुई जाति (Caste) होती है जिसमें सदस्यों को अवसरों का उपयोग करने व लाभ उठाने का पूर्ण अधिकार रहता है।

उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि जाति और वर्ग दोनों पृथक–पृथक अवधारणाएँ है। जहाँ जाति परम्परागत स्थिति को प्रदर्शित करने में सक्षम है, वहीं वर्ग आधुनिक युग की देन कहे जा सकते हैं। संक्षेप में, जैसा कि मजूमदार और मदान का कहता है कि ''जाति एक बन्द वर्ग है, तथा वर्ग एक खुली हुई जाति।

प्रजाति

प्रजाति से संबंधित समस्या ने विश्व में अनेकों बार उग्ररूप धारण कर लिया हैं। विश्व के महानतम व्यक्तियों को अपने जीवन से इस प्रजातिवाद के कारण हाथ धोना पड़ा हैं। अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन व जॉन, एफ. केनेडी इसी प्रजातीय दीवानेपन के शिकार हुए। काले–गोरों का संघर्ष आज भी अमेरिका में उग्र रूप में विद्यमान हैं। दक्षिण–अफ्रीका की रंगभेद नीति के कारण वह विश्व देशों की गिनती में आ गया हैं, जहॉ की जनता रंगभेद की दुर्भावनाओं से घिरी हुई हैं। ये सब संघर्ष प्रजाति के अर्थ को गलत दृष्टिकोण से देखने के कारण हैं।

प्रजाति के संबंध में गलत दृष्टिकोण

प्रजाति के संबंध में कई गलत धारणाएँ प्रचलित हैं। इन गलत धारणाओं ने ही प्रजातीय संघर्ष को जन्म दिया। ये गलत धारणाएँ निम्नलिखित हैं–

1. प्रजाति व राष्ट्र– कई बार प्रजाति का अर्थ राष्ट्र से लगा लिया जाता हैं। राष्ट्र के नाम पर ही प्रजाति का अर्थ

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

समझ कर भारतीय प्रजाति, अमेरिकन प्रजाति, पाकिस्तानी प्रजाति आदि नाम से समूह को प्रजातीय अर्थ में संबोधित किया जाता हैं। वास्तव में राष्ट्र का प्रजाति से कोई संबंध नहीं हैं। एक ही राष्ट्र में कई प्रजातीय तत्व पाये जा सकते हैं। प्रजाति का भौगोलिक क्षेत्र से कोई संबंध नहीं होता जबकि राष्ट्र का भौगोलिक क्षेत्र निश्चित रहता हैं।

2. प्रजाति व धर्म– कई बार प्रजाति का प्रयोग धर्म से संबंधित अर्थ में किया जाता हैं। धार्मिक समूहों के रूप में प्रजाति सम्बोधन किया जाता हैं। जैसे हिन्दू प्रजाति, ईसाई प्रजाति, इस्लाम प्रजाति आदि। वास्तव में धर्म व प्रजाति, का कोई संबंध नहीं होता। एक ही प्रजाति के लोग अलग–अलग धर्मों का पालन कर सकते हैं। इसी प्रकार एक ही धर्म को मानने वाले अलग–अलग प्रजातियों के लोग हो सकते हैं। धर्म एक सांस्कृतिक धारणा हैं जब कि प्रजाति एक प्राणीशास्त्रीय धारणा हैं।

3. प्रजाति व भाषा– कुछ लोग प्रजाति को भाषाई अर्थ में समझते हैं व हिन्दी प्रजाति, अग्रेंजी प्रजाति, उर्दू प्रजाति आदि नाम से सम्बोधित करते हैं। वास्तव में भाषा और प्रजाति का कोई संबंध नहीं हैं। एक ही प्रजाति के लोग विभिन्न भाषाओं का प्रयोग कर सकते हैं। इसी प्रकार एक ही भाषा का प्रयोग विभिन्न प्रजातियों के लोग कर सकते हैं। भाषा का संबंध संस्कृति से हैं जबकि प्रजाति का संबंध संस्कृति से नहीं।

4. प्रजाति एवं संस्कृति– कुछ लोग प्रजाति को सांस्कृतिक अर्थ में समझते हैं। परन्तु प्रजाति एक वंशानुक्रमण से संबंधित धारणा हैं। अतः इसका संबंध प्राणीशास्त्र से हैं जबकि संस्कृति सामाजिक विरासत हैं। अतः इसका संबंध सामाजिक रीति–रिवाजों, परम्पराओं व धारणाओं से हैं।

5. प्रजाति का वास्तविक अर्थ– प्रजाति एक प्राणीशास्त्र धारणा हैं। यह विशिष्ट वंशानुगत शारीरिक लक्षणों के आधार पर निश्चित की जाती हैं। समाज शारीरिक लक्षण वाले समूह को प्रजाति के नाम से पुकारा जाता हैं। ये शारीरिक लक्षण वंशानुक्रमण की प्रक्रिया से मानव समूह में हस्तान्तरित होते हैं।

प्रजाति की परिभाषा

विभिन्न विद्वानों एवं लेखकों ने प्रजाति की निम्नलिखित परिभाषाएँ हैं–

1. कोबर के अनुसार, ''प्रजाति एक प्रमाणित प्राणीशास्त्रीय धारणा हैं। यह एक समूह हैं जो कि वंशानुक्रमण वंश या प्रजातिय गुण या उपजाति के द्वारा सूचित हैं।''

2. हाबल के अनुसार, ''प्रजाति एक प्राणीशास्त्रीय समूह हैं। जो कि शारीरिक लक्षणों का एक विशिष्ट योग धारण करता हैं। ये लक्षण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में शुद्ध रूप में मिलते।''

3. रेमण्ड फर्थ के अनुसार, ''प्रजाति ऐसे मनुष्यों का समूह हैं जिनमें कुछ वंशानुगत सामान्य शारीरिक लक्षण पाये जाते हैं।''

प्रजाति की विशेषताएँ

1. प्रजाति एक प्राणीशास्त्रीय धारणा हैं।
2. प्रजाति का आधार वंशानुगत विशिष्ट सामान्य शारीरिक लक्षण हैं।
3. उन्हीं विशिष्ट सामान्य शारीरिक लक्षणों के आधार पर ही एक प्रजाति को दूसरी प्रजाति से अलग किया जा सकता हैं।
4. ये शारीरिक लक्षण सामान्य रूप से एक बड़े मानव समूह में पाये जाना चाहिये तभी उसे प्रजाति कहा जाता हैं। किसी एक परिवार में विशिष्ट शारीरिक लक्षण पाये जाने से उस परिवार को प्रजाति नहीं कहा जा सकता हैं।

प्रजाति के लक्षण

जैसा कि उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट हैं प्रजाति का निश्चय किसी मानव समूह में पाये जाने वाले विशिष्ट शारीरिक लक्षणों के आधार पर किया जाता हैं ये शारीरिक लक्षण वंशानुगत होते हैं व एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित होते रहते हैं। लक्षणों के इस प्रकार हस्तान्तरित होने को वंशानुक्रमण कहते हैं। वंशानुक्रमण से प्राप्त इन शारीरिक लक्षणों को दो भागों में विभक्त किया जाता हैं।

(A) निश्चित शारीरिक लक्षण

(B) अनिश्चित शारीरिक लक्षण

(A) निश्चित शारीरिक लक्षण

निश्चित शारीरिक लक्षणों से अर्थ हैं, वे शारीरिक लक्षण जो नापे जा सकते हों तथा जो पर्यावरण से बहुत कम प्रभावित होते हों। ऐसे लक्षणों में निम्न शारीरिक लक्षण आते हैं–

(1) शीर्ष देशना–निश्चित शारीरिक लक्षणों में प्रमुख रूप से शीर्ष देशना को ही मानवशास्त्रियों द्वारा अधिक महत्व दिया जाता हैं। क्योंकि सिर की बनावट अन्य सभी से अधिक स्थिर रहती हैं। सिर की बनावट पर पर्यावरण का बहुत ही कम प्रभाव पड़ता हैं। शीर्ष देशना की माप सिर की लम्बाई व चौड़ाई के आधार पर की जाती हैं। सिर की लम्बाई माथे में भौं की हड्डी की ऊपर नाक की रेखा में स्थित एक छोटे से गड्डे से सिर के पीछे तक माप कर निकाली जाती हैं। सिर की चौड़ाई कान के कुछ ऊपर से मापी जाती हैं। शीर्षदेशना निकालने के लिये निम्न सूत्र का प्रयोग किया जाता हैं–

$$\frac{\text{सिर की चौड़ाई}}{\text{सिर की लम्बाई}} \times 100$$

शीर्षदेशना की इस माप के अनुसार सिर की बनावट को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता हैं।

(i) लम्बा सिर–जिसकी देशना 75 से कम हो। नीग्रो लोगों का सिर इस श्रेणी में आता हैं।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

(ii) मध्य सिर–जिसकी देशना 75 से 80 तक हो। श्वेत लोगों का सिर इस श्रेणी में आता हैं।

(iii) चौड़ा सिर–जिसकी देशना 80 से अधिक हो। मंगोलियन लोगों का सिर इस श्रेणी में आता हैं।

(2) **नासिका देशनाः**–नसिका देशना नाक की चौड़ाई एवं लम्बाई की माप करके निकाली जाती हैं। इसकी माप के लिये निम्न सूत्र का प्रयोग किया जाता हैं–

$$\frac{\text{नाक की चौड़ाई}}{\text{नाक की लम्बाई}} \times 100$$

उपरोक्त माप के अनुसार नाक को भी तीन भागों में विभाजित किया जाता हैं–

(i) चौड़ी नाक–जिनकी देशना 85 से अधिक हो, जैसे नीग्रो लोगों की।

(ii) मध्य नाक या चपटी नाक–जिन नाकों के देशना 70 से 84.99 तक हों, जैसे मंगोलियनों की।

(iii) पतली व लम्बी नाम– जिन नाकों की देशना 70 से कम हो, जैसे श्वेत लोगों की।

(iv) खोपड़ी का घनत्व– इसकी माप मनुष्य की मृत्यु के बाद ही की जा सकती हैं। इसकी माप मनुष्य की खोपड़ी में रेत या सरसों भरकर की जाती हैं। इसकी माप बहुत कठिन हैं। सबसे अधिक घनत्व श्वेत लोगों में पाया गया। सबसे कम नीग्रों लोगों में पाया गया।

(3) **शरीर का कद**–

कद की माप सबसे सरल माप हैं। प्रत्येक प्रजाति में कद की विभिन्नता पाई जाती हैं। कद पर वंशानुगत के साथ ही पर्यावरण का भी प्रभाव पड़ता हैं। कद की माप के अनुसार टोपीनर्ड ने कद को निम्न रूप से विभाजित किया हैं–

(i) लम्बा कद–जिनका कद 2 मीटर 30 सेन्टीमीटर या इससे अधिक हो।

(ii) औसत से अधिक–जिनका कद 1 मीटर 65 सेन्टीमीटर से 2 मीटर तक का हो।

(iii) औसत कद–जिनका कद 5 फीट से 5 फीट 5 इन्च तक का हो।

(vi) छोटा कद–जिनका कद 5 फीट से कम हो। सबसे कम अफ्रीका के बुशमेनों का पाया गया। इनका कद 4 फीट से लेकर 4 फीट 6 इन्च तक पाया गया।

रक्त समूह

मानव शरीर में पाये जाने वाले रक्त समूह को चार भागों में विभक्त किया जाता हैं–

A, B, AB व O। लाल रक्त कोषों में A व B नामक तत्व होतें हैं। वैसे तो प्रत्येक प्रजाति में चारों प्रकार के रक्त समूह वाले मनुष्य पाये जाते हैं परन्तु मात्रा प्रत्येक समूह की अधिक या कम हो सकती हैं। किसी समूह में A रक्त समूह की मात्रा अधिक होती हैं। किसी में B की। इस प्रकार रक्त समूह को भी प्रजातीय निर्धारण में महत्व दिया जाता हैं।

(B) अनिश्चित शारीरिक लक्षण

अनिश्चित शारीरिक लक्षण से अर्थ हैं ऐसे शारीरिक लक्षण जिनको मापा नहीं जा सकता। साथ ही जिन पर पर्यावरण का प्रभाव भी अधिक पड़ता हैं। अनिश्चित शारीरिक लक्षणों में निम्न लक्षण सम्मिलित किये जाते हैं–

1. त्वचा का रंग

त्वचा का रंग बड़ी सरलता से पहचाना जा सकता है। चार्ल्स डारविन ने मानव समूहों की सभी विशेषताओं का आधार त्वचा के रंग को माना है। त्वचा के रंग के आधार पर मानव समूह को तीन बड़े भागों में विभक्त किया जाता है–

(i) श्वेत वर्ण वाले लोग

(ii) पीले वर्ण वाले लोग

(iii) श्याम वर्ण वाले लोग

2. बालों की बनावट

बालों की बनावट दूसरा अनिश्चित शारीरिक लक्षण है जिसके आधार पर प्रजाति का निर्धारण किया जाता है। बालों की बनावट के अनुसार बालों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है–

(i) सीधे मुलायम बाल–जो बाल सीधे हों व नीचे की तरफ झुक आयें हों, वे सीधे व मुलायम बाल होते हैं। चीनी व अन्य पीले रंग वाले लोगों के बाल इसी प्रकार के होते हैं।

(ii) चिकने घुंघराले बाल–ये बाल चिकने, घुंघराले व कुछ कड़े होते हैं। पश्चिमी एशिया, यूरोप, भारत, आस्ट्रेलिया आदि लोगों के बाल इसी प्रकार के होते हैं।

(iii) मोटे ऊनी बाल– ये बाल भेड़ की ऊन की तरह मोटे होते हैं। नीग्रो प्रजाति के बाल इसी प्रकार के होते हैं।

3. बालों का रंगः–

अनिश्चित शारीरिक लक्षणों में बालों का रंग भी आता हैं। रंग के अनुसार बालों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है।

(i) भूरे बाल– यूरोप के लोगों विशेषकर ब्रिटेन व अमेरिका के लोगों के बाल भूरा रंग लिये हुए होते हैं।

(ii) काले बाल– भारत व शेष यूरोप के लोगों के बाल काले होते हैं।

(iii) लाल रंग के बाल– आयरलैंड, वेल्स, स्काटलैंड, फिनलैंड आदि के निवासियों व यहूदियों के बाल लाल रंग के होते हैं।

4. आँखों की बनावट

आँखों की बनावट के आधार पर आँखों को तीन भागों में विभक्त किया जाता हैं।

(i) सीधी आँखें– साधारणतः इस प्रकार की आँखें सभी प्रजातियों में पाई जाती हैं।

(ii) टेढ़ी–तिरछी बादाम के आकार की आँखे– इस प्रकार की आँखें मंगोलियनों में पाई जाती हैं।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

(iii) गोल आँखें– सभी प्रजातियों में कुछ लोग इस प्रकार की आँखों के पाये जाते हैं।

इसके अतिरिक्त बनावट के आधार पर आँखों को दो और भागों में विभक्त किया जा सकता हैं–

(a) छोटी आँखें; (b) बड़ी आँखें।

5. आँखों का रंग

रंग के आधार पर आँखों को 4 भागों में विभक्त किया जा सकता हैं–

(i) सफेद– भारत में प्रायः सभी की आँखें इसी प्रकार की हैं।

(ii) नीली– यूरोपियंस व अमेरिका के लोगों का रंग नीला होता है।

(iii) पीली– मंगोली लोगों की आँखों का रंग पीला होता हैं।

(iv) काली– सभी प्रजाति के लोगों में इस प्रकार की आँखें पाई जाती हैं।

6. ओंठ

प्रजाति के निर्धारण में ओंठों का इतना महत्व नहीं हैं फिर भी यह एक लक्षण है जिसका कभी–कभी प्रजाति के निर्धारण में प्रयोग किया जाता हैं। साधारणतः ओंठों को दो भागों में विभक्त किया जाता हैं।

(i) पतले ओंठ– आर्य व अमरीकन लोगों के ओंठ पतले होते हैं।

(ii) मोटे ओंठ– नीग्रो लोगों के ओंठ मोटे होते हैं।

इन्हीं निश्चित व अनिश्चित शारीरिक लक्षणों के आधार पर प्रजाति का निश्चय किया जाता है। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि प्रजाति का निश्चय किसी एक शारीरिक लक्षण के आधार पर नहीं किया जा सकता। समस्त लक्षणों के सम्मिश्रण के आधार पर प्रजाति का निश्चय किया जाता है। किसी एक परिवार में पाये जाने वाले सामान्य शारीरिक लक्षणों से उस परिवार को ही प्रजाति का नाम नहीं दिया जा सकता। एक बड़े समूह में विशिष्ट शारीरिक लक्षण होने पर ही उसे प्रजाति कहा जा सकता है।

विश्व की प्रजातियाँ

प्रजाति एक प्राणिशास्त्रीय धारणा हैं। प्रजाति का वर्गीकरण शारीरिक लक्षणों के आधार पर किया जाता है। विभिन्न विद्वानों ने प्रजाति के वर्गीकरण दिये हैं। प्रमुख वर्गीकरण निम्न हैं–

(A) क्रोबर का वर्गीकरण

क्रोबर ने प्रजातियों को मुख्यतः तीन भागों में विभक्त किया है। इन तीनों भागों को फिर विभिन्न उपविभागों में बाँटा हैं। कोबर का वर्गीकरण इस प्रकार है–

1. काकेशायड

(i) नार्डिक (ii) अल्पाइन (iii) भूमध्यसागरीय (iv) हिन्दू

2. मंगोलायड

(i) मंगोलियन (ii) मलेशियन (iii) अमेरिकन इण्डियन

3. नीग्रोयड

(i) नीग्रो (ii) मलेशियन (iii) पिग्मी ब्लेक (iv) बुशमैन

(B) बील्स एवं हाइजर का वर्गीकरण

इन्होंने प्रजातियों को तीन प्रमुख व 9 उपविभागों में बाँटा है। इनका वर्गीकरण इस प्रकार है–

1. काकेशायड

(i) अल्पाइन (ii) आर्मिनाइड (iii) भूमध्यसागरीय (iv) नार्डिक

2. मंगोलायड

(i) एशियाटिक मंगोलाइड (ii) इण्डोनेशियन मलय (iii) अमेरिकन इण्डियन

3. निग्रोयड

(i) फारेस्ट नीग्रो (ii) नीग्रिटो

(3) हक्सले का वर्गीकरण

इन्होंने प्रजातियों के पाँच प्रमुख प्रकार बताये व उपजातियों का कोई वर्णन नहीं किया। इनके अनुसार समस्त मानव जाति निम्न पाँच प्रजातियों में विभाजित की जा सकती हैं–

1. आस्ट्रेलायड
2. नीग्रोयाड
3. मंगोलायड
4. केन्थोक्राइक
5. मेलेनोक्राइक

लिंग (जेण्डर)

सामान्य बोलचाल की भाषा में लिंग का अर्थ शारीरिक संरचना संबंधी विभेदों से हैं जो कि नर तथा नारी के मध्य पाये जाते हैं। अध्ययन की दृष्टि से लिंग और व्यापक रूप में हमारी जैवकीय संरचना जीन्स का परिणाम हैं। पुरुष तथा स्त्री की व्यवहार असमानता क्या लिंग का परिणाम हैं? इस बारे में काफी विभिन्नता पाई जाती है। कई विद्वान स्त्री–पुरुष को एक–दूसरे का पूरक मानते हैं तो कई विद्वान स्त्री–पुरुष के मध्य पाये जाने वाले व्यवहार विभेद जो कि किसी–किसी रूप में सभी संस्कृतियों में पाये जाते हैं तथा कुछ विद्वान स्त्री–पुरुष के बीच पाये जाने वाले श्रम–विभाजन को विभेद का कारण मानते हैं। स्त्री–पुरुष के मध्य विभेद के लिये भिन्न–भिन्न प्रकार की व्याख्यायें की हैं जो निम्नानुसार हैं।

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य– इस मत के समाजशास्त्रियों द्वारा विश्वास किया जाता हैं कि मानव व्यवहार संस्कृति द्वारा निर्धारित एवं निर्देशित रहता हैं, मानदण्ड, मूल्य एवं भूमिकायें संस्कृति द्वारा निर्धारित एवं समाज द्वारा नियंत्रित रहती हैं। इस संबंध में लेवी स्ट्रास स्त्रियों की भूमिकाओं के बारे में यह मानते हैं कि समाज की रचना की प्रक्रिया के दौरान पुरुष ने आधिपत्य प्राप्त कर लिया। स्त्री ने अधीनता की स्थिति ग्रहण

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

कर ली। संस्कृति का विकास स्त्री–पुरुष के आपसी सहयोग से हुआ जिसके द्वारा पारिवारिक बंधन मजबूत हुए और समाज का निर्माण हुआ।

मारग्रेट मीड़ ने मानसिक गुणों एवं प्राणिशास्त्रीय कारकों या लिंग में क्या घनिष्ठ संबंध हैं ? इसे जानने के लिये तीन भिन्न–भिन्न प्रकार की जनजातियों टेनाम्बुली, मुण्डगुमेर तथा अरापेश आदि का अध्ययन किया।

सर हैनरी मेन ने पुरुष की सामाजिक प्रस्थिति एवं स्त्री के स्थान के बारे में लिखा हैं कि सामजिक संगठन का सार्वभौमिक रूप वह था जिसमें सत्ता का स्वरूप पितृसत्तात्मक था। प्रारंभ में परिवार ही समाज की इकाई था। पुरुष ने सदैव शासन का कार्य किया। अपवाद रूप से ही अस्थायी रूप से मानव समाज में मातृ सत्ता भी विद्यमान रही।

निष्कर्ष के रूप में मानवशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य इस बात पर बल देता है कि किसी भी मानव समाज में स्त्री और पुरुषों की भूमिकाओं के असमान वितरण के लिए संस्कृति ही मुख्य रूप से ही उत्तरदायी रहती है।

प्राणीशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के अनुसार स्त्री द्वारा किये जाने वाले समस्त कार्य, कम गतिशील तथा घर पर अधिक रहने के कारण स्त्री को गृह कार्य ही सौंपे गये जबकि पुरुष ने अपनी शारीरिक क्षमताओं के कारण कृषि कार्य तथा आखेट को ग्रहण किया तथा समाज में उच्च स्थान प्राप्त किया।

समाज में आज भी यह मान्यता है कि चौखट के बाहर के कार्य पुरुष को किए जाने चाहिए तथा चौखट के भीतर के कार्य स्त्री को करने चाहिए, वह रसोई, चक्की का कार्य करे क्योंकि उसे बच्चे को जन्म देने तथा लालन–पालन का कार्य करना है। टालकाट पारसंस ने भी परिवार में पिता की भूमिका को भावनात्मक नेतृत्त्व के रूप में चित्रित किया हैं। मुरडॉक ने अपने अध्ययन में सभी समाजों में लिंग आधारित श्रम–विभाजन पाया।

एंजिल्स इस मत के पुर विरोधी रहे कि स्त्री को ईश्वर ने कमजोर बनाया है। उन्होंने इतिहास के उदाहरणों द्वारा यह सिद्ध करने की कोशिश की हैं कि प्रारंभ से स्त्री समाज की एक स्वतंत्र एवं उत्पादन में समान रूप से भागीदार सदस्य थी और आगे चलकर वह पुरुष के अधीन व पुरुष पर निर्भर जीवन संगिनी बन गई। प्राचीन युग में स्त्री–पुरुषों का श्रम–विभाजन इस प्रकार से किया गया कि स्त्री और पुरुष दोनों को समान माना जाता था और उनके दो नये वर्ग बन गये– पुरुष शिकार करने व मछली मारने के उपयुक्त माना गया व स्त्री गृह कार्य के लिये।

विभिन्न सिद्धान्तों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि समाज में स्त्री को पुरुष की तुलना में निम्न प्रस्थिति के लिये अनेक कारक उत्तरदायी रहे हैं किसी एक कारक को स्त्री की पुरुष से निम्नता एवं अधीनता के लिये उत्तरदायी मानना एक प्रकार का निर्धारणवाद होगा जो कि समाजशास्त्रीय दृष्टि से कदाचित भी स्वीकार्य नहीं है।

सामाजिक प्रक्रियाएँ–

संस्कृति और समाज वास्तव में सामाजिक प्रक्रियाओं की ही उपज है। ये प्रक्रियाएँ ही सभी स्थानों और सभी अवसरों पर व्यक्ति और समूह के सम्बन्धों के स्वरूप को निर्धारित करके समाज को व्यवस्थित बनाती हैं। वास्तविकता यह है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति कुछ व्यक्तियों से मानसिक आधार पर सम्बन्ध अवश्य स्थापित करता है। ये सम्बन्ध कभी अप्रत्यक्ष होते हैं तो कभी इनका उद्देश्य दूसरे व्यक्तियों के व्यवहारों और विचारों को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करना होता है। सम्बन्धों के कारण व्यक्ति अन्य लोगों को भी प्रभावित करता है वरन् उनसे स्वयं भी प्रभावित होता है। समाजशास्त्र में इसे अन्तःक्रिया (State of Interaction) की स्थिति कहते हैं। जैसे अन्तःक्रियाएँ कभी व्यक्ति को व्यक्ति से या व्यक्ति को समूह से जोड़ती या पृथक करती हैं। समाज में घटित होने वाली ऐसी अन्तःक्रियाओं को ही हम सामाजिक प्रक्रियाएँ कहते हैं।

गिलिन व गिलिन ने अपनी पुस्तक कल्चरल सोशयोलॉजी में सामाजिक प्रक्रिया को परिभाषित करते हुए लिखा है कि ''सामाजिक प्रक्रियाओं से हमारा तात्पर्य अन्तःक्रिया करने के तरीके हैं। जिन्हें हम व्यक्तियों व समूहों के बीच सम्बन्धों के समय देखते हैं अथवा जब प्रचलित जीवन विधियों के परिवर्तन में व्यवधान पहुँचाते हैं।''

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार ''एक प्रक्रिया से तात्पर्य परिस्थिति में पहले से ही विद्यमान शक्तियों के कार्यरत होने से एक निश्चित तरीके से होने वाला निरन्तर परिवर्तन है।''

लुण्डबर्ग के अनुसार ''प्रक्रिया से तात्पर्य एक विशिष्ट और पूर्वानुमानित परिणाम की ओर से आने वाली सम्बन्धित घटनाओं की तारतम्यता से है।''

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सामाजिक प्रक्रिया के लिये सामाजिक अन्तःक्रिया एक आवश्यक तत्व है अर्थात् जब दो या दो से अधिक व्यक्ति परस्पर एक दूसरे से जिस प्रकार की अन्तःक्रिया करते हैं उसी प्रकार की सामाजिक प्रक्रिया का जन्म होता है।

सामाजिक प्रक्रिया की विशेषताएँ–

1. सामाजिक प्रक्रिया सामाजिक परिवर्तन से सम्बन्धित है।
2. सामाजिक प्रक्रिया मानवीय अन्तःक्रिया के परिणाम स्वरूप होती है जो, परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करती है।
3. सामाजिक प्रक्रिया के कई रूप होते हैं जैसे सहयोग, प्रतियोगिता, संघर्ष, व्यवस्थापन, आत्मसात आदि।
4. सामाजिक प्रक्रिया में निरन्तरता का गुण होता है।
5. सामाजिक प्रक्रिया के घटने के आन्तरिक व बाहरी कारण होते हैं।
6. सामाजिक प्रक्रियाओं की निश्चित क्रमबद्ध श्रेणियाँ होती है।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

7. विभिन्न प्रकार की सामाजिक प्रक्रियाएँ परस्पर सम्बन्धित होती है व दूसरे पर निर्भर होती है।
8. सामाजिक प्रक्रिया की प्रकृति सामाजिक होती है।
9. सामाजिक प्रक्रिया समाज की विभिन्न संस्थाओं के ढाँचों एवं कार्यों पर निर्भर करती है।
10. सामाजिक प्रक्रिया समय एवं स्थान सापेक्ष होती है।

सहयोग–

सहयोग एक एकीकरण करने वाली प्रक्रिया है। यह मानव समाज की सबसे महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। बिना सहयोग के समाज एक पल भी नहीं चल सकता है। सहयोग समाज के सामान्य उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। सहयोग समाज को संगठित करता है और व्यक्तियों को एकता के सूत्र में बाँधता है। वर्तमान जटिल समाजों में सहयोग की प्रक्रिया प्रत्येक स्तर पर अपना कार्य करता है।

सहयोग को परिभाषित करते हुए डेविस लिखते हैं कि ''एक सहयोगी समूह वह है जो ऐसे लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए मिल–जुल कर प्रयास करता है जिसको सब चाहते हैं।''

ग्रीन के अनुसार ''सहयोग दो या दो से अधिक व्यक्तियों के द्वारा कोई कार्य करने अथवा सामान्य रूप से इच्छित किसी लक्ष्य तक पहुंचने के लिए किया जाने वाला निरन्तर और सामूहिक प्रयास है।''

समाजशास्त्र के शब्दकोष के अनुसार ''सहयोग वह क्रिया है जिसके द्वारा अनेक व्यक्ति अथवा समूह सामान्य लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए अपने प्रयासों को अधिक संगठित रूप से एक दूसरे से सम्बन्ध करते हैं।''

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि सामाजिक अन्तःक्रिया का वह स्वरूप है जिसमें दो या दो से अधिक व्यक्ति किसी सामान्य लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए साथ साथ कार्य करते हैं और इस चेतना से प्रभावित रहते हैं कि वास्तविकता में वे सब एक है यही भावना सहयोग कहलाती है।

सहयोग की विशेषताएँ–

1. सहयोग एक सामाजिक प्रक्रिया है जो संघर्ष के विपरीत होता है।
2. सहयोग के माध्यम से समाज के सदस्य सामान्य लक्ष्य प्राप्त करने का प्रयास करते हैं।
3. सहयोग से सदस्यों का संयुक्तिकरण होता है।
4. सहयोग समाज को संगठित करता है।
5. सहयोग एक निरन्तर चलने वाला होता है।
6. सहयोग व्यक्तिगत प्रयत्न नहीं वरन् सामूहिक प्रयत्न है।
7. सहयोग सभी समाजों में देखने को मिलता है या है उसका स्वरूप कुछ भी हो।
8. सहयोग से समाज में एकीकरण की वृद्धि होती है।

प्रकार–

समाजशात्रियों ने सहयोग के भिन्न–भिन्न प्रकार बताये हैं जो निम्न हैं–

(अ) मैकाइवर और पेज ने सहयोग के दो प्रकार बताये हैं–

1. **प्रत्यक्ष सहयोग–**
   जब अनेक व्यक्ति अथवा समूह आमने–सामने (Face to Face) के सम्बन्धों द्वारा संगठित होकर कोई कार्य करते हैं तो ऐसे सहयोग को प्रत्यक्ष सहयोग कहते हैं। जैसे एक साथ मिलकर कई किसान एक साथ कृषि कार्य करते हैं तो उसे प्रत्यक्ष सहयोग कहेंगे।
2. **अप्रत्यक्ष सहयोग–**
   जब सहयोग करने वाले व्यक्तियों का उद्देश्य तो समान होता है लेकिन उस उद्देश्य को वे असमान कार्यों द्वारा पूरा करते हैं तो ऐसा सहयोग अप्रत्यक्ष सहयोग कहलाता है। श्रम विभाजन ऐसे सहयोग का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। जिसमें किसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उसके कार्यों को विभिन्न व्यक्तियों में विभाजित कर दिया जाता है।

(ब) ऑगबर्न और निमकॉफ द्वारा सहयोग के तीन प्रकार बताये हैं–

1. **सामान्य सहयोग–**
   जब कुछ व्यक्ति मिलकर समाज के सामान्य लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए कार्य करते हैं तो उसे सामान्य सहयोग कहते हैं। उदाहरण– हम भारतीय विभिन्न त्यौहारों को सामूहिक रूप से मनाते हैं।
2. **मित्रवत् सहयोग–**
   जब हम किसी विशेष आनन्द प्राप्ति के लिए एक दूसरे का सहयोग करते हैं तो ऐसे सहयोग को मित्रवत् सहयोग कहते हैं जैसे साथ में भ्रमण करना, गाना गाना आदि ।
3. **सहायता मूलक सहयोग–**
   इस प्रकार के सहयोग में पारस्परिक सहयोग की भावना पायी जाती है अर्थात् जब किसी विकट परिस्थितियों में पारस्परिक सहयोग की भावना पायी जाती है अर्थात् जब किसी विकट परिस्थिति में हम किसी की सहायता करते हैं तो ऐसे सहयोग को सहायता मूलक सहयोग कहते हैं। उदाहरण के लिए कहीं भूकम्प आता है तो भूकम्प से हम पीड़ितों की सहायता करते हैं तो ऐसा सहयोग सहायता मूलक सहयोग कहलाता है।

(स) ग्रीन ने सहयोग के तीन प्रकार बताये हैं–

1. **प्राथमिक सहयोग–**
   प्राथमिक सहयोग का सम्बन्ध प्राथमिक समूहों से है। इन समूहों में व्यक्ति और समूहों के स्वार्थों में कोई भिन्नता नहीं होती है। प्रत्येक व्यक्ति समूह के कल्याण

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

को अपना कल्याण मानता है। फलस्वरूप प्राथमिक समूहों के सदस्यों के बीच पाये जाने वाले सहयोग को ही हम प्राथमिक सहयोग कहते हैं जैसे परिवार, मित्र का साथ देना आदि।

2. **द्वैतीयक सहयोग–**
आधुनिक जटिल समाजों में द्वैतीयक सहयोग पाया जाता है। यह सहयोग व्यक्ति अपने या अपने समूह के विशिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए करता है। व्यक्ति दूसरे को इतना ही सहयोग देता है जितने से उसे अपने हितों को पूरा करने में सहायता मिल सके। जैसे राजनीतिक दल, शैक्षणिक संस्थाओं आदि में होता है।

3. **तृतीय सहयोग–**
जब समाज में समायोजन के लिए सहयोग करते हैं तब ऐसे सहयोग को तृतीय सहयोग कहा जाता है। यह सहयोग पूर्णतया अवसरवादी है।

प्रतिस्पर्द्धा–प्रतिस्पर्द्धा एक असहयोगी सामाजिक प्रक्रिया है जो विरोधी व्यवहार के द्वारा व्यक्ति को दूसरे के उद्देश्यों को पराजित करके अपने निजी स्वार्थों को पूरा करने का प्रोत्साहन देती है। आधुनिक समय में सामाजिक वर्गों के निर्माण में प्रतिस्पर्द्धा का महत्व सबसे आधारभूत है। प्रतिस्पर्द्धा में ईर्ष्या, द्वेष और कभी–कभी शोषण का भाव निहित होने के कारण इसे साधारणतया पृथक्करण की प्रक्रिया के अन्तर्गत ही सम्मिलित किया जाता है लेकिन प्रतिस्पर्द्धा की प्रक्रिया में न केवल व्यक्तियों वरन समाजों को भी विकसित करने की प्रेरणा दी है।

लुण्डबर्ग के अनुसार "लक्ष्य को प्राप्ति के लिये दो या अधिक व्यक्तियों या समूहों का साथ–साथ प्रयत्न ऐसी दशाओं में कि किसी एक व्यक्ति या समूह का उद्देश्य या प्राप्ति दूसरे के उद्देश्य या प्राप्ति के विरोध में हो, प्रतिस्पर्द्धा कहलाती है।"

बोगार्डस के अनुसार "प्रतियोगिता किसी ऐसी वस्तु को प्राप्त करने के विवाद को कहते हैं जो कि इतनी मात्रा में नहीं पाई जाती कि जिससे माँग की पूर्ति हो सके।

समाजशास्त्रीय कोष में प्रतिस्पर्द्धा को "किसी सीमित वस्तु के प्रयोग या आधिपत्य के लिये संघर्ष माना है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि प्रतिस्पर्द्धा सीमित लक्ष्यों को प्राप्त करते समय होने वाले विरोध का एक स्वरूप है।

विशेषताएँ–

1. प्रतिस्पर्द्धा में दो या दो से अधिक व्यक्तियों या समूहों का होना आवश्यक है।
2. प्रतिस्पर्द्धा में निरन्तरता का गुण विद्यमान होता है।
3. प्रतिस्पर्द्धा एक सर्वव्यापी तत्व है।
4. प्रतिस्पर्द्धा में सीमित लक्ष्य होते हैं।
5. प्रतिस्पर्द्धा में आंशिक अचेतनता होती है।
6. प्रतिस्पर्द्धा में अवैयक्तिकता होती है।

प्रकार–प्रतिस्पर्द्धा व्यक्ति के जीवन में हर क्षेत्र में देखने को मिलती है इसी आधार पर गिलिन और गिलिन ने प्रतिस्पर्द्धा के प्रकार बताये हैं जो निम्न हैं–

1. **आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा**
वर्तमान के आधुनिक युग में उपभोग, उत्पत्ति, विनिमय, वितरण आदि के क्षेत्र में पायी जाने वाली प्रतिस्पर्द्धा आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा कहलाती है। प्रत्येक उत्पादक गलाकाट (Cut-throat Competition) प्रतिस्पर्द्धा के द्वारा अपने हितों को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। उदाहरण के लिये बाजार में नहाने के कई प्रकार के साबुन विद्यमान हैं जिनमें विज्ञापनों के माध्यम से प्रतिस्पर्द्धा और अधिक बढ़ा दी गई।

2. **सांस्कृतिक प्रतिस्पर्द्धा–**
इस प्रकार की प्रतिस्पर्द्धा का आरम्भ दो संस्कृतियों के सम्पर्क से होता है जिसके फलस्वरूप दोनों सांस्कृतिक समूह अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं का अधिक से अधिक प्रसार करने के लिए एक दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा करते हैं। उदाहरण के लिए विभिन्न प्रदेशों का खान–पान, रहन–सहन, नृत्य आदि।

3. **पद और कार्य सम्बन्धी प्रतिस्पर्द्धा–**
वर्तमान में पद और कार्य सम्बन्धी प्रतिस्पर्द्धा तीव्र रूप में देखने को मिलती है। प्रत्येक व्यक्ति समाज में संवैधानिक रूप से उच्च से उच्च पद प्राप्त करना चाहता है क्योंकि समाज में उच्च पद के साथ सम्मान जुड़ा रहता है अर्थात् जो व्यक्ति जितने ऊँचे पद पर है, उसका सम्मान या प्रतिष्ठा भी समाज में उतनी ही अधिक होती है। ऐसा करते समय व्यक्ति दूसरे के हितों की परवाह नहीं करते हैं। उदाहरण के लिए प्रशासनिक सेवा में जाने वाला व्यक्ति प्रशासनिक पद को पाने के लिए दूसरों से प्रतिस्पर्द्धा करता है।

4. **प्रजातीय प्रतिस्पर्द्धा–**
प्रजातीय प्रतिस्पर्द्धा का तात्पर्य उस प्रतिस्पर्द्धा से है जो व्यक्ति में रंग, रूप, बनावट आदि के आधार पर की जाती है। हालांकि शारीरिक आधार पर कोई प्रजाति उच्च व निम्न नहीं होती है लेकिन फिर भी प्रजाति के आधार पर समाज में स्तरीकरण आज भी देखने को मिलता है। इस स्तरीकरण में सफेद चमड़ी वाले अपने आप को काली चमड़ी वालों से श्रेष्ठ मानते हैं और इसी आधार पर उनमें प्रतिस्पर्द्धा होती है।
प्रतिस्पर्द्धा में उपर्युक्त प्रकारों के अतिरिक्त वर्तमान समय में कई प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न हो गई है जैसे राजनीतिक प्रतिस्पर्द्धा, अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा आदि प्रतिस्पर्द्धा भी आधुनिक समाजों में देखने को मिलती है।

संघर्ष–समाज को पृथक्करण करने वाली प्रक्रियाओं में

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

संघर्ष सबसे महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। जिस प्रकार सभी समाजों में सहयोग पाया जाता है उसी प्रकार संघर्ष भी सभी समाजों में पाया जाता है। जब प्रतिस्पर्द्धा लक्ष्य से हटकर प्रतिस्पर्द्धा करने वालों पर केन्द्रित हो जाती है तो वह संघर्ष का रूप ले लेती है। अर्थात जब प्रतिस्पर्द्धा अनियंत्रित हो जाती है तो वह संघर्ष का रूप ले लेती है। इस स्थिति में व्यक्ति दूसरे व्यक्ति या समूह को हानि पहुंचाकर अपने हितों को पूरा करने का प्रयत्न करने लगता है। ऐसी स्थिति में समाज में नियन्त्रण के साधन मात्र दिखाने के लिए रह जाते हैं।

संघर्ष किसी व्यक्ति अथवा समूह द्वारा किया गया वह अर्थपूर्ण प्रयत्न है जो शक्ति, हिंसा, प्रतिकार अथवा विरोध के द्वारा अन्य व्यक्तियों अथवा समूह की क्रिया में बाधा डालता है। संघर्ष में क्रोध और घृणा की भावना ही नहीं वरन् हिंसा, आक्रमण, क्रूरता के तत्वों का भी समावेश होता है।

गिलिन व गिलिन के अनुसार "संघर्ष एक सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें विभिन्न व्यक्ति अथवा समूह अपने विरोधियों को हिंसा द्वारा अथवा हिंसा की धमकी देकर अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।"

प्रो. ग्रीन के अनुसार "संघर्ष किसी अन्य व्यक्ति अथवा व्यक्तियों की इच्छा का जान बूझकर विरोध करने, रोकने अथवा उसे शक्ति से पूर्ण कराने से सम्बन्धित प्रयत्न है।"

किंग्सले डेविस के अनुसार प्रतिस्पर्द्धा के परिवर्तित रूप को ही संघर्ष कहा है। आपके अनुसार "प्रतिस्पर्द्धा और संघर्ष में केवल मात्रा का ही अन्तर है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि संघर्ष व्यक्ति या समूह अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए दूसरे व्यक्ति या समूह को कार्य करने से हिंसा या हिंसा का दिखावा करके रोकने का प्रयास करता है।

विशेषताएं–

1. संघर्ष दो व्यक्तियों अथवा समूह के बीच होने वाले प्रयास हैं जिनमें प्रत्येक पक्ष हिंसा, विरोध, आक्रमण, उत्पीड़न अथवा घृणा के द्वारा दूसरे पक्ष के विचारों अथवा लक्ष्यों को नष्ट करने का प्रयत्न करता है।
2. संघर्ष उसी स्थिति में होता है जब एक व्यक्ति अथवा समूह के स्वार्थ और विचार दूसरे व्यक्ति अथवा समूह से बिलकुल भिन्न और कभी–कभी विरोधी होते हैं।
3. संघर्ष सदैव चेतन प्रक्रिया है जिसमें एक पक्ष दूसरे पक्ष की समस्त गतिविधियों का ध्यान रखते हुए करता है।
4. संघर्ष समय व स्थान सापेक्ष होता है।
5. संघर्ष में अस्थायित्व का गुण होता है अर्थात् वह निरन्तर नहीं रहता है।
6. संघर्ष अवसरवादिता पर निर्भर करता है।
7. संघर्ष सार्वभौमिक होता है अर्थात् यह कम या ज्यादा सभी समाजों में पाया जाता है।

संघर्ष के प्रकार–

1. **व्यक्तिगत संघर्ष–**
   व्यक्तिगत संघर्ष उसे कहते हैं जब संघर्षशील व्यक्तियों में व्यक्तिगत रूप से घृणा होती है तथा वह अपने स्वयं के हितों के लिए अन्य को शारीरिक हानि पहुँचाते हैं। इस प्रकार के संघर्ष में व्यक्ति एक दूसरे को समाप्त करने के लिए तैयार रहते हैं।
2. **प्रजातीय संघर्ष–**
   जब व्यक्ति शारीरिक भेदभाव के कारण व्यक्तियों का वर्गीकरण करता है तो उसे हम प्रजाति कहते हैं। यह संघर्ष समूहगत होता है। जैसे श्वेत व काले लोगों में संघर्ष।
3. **वर्ग संघर्ष–**
   ऐसे संघर्ष के बारे में कार्ल मार्क्स ने अपनी व्याख्या की है। उनके अनुसार समाज के हर युग में दो वर्ग रहे हैं और यह वर्ग हमेशा से ही संघर्षरत रहते हैं। इन वर्गों का निर्माण उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के आधार पर होता है। इसी आधार पर आपने वर्तमान में पूंजीपति व श्रमिक वर्ग की चर्चा की है जो आपस में अपने हितों के लिए संघर्ष करते हैं।
4. **राजनीतिक संघर्ष–**
   इस प्रकार के संघर्ष को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं–

(i) अन्तःदेशीय राजनीतिक संघर्ष–जब एक ही देश में विभिन्न राजनीतिक दल सत्ता प्राप्त करने के लिए या अपनी शक्ति प्रदर्शित करने के लिए दूसरे राजनीतिक दल से विरोध करता है तो ऐसा विरोध अन्तःदेशीय राजनीतिक संघर्ष कहलाता है। जैसे भारत में भारतीय जनता पार्टी, कांग्रेस, समाजवादी पार्टी, साम्यवादी पार्टियों में होने वाला संघर्ष।

(ii) अन्तर्देशीय राजनीतिक संघर्ष–जब एक देश का दूसरे देश के साथ संघर्ष होता है तो ऐसे संघर्ष को अन्तर्देशीय राजनीतिक संघर्ष कहते हैं। जैसे भारत व पाकिस्तान में होने वाला संघर्ष।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने के लिए समाज में निरन्तर कई प्रकार की सामाजिक प्रक्रियाएँ चलती रहती हैं। इन प्रक्रियाओं में सहयोगात्मक प्रक्रिया तो समाज को जोड़ने का कार्य करती है और प्रतिस्पर्द्धा व संघर्ष के माध्यम से समाज में नवीन आविष्कार एवं नवीन सामाजिक व्यवस्थाओं का निर्माण होता है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि समाज में संघर्ष सहयोग के अधीन होता है।

महत्वपूर्ण बिन्दु

- संरचना का शाब्दिक अर्थ है बनावट या बाध्य रूप।
- सामाजिक संरचना का निर्माण सामाजिक संस्थाओं,

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

एजेन्सियो, प्रतिमानों तथा व्यक्तियों के द्वारा ग्रहण किये गये पदों एवं भूमिकाओं आदि इकाईयों द्वारा होता है ये इकाइयाँ व्यवस्थित होती है और इनमें स्थिरता पाई जाती है। ये सभी अमूर्त होती हैं। इन सभी अंगों में परस्पर स्थायी सम्बन्ध पाये जाते हैं।

- जिस प्रकार शरीर की संरचना का निर्माण नाड़ी–तंत्र, माँसपेशियों, पाचन तन्त्र, श्वसन तन्त्र, हाथ, पैर, आँख से मिलकर होता है उसी प्रकार सामाजिक संरचना का निर्माण परिवार, नातेदारी, समूह, जाति, वर्ग तथा विभिन्न संस्थाओं से मिलकर होता है।
- जाति जन्मजात भेद पर आधारित एक सामाजिक व्यवस्था है।
- जाति व्यवस्था का अध्ययन तीन दृष्टिकोण से किया जाता है धार्मिक दृष्टिकोण, संस्कृति दृष्टिकोण, समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण।
- जाति एक बन्द वर्ग है और जन्म पर आधारित है जिसकी सदस्यता प्रदत्त है और व्यवसाय निश्चित है जबकि वर्ग खुली व्यवस्था है जो कर्म पर आधारित है जिसकी सदस्यता अर्जित है और कोई निश्चित व्यवसाय नहीं है।
- जाति समाज का एक खंडनात्मक विभाजन है।
- वर्ग समाजिक स्तरीकरण की एक मुक्त व्यवस्था है।
- वर्ग में ऊँच–नीच की भावना का समावेश होता है।
- वर्ग में जन्म का महत्व नहीं है।
- वर्ग अर्जित प्रस्थिति पर आधारित होता है।
- प्रत्येक वर्गों में पारम्पारिक निर्भरता पायी जाती है।
- प्रजाति गुण प्राणिशास्त्रीय धारणा है।
- प्रजाति का आधार वंशानुगत विशिष्ट सामान्य शारीरिक लक्षण है।
- स्त्री तथा पुरुष के व्यवहार में विभेद भी लिंग पर आधारित हैं।
- समाज में पृथक्करण करने वाली प्रक्रियाएँ सहयोग प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष हैं।
- प्रतिस्पर्धा प्रतियोगी व्यक्ति एवं समूह की इच्छाओं को अच्छी तरह संतुष्ट करती है।
- सहयोग एक निरन्तर प्रयत्न है।
- सहयोग एक स्वीकरण करने वाली प्रक्रिया के रूप में भी कार्य करता है।
- विभिन्न व्यक्तियों या समूहों द्वारा किसी सामान्य उद्देश्य के लिए परस्पर मिलकर कार्य करना सहयोग है।
- संघर्ष दूसरों या दूसरों की इच्छा के विरोध प्रतिकार या बलपूर्वक रोकने के विचार पूर्वक प्रयत्न को कहते हैं।
- संघर्ष के कई स्वरूप है जैसे व्यक्तिगत प्रजाति, वर्ग, राजनैतिक वर्ग, अन्तराष्ट्रीय संघर्ष
- संघर्ष की अपेक्षा लक्ष्य प्राप्ति के लिये सहयोग ज्यादा अच्छा समझा जाता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. इनमें से कौनसा सामाजिक संरचना का तत्व नहीं है।
   (अ) विश्वास (ब) भावनायें
   (स) मानक (द) आवश्यकतायें
2. "सामाजिक संरचना की इकाइयाँ मनुष्य ही है।" यह कथन किसका है?
   (अ) मे. लिनोवाकी (ब) नेडेल
   (स) रेडक्लिफ ब्राउन (द) पारसन्स
3. निम्न में से कौन सी जाति व्यवस्था की विशेषता नहीं है–
   (अ) व्यवसाय अनिश्चित होते हैं।
   (ब) जाति का निश्चय जन्म से होता है।
   (स) जाति के सदस्य अपनी जाति में विवाह करते हैं।
   (द) जातियों में ऊँच–नीच का संस्तरण होता है।
4. निम्न में से कौन जाति नहीं है–
   (अ) भील (ब) ब्राहमण
   (स) वैश्य (द) क्षत्रिय
5. जाति एक बन्द वर्ग है। यह कथन किसका है।
   (अ) कूले
   (ब) एम.एन. श्रीनिवास
   (स) जी.एस घुर्ये
   (द) मजूमदार एवं मदान
6. लिंग के प्रमुख प्रकार हैं।
   (अ) स्त्री (ब) पुरुष
   (स) नपुंसक (द) उपर्युक्त सभी
7. इनमें से कौन सी सामाजिक प्रक्रिया नहीं है।
   (अ) सहयोग (ब) प्रतिस्पर्धा
   (स) संघर्ष (द) जाति
8. क्रिकेट का मैच किसका स्वरूप है–
   (अ) जाति (ब) वर्ग
   (स) प्रतिस्पर्धा (द) नातेदारी
9. वर्ग संघर्ष की अवधारणा किसने दी है।
   (अ) अगस्त कॉम्ट (ब) दुर्खीम
   (स) कार्ल मार्क्स (द) राधकमल मुखर्जी

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न–

1. संरचना से आप क्या समझते हैं?
2. सामाजिक संरचना की परिभाषा दीजिये।
3. सामाजिक संरचना के आवश्यक तत्व बताइये।
4. जाति से क्या तात्पर्य है?
5. जाति का निर्धारण कैसे होता है?
6. वर्ग से आप क्या समझते हैं?
7. प्रजाति का अर्थ बताइये।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

8. प्रजाति का निर्धारण किन लक्षणों के आधार पर होता है?
9. लैंगिकता (जेण्डर) से आप क्या समझते हैं?
10. लिंग विषमता या लिंग असमानता क्या है?
11. सहयोग से आप क्या समझते हैं?
12. प्रतिस्पर्धा की परिभाषा दीजिये।
13. प्रतिस्पर्धा के प्रकार बताइये।
14. संघर्ष किसे कहते हैं?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. सामाजिक संरचना को उदाहरण सहित समझाइये।
2. सामाजिक संरचना की कोई दो विशेषता बताइये।
3. जाति के प्रमुख विशेषताओं की विवेचना कीजिये।
4. जाति तथा वर्ग के अन्तर स्पष्ट कीजिये।
5. जाति तथा प्रथा के प्रमुख दोष बताइये।
6. वर्ग का अर्थ बताइये।
7. वर्ग की सामान्य विशेषताएँ बताइये।
8. विश्व की प्रमुख प्रजातियाँ कौन कौन सी हैं?
9. प्रजातिवाद क्या है?
10. विषमता का अर्थ बताइये।
11. सामाजिक क्षेत्र में विषमता को समझाइये।
12. सहयोग को उदाहरण सहित समझाइये।
13. प्रतिस्पर्धा के कोई दो उदाहरण दीजिये।
14. संघर्ष के कोई दो स्वरूप बताइये।
15. प्रतिस्पर्धा एवं संघर्ष में अन्तर स्पष्ट कीजिये।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. सामाजिक संरचना की परिभाषा दीजिये एवं इसकी प्रमुख विशेषताएँ बताइये।
2. सामाजिक संरचना के प्रमुख तत्वों की विवेचना कीजिये।
3. जाति व्यवस्था की प्रमुख विशेषताओं की विवेचना कीजिये।
4. जाति व्यवस्था क्या है? जाति व्यवस्था में हो रहे परिवर्तनों की विवेचना कीजिये।
5. वर्ग का अर्थ बताते हुए वर्ग की विशेषताओं का उल्लेख कीजिये।
6. वर्ग को परिभाषित करते हुए जाति व वर्ग में अन्तर स्पष्ट कीजिये।
7. प्रजाति का अर्थ बताते हुए जाति तथा प्रजाति में अन्तर स्पष्ट कीजिये।
8. प्रजातिवाद के दुष्परिणामों का वर्णन कीजिये।
9. भारत में लिंग असमानता पर एक लेख लिखिये।
10. सहयोग की परिभाषा दीजिये। सहयोगात्मक प्रक्रिया के लक्षण बताये।
11. सहयोग के प्रमुख प्रकार बताइये।
12. प्रतिस्पर्धा को परिभाषित करते हुए प्रतिस्पर्धा के कार्य बताइये।
13. प्रतिस्पर्धा के प्रमुख प्रकारों का उल्लेख कीजिये।
14. संघर्ष किसे कहते हैं? संघर्ष के स्वरूप एवं कार्यों का वर्णन कीजिये।

उत्तरमाला—1. (द) 2. (स) 3. (अ) 4. (अ) 5. (द) 6. (द) 7. (द) 8. (स) 9. (स)

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

7. सामाजिक परिवर्तन एवं सामाजिक नियंत्रण

सामाजिक परिवर्तन–अर्थ, विशेषताएँ, प्रकार, कारण एवं परिणाम

परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत एवं अटल नियम है। प्रत्येक समाज में चाहे–अनचाहे परिवर्तन की प्रक्रिया चलती रहती है। विश्व में ऐसा कोई भी समाज नहीं है, जो परिवर्तन से अछूता रहा हो। समाज एक परिवर्तनशील व्यवस्था है।

परिवर्तन की इस शाश्वत प्रकृति को स्वीकार करते हुए मैकाइवर ने लिखा है, "समाज परिवर्तनशील एवं गत्यात्मक है।"

अर्थात् परिवर्तन एक अवश्यम्भावी प्रक्रिया है। संसार में प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। भौतिक पदार्थों और अन्य प्राकृतिक रचनाओं में भी निरन्तर परिवर्तन होता है। अतः मानवकृत संस्कृति की धरोहर मानव समाज में परिवर्तन होना अत्यन्त स्वाभाविक है।

परिवर्तन क्या है?

किसी वस्तु, संगठन अथवा आकृति के ढाँचे में परिस्थितियों के अनुसार आयी भिन्नता को परिवर्तन कहते हैं। परिवर्तन एक प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत कोई वस्तु, संगठन या आकृति समय बीतने के साथ ही बदलती रहती है। परिवर्तन को स्पष्ट करते हुए फिचर लिखते हैं, "संक्षेप में, परिवर्तन पहले की अवस्था या अस्तित्व के प्रकार में अन्तर आने को कहते हैं।"

परिवर्तन का सम्बन्ध प्रमुख रूप से तीन पक्षों से है–

1. वस्तु 2. समय 3. भिन्नता

एक समय से दूसरे समय में किसी वस्तु में प्रकट होने वाली भिन्नता ही परिवर्तन कहलाती है।

सामाजिक परिवर्तन का अर्थ

समाजशास्त्र के अन्तर्गत समाज का अध्ययन किया जाता है, अतः समाज में होने वाले परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन कहलायेंगे।

हमने ऊपर अध्ययन किया है कि समाज परिवर्तनशील व्यवस्था है। अब तक के मानव समाज की विकास यात्रा को देखा जाये तो स्पष्ट होता है कि मानव परिवर्तन प्रेमी है।

समाजशास्त्र के विषय क्षेत्र में सामाजिक परिवर्तन प्रारम्भ से लेकर आज तक एक बहुत महत्वपूर्ण विषय रहा है।

सर्वप्रथम 1922 में डब्ल्यू. एफ. आगबर्न की पुस्तक 'सोशियल चेंज' में सामाजिक उद्‌विकास, सामाजिक परिवर्तन तथा परिवर्तन में भौतिक व अभौतिक संस्कृतियों के महत्व को प्रकाश में लाया गया। आगबर्न ने ही इनमें पाये जाने वाले भेद को स्पष्ट किया। उनके बाद विभिन्न समाजशास्त्रियों ने सामाजिक परिवर्तन की अलग–अलग परिभाषाएँ दी हैं।

मैकाइवर एवं पेज ने अपनी पुस्तक सोसायटी (Society) में सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन के द्वारा की है। उनके अनुसार समाज स्वयं ही "सामाजिक सम्बन्धों का जाल है।" अतः इन सम्बन्धों में होने वाला परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन है।

मैकाइवर एवं पेज के शब्दों में " समाजशास्त्री होने के नाते हमारी विशेष रुचि प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक सम्बन्धों में है। केवल इन सामाजिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तनों को ही हम सामाजिक परिवर्तन कहते हैं। "

इन दोनों विद्वानों ने अपनी परिभाषा में सामाजिक सम्बन्धों पर ही अधिक जोर दिया है।

किंग्सले डेविस ने सामाजिक परिवर्तन का आधार सामाजिक संगठन को माना है। डेविस ने सामाजिक परिवर्तन को संरचनात्मक तथा प्रकार्यात्मक पक्ष के रूप में स्पष्ट किया है। सामाजिक संरचना के विभिन्न अंग जैसे समूह, समिति, संस्था तथा सदस्यों के अलग–अलग कार्य होते हैं। जब सामाजिक संरचना के ये विभिन्न अंग और उनके कार्यों में परिवर्तन होता है तो उसे सामाजिक परिवर्तन कहते हैं। किंग्सले डेविस के शब्दों में "सामाजिक परिवर्तन से हम केवल उन्हीं परिवर्तनों को समझते हैं जो सामाजिक संगठन अर्थात् समाज के ढाँचे और प्रकार्यों में घटित होते हैं।"

गिलिन तथा गिलिन ने सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या सांस्कृतिक धरातल पर की है। उनके शब्दों में "सामाजिक परिवर्तन जीवन की मानी हुई रीतियों में परिवर्तन को कहते हैं। चाहे ये परिवर्तन भौगोलिक दशाओं में परिवर्तन से हुए हों या सांस्कृतिक साधनों, जनसंख्या की रचना या विचारधारा के परिवर्तन से या समूह के अंदर ही आविष्कार के फलस्वरूप हों।"

गिलिन तथा गिलिन ने सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या सांस्कृतिक संदर्भ के साथ–साथ परिवर्तन के अन्य कारक जैसे भौगोलिक कारक, जनसंख्यात्मक तथा प्रौद्योगिकीय आधार पर की है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध रीतियों, प्रथाओं, मूल्यों, सामाजिक सम्बन्धों, व्यवहारों, कार्यविधियों, संरचना एवं प्रकार्यों, सामाजिक संगठन आदि में परिवर्तन से है।

संक्षेप में सामाजिक परिवर्तन–

1. समाज के ढाँचे व प्रकार्यों में होने वाला परिवर्तन
2. सामाजिक सम्बन्धों में होने वाला परिवर्तन
3. समाज के लोगों के रहन–सहन, रीति–रिवाजों, जीवन विधियों, मूल्यों व विश्वासों में होने वाला परिवर्तन है।

सामाजिक परिवर्तन की विशेषताएँ

विलबर्ट मूर ने अपनी पुस्तक "सोशियल चेंज" में आधुनिक समाजों के संदर्भ में सामाजिक परिवर्तन की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है–

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

1. सामाजिक परिवर्तन एक अनिवार्य नियम है। इसका यह अर्थ नहीं है कि सामाजिक संरचना के सभी तत्व बदलें बल्कि सामाजिक संरचना के किसी न किसी अंग में परिवर्तन अवश्य होता रहता है।
2. प्राचीन समाजों की तुलना में आधुनिक समाजों में परिवर्तन अधिक स्पष्ट रूप से दिखायी देता है।
3. यद्यपि परिवर्तन का फैलाव सामाजिक जीवन के सभी पक्षों में होता है परन्तु विचारों और संस्थाओं की अपेक्षा भौतिक वस्तुओं में परिवर्तन की गति अधिक तीव्र होती है।
4. स्वाभाविक एवं सामान्य गति से होने वाले परिवर्तनों का प्रभाव हमारे विचारों एवं सामाजिक संरचना पर पड़ता है।
5. सामाजिक परिवर्तन का केवल अनुमान लगाया जा सकता है, उसके सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है।
6. सामाजिक परिवर्तन गुणात्मक होता है।
7. आधुनिक समाजों में सामाजिक परिवर्तन को सामाजिक नियोजन के द्वारा नियन्त्रित कर इच्छित लक्ष्यों को प्राप्त करने की दिशा में क्रियाशील बनाया जाता है।

सामाजिक परिवर्तन की महत्वपूर्ण विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

1. सामाजिक परिवर्तन एक विश्वव्यापी या सार्वभौमिक (Universal) प्रक्रिया है–मानव इतिहास में कोई भी समाज ऐसा नहीं रहा है जो परिवर्तन के दौर से नहीं गुजरा हो। पूर्णतः स्थिरता व स्थायित्व किसी भी समाज की विशेषता नहीं रही है। सामाजिक परिवर्तन एकविश्वव्यापी एवं सार्वभौमिक प्रक्रिया है। परिवर्तन की गति भले ही अलग–अलग समाजों में भिन्न–भिन्न हो सकती है, परन्तु परिवर्तन होता अवश्य है। आदिम समाजों में परिवर्तन की गति आधुनिक समाजों की तुलना में धीमी होती है।

2. सामाजिक परिवर्तन अवश्यम्भावी एवं स्वाभाविक है–सामाजिक परिवर्तन प्रत्येक समाज में अनिवार्यतः होता है। यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। मानव समाज प्रगति का आकांक्षी होता है और प्रगति के लिए स्थापित संरचना में परिवर्तन होना आवश्यक है। कई बार परिवर्तनों का विरोध भी किया जाता है फिर भी उसे रोक नहीं पाते। कभी ये परिवर्तन जान–बूझकर नियोजित रूप में लाये जाते हैं तो कभी स्वतः ही उत्पन्न होते हैं।

3. सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति सामाजिक है–सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध किसी विशेष व्यक्ति या समूह, संस्था, जाति एवं प्रजाति एवं समिति में होने वाले परिवर्तन से नहीं है बल्कि सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध सामुदायिक एवं समाज में होने वाले परिवर्तन से होता है।

सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति सामाजिक है न कि वैयक्तिक। अतः सम्पूर्ण समाज में घटित होने वाला परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन कहा जायेगा।

4. सामाजिक परिवर्तन की भविष्यवाणी नहीं कर सकते हैं–सामाजिक परिवर्तन के बारे में पूर्वानुमान करना कठिन है। समाज में शिक्षा के प्रभावस्वरूप कौन–कौन से परिवर्तन होंगे, कब होंगे इसके बारे में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। यह बताना भी कठिन होगा कि आगे चलकर लोगों के विश्वासों, मूल्यों, विचारों, आदर्शों, रीति–रिवाजों, संस्कृति आदि में किस प्रकार के परिवर्तन आयेंगे।

भविष्य में जाति प्रथा का अस्तित्व रहेगा या नहीं, अन्तर्जातीय विवाह में वृद्धि होगी या नहीं आदि परिवर्तनों के बारे में केवल पूर्वानुमान ही लगाया जा सकता है, निश्चित भविष्यवाणी नहीं की जा सकती।

5. सामाजिक परिवर्तन एक जटिल तथ्य है–समाज में घटित होने वाले परिवर्तनों को मापना कठिन है क्योंकि इसका सम्बन्ध गुणात्मक परिवर्तनों से है। संस्कृति के विभिन्न पक्षों, सामाजिक मूल्यों, संस्थाओं, विचारों व व्यवहारों में होने वाले परिवर्तन को मीटर, क्विंटल या किलोग्राम की भाषा से प्रदर्शित नहीं कर सकते। अतः सामाजिक परिवर्तन एक जटिल तथ्य है।

6. सामाजिक परिवर्तन की गति असमान तथा तुलनात्मक है–सामाजिक परिवर्तन सभी समाजों में पाया जाता है परन्तु परिवर्तन की गति अलग–अलग समाजों में असमान होती है। ग्रामीण समाजों की अपेक्षा नगरों में, आदिम की अपेक्षा आधुनिक में, पूर्वी समाजों की अपेक्षा पश्चिमी समाजों में परिवर्तनों की गति तुलनात्मक रूप से भिन्न–भिन्न होती है।

परिवर्तन गति असमान होने के कारण यह है कि प्रत्येक समाज में परिवर्तन लाने वाले कारक भिन्न–भिन्न होते हैं। हम विभिन्न समाजों की तुलना करके परिवर्तन की गति का अनुमान लगा सकते हैं।

इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि गाँवों की तुलना में शहरों में परिवर्तन तीव्र गति से आ रहे हैं।

सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न प्रतिमान या प्रकार

1. रेखीय परिवर्तन (प्रथम प्रतिमान)
2. उतार–चढ़ाव वाला परिवर्तन (द्वितीय प्रतिमान)
3. चक्रीय परिवर्तन (तृतीय प्रतिमान)

1. रेखीय परिवर्तन (प्रथम प्रतिमान)–यह सामाजिक परिवर्तन का वह स्वरूप है जो परिवर्तन के एक क्रम को दर्शाता है। ऐसे परिवर्तन एक ही दिशा में निरन्तर बढ़ते जाते हैं, चाहे ऐसे परिवर्तन का प्रारम्भ एकाएक ही क्यों न हुआ हो। आविष्कारों से उत्पन्न परिवर्तनों को रेखीय परिवर्तन की श्रेणी में रख सकते हैं। जब भी समाज में कोई नवीन आविष्कार होता है, तो समाज में एकाएक ही परिवर्तन तो आता ही है साथ ही अनेक आगामी परिवर्तनों का सिलसिला

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

भी उत्पन्न हो जाता है। जैसे–जैसे आविष्कारों में समय–समय पर कई लोगों द्वारा सुधार किया जाता है, वैसे–वैसे परिवर्तन का सिलसिला लगातार आगे बढ़ता रहता है। टेलीविजन के आविष्कार से हम सभी परिचित हैं। सबसे पहले ब्लेक एण्ड व्हाइट टीवी आया, उसके बाद रंगीन टीवी, फिर एलसीडी टीवी तथा सबके बाद एलईडी टीवी का आविष्कार हुआ। चूंकि सामाजिक परिवर्तन के इस प्रतिमान के अन्तर्गत परिवर्तन निरन्तर एक ही दिशा में होता रहता है, इस कारण इसे रेखीय परिवर्तन कहा जाता है।

यातायात के साधनों में भी रेखीय परिवर्तन को देखा जा सकता है। जब पहियों का आविष्कार हुआ तो सबसे पहले बैलगाड़ी, फिर इक्का तांगा, साईकिल, कार, बस, रेलगाड़ी, हवाई–जहाज आदि अनेक साधनों का विकास हुआ।

2. उतार–चढ़ाव वाला परिवर्तन (द्वितीय प्रतिमान)– सामाजिक परिवर्तन के इस प्रकार के अन्तर्गत परिवर्तन लगातार एक ही दिशा में आगे बढ़ने के बजाय पहले ऊपर की ओर जाता है और फिर नीचे की ओर। इसे हम उतार–चढ़ाव वाला परिवर्तन कहते हैं। जनसंख्या के क्षेत्र में हम इस प्रकार के उतार–चढ़ाव को देख सकते हैं। इसी प्रकार सांस्कृतिक क्षेत्र में पहले भारतवासी अध्यात्मवाद की ओर निरन्तर आगे बढ़ते गये, परन्तु अब भौतिकवाद की ओर तेजी से बढ़ रहे हैं। इसी प्रकार हम आर्थिक एवं व्यापारिक क्रियाओं को उन्नत, विकसित और अवनत होते हुए देख सकते हैं। परिवर्तन के इस प्रतिमान में परिवर्तन की दिशा निश्चित नहीं होती है। सामाजिक परिवर्तन की दिशा किस ओर जायेगी यह कहना कठिन होता है।

3. चक्रीय परिवर्तन (तृतीय प्रतिमान)–परिवर्तन के तीसरे प्रकार को तरंगीय परिवर्तन के नाम से भी जाना जाता है। इस प्रकार के परिवर्तन का एक चक्र चलता है। ऋतु–चक्र में हम देखते हैं कि सर्दी, गर्मी एवं वर्षा का एक चक्रीय क्रम चलता रहता है। मनुष्य के जीवन में भी यह चक्र जन्म, बाल्यावस्था, यौवनावस्था, वृद्धावस्था एवं मृत्यु के रूप में देखा जा सकता है। इस परिवर्तन का स्वरूप परिवर्तनशील है, कभी यह परिवर्तन एक तरंग के रूप में उतार–चढ़ाव वाला होता है, तो कभी समुद्र की लहरों की भांति आता–जाता रहता है। जिस प्रकार समुद्र की लहरों का अंत और ह्रास नहीं होता है, उसी प्रकार चक्रीय परिवर्तन में भी एक के बाद दूसरा परिवर्तन आता रहता है।

चक्रीय परिवर्तन को समझने के लिए हम "फैशन की दुनिया" का उदाहरण ले सकते हैं। फैशन की दुनिया में नये–नये फैशन की लहर या तरंग आती रहती है और प्रत्येक के बाद कुछ नया परिवर्तन हो जाता है। सांस्कृतिक आन्दोलनों, साज–सज्जा, अलंकरणों, सामाजिक मूल्यों, प्रथाओं, लोकाचारों आदि इसी प्रकार के परिवर्तन के उदाहरण है।

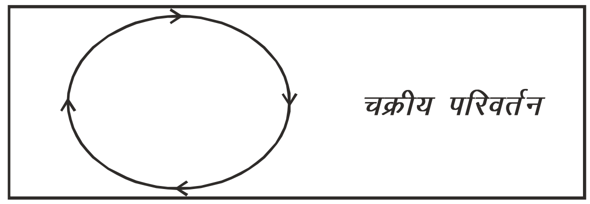

यद्यपि विद्वान आज चक्रीय परिवर्तन की बात को पूरी तरह से स्वीकार नहीं करते हैं। इसका कारण यह है कि चक्रीय का अर्थ है जहाँ से प्रारम्भ होते हैं घूम फिर कर पुनः वहीं लौटना। परन्तु यह संभव नहीं है क्योंकि पुनः हम उसी स्थिति में कभी नहीं लौटते बल्कि उसमें कुछ संशोधन या परिवर्तन के बाद ही उस स्थिति को स्वीकार करते हैं।

सामाजिक परिवर्तन के कारण एवं परिणाम

सामाजिक परिवर्तन के कारण निम्नलिखित है–

1. प्राकृतिक या भौगोलिक कारक
2. जनसंख्यात्मक कारक
3. सांस्कृतिक कारक
4. प्रौद्योगीकीय कारक
5. आर्थिक कारक

1. प्राकृतिक या भौगोलिक कारक–प्रकृति परिवर्तनशील है। प्रकृति में जंगल, पहाड़, आकाश, चाँद–तारे, नदी, झरने, मौसम, समुद्र, भूकम्प, बाढ़, अकाल, अनावृष्टि, अतिवृष्टि आदि सम्मिलित हैं। ये सभी मिलकर प्राकृतिक पर्यावरण की रचना करते हैं।

सामाजिक परिवर्तन लाने में ये प्राकृतिक शक्तियाँ महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। मनुष्य ने हमेशा से ही प्रकृति पर विजय पाने का प्रयास किया है लेकिन मनुष्य इसमें पूर्णतः सफलता प्राप्त करने में असमर्थ रहा है। अनेक सामाजिक परिवर्तन प्राकृतिक कारणों से होते हैं अर्थात् प्रकृति समाज को परिवर्तन की प्रेरणा देती है। उदाहरण के लिए जब बाढ़ आती है या भूकम्प आता है अथवा अनावृष्टि होती है तब बहुत से परिवार उजड़ जाते हैं और उनके सम्बन्ध बिखर जाते हैं। वे लोग नये लोगों से मिलते हैं और नये सम्बन्ध बनाते हैं, जिससे विवाह, परिवार और नातेदारी जैसी समाजिक संस्थाओं में

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

परिवर्तन आता है। गुजरात के कच्छ में आये भूकम्प एवं तमिलनाडु में आयी सुनामी लहरों से हजारों लोग बेघरबार हो गये, कई बच्चे अनाथ हो गये, स्त्रियाँ विधवा हो गई। लोगों को आवास की तलाश में नये स्थानों पर जाना पड़ा। जिससे उनका नये लोगों से सम्पर्क बढ़ा तथा नये सम्बन्ध विकसित हुए।

जूलियन हक्सले का मत है कि जलवायु और भूमि का मानवीय सम्बन्धों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्राकृतिक एवं भौगोलिक कारक हमारे स्वास्थ्य, मानसिक व शारीरिक क्षमता, संस्कृति व सभ्यता, खान–पान, रहन–सहन, वस्त्र, फैशन, भोजन, भवनों की बनावट तथा आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक संरचना को प्रभावित करते हैं।

प्राकृतिक विपदाओं के कारण भौगोलिक गतिशीलता का भी विकास होता है जिससे व्यक्ति एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान को चले जाते हैं और वहाँ की संस्कृति को अपना लेते हैं।

2. जनसंख्यात्मक कारक–बिना जनसंख्या के किसी भी समाज की कल्पना नहीं की जा सकती है। सामाजिक परिवर्तन लाने में जनसंख्यात्मक कारकों का महत्वपूर्ण योगदान होता है। जब किसी देश की जनसंख्यात्मक संरचना जिसमें जनसंख्या का आकार, जन्मदर, मृत्युदर, आवास–प्रवास, स्त्री–पुरुष अनुपात विभिन्न आयु समूह का अनुपात आदि सम्मिलित है, इनमें परिवर्तन आता है तो उसकी सामाजिक संरचना, सामाजिक संगठन तथा अर्थव्यवस्था भी प्रभावित होती है।

यदि जन्म दर बढ़ती है तथा मृत्यु दर कम होती है तो जनसंख्या वृद्धि होती है। जनसंख्या वृद्धि से समाज में गरीबी व बेरोजगारी उत्पन्न होती है। गरीबी समाज में संघर्ष व तनाव को जन्म देती है इस सम्बन्ध में ''माल्थस'' ने अपनी पुस्तक ''ऐस्से आन पापुलेशन'' में अपना मत दिया है कि जनसंख्या में ज्यामितिय (2, 4, 8, 16.........) वृद्धि होती है जबकि कृषि उत्पादन में वृद्धि गणितीय (2, 4, 6, 8, ...) रूप से होती है। जिससे जनसंख्या दर खाद्य पदार्थों की वृद्धि से हमेशा ही अधिक रहती है। रोजगार की तलाश में लोग गाँव से शहर जाते हैं। इससे शहरी जनसंख्या में वृद्धि होती है। आवास बदलने से विभिन्न धर्मों, मूल्यों, मतों, परिवारों, प्रजातियों के बीच सम्पर्क बढ़ता है। इससे विभिन्न संस्कृतियों के बीच सांस्कृतिक आदान–प्रदान होता है, जिससे सामाजिक परिवर्तन घटित होते हैं।

उत्तम स्वास्थ्य सुविधाएँ न मिलने से मृत्युदर में वृद्धि होती है। फलस्वरूप देश में अनुभवी व कार्यकुशल लोगों में कमी आती है। देश की विभिन्न सरकारी नीतियों पर जनसंख्यात्मक कारकों का प्रभाव पड़ता है जैसे भारत में गिरते हुए स्त्री–पुरुष अनुपात की चिन्ताजनक स्थिति को ध्यान में रखते हुए प्रसव पूर्व लिंग परीक्षण पर प्रतिबन्ध लगाया गया है। जिससे कन्या भ्रूण हत्या जैसे अपराधों में कमी आयी है।

3. सांस्कृतिक कारक–सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न कारकों में सांस्कृतिक कारकों का विशेष महत्व है। संस्कृति के बिना किसी भी समाज की कल्पना करना व्यर्थ है। सामाजिक जीवन को सांस्कृतिक जीवन से पृथक नहीं किया जा सकता है।

संस्कृति में सम्मिलित आदर्श, विश्वास, धर्म, प्रथाएँ, संस्थाएँ, रूढ़ियाँ आदि हमारे सांस्कृतिक जीवन का प्रतिबिम्ब हैं। इनके बिना न तो सामाजिक अन्तः क्रिया हो सकती है और न ही सम्बन्ध स्थापित हो सकते हैं। सांस्कृतिक कारक किसी भी समाज के ढांचे और संगठन में परिवर्तन को प्रभावित करते हैं। इसका प्रभाव भारतीय जाति व्यवस्था और सम्पूर्ण सामाजिक जीवन पर स्पष्टतः देखा जा सकता है।

मैक्स वेबर का मत है कि सांस्कृतिक मूल्यों में परिवर्तन से सिर्फ समाज एवं संस्कृति में ही नहीं बल्कि अर्थव्यवस्था में भी परिवर्तन आता है। उन्होंने पाश्चात्य देशों में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के विकास में प्रोटेस्टेट आचार संहिता की भूमिका को समझाया है। मैक्स वेबर ने धर्म और आर्थिक जीवन के बीच गहरा सम्बन्ध दर्शाया है।

सांस्कृतिक कारक ही प्रौद्योगिक विकास के स्वरूप एवं गति को भी निर्धारित करते हैं क्योंकि किसी भी समाज की संस्कृति में पाये जाने वाले मूल्य, आदर्श, विश्वास, परम्पराएँ, व प्रथाएँ जैसे होंगे उसी के अनुरूप वहाँ का प्रौद्योगिक विकास होगा। अमेरिकन समाजशास्त्री ऑगबर्न ने अपनी पुस्तक Social Change में सांस्कृतिक विलम्बना के आधार पर सामाजिक परिवर्तन में सांस्कृतिक कारकों की भूमिका को स्पष्ट किया है। उनके अनुसार जब संस्कृति के भौतिक पक्ष की तुलना में अभौतिक पक्ष पीछे रह जाता है तो संस्कृति में असंतुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसे सांस्कृतिक विलम्बना या सांस्कृतिक पिछड़ापन कहा जाता है। इस स्थिति के कारण समाज में अनेक परिवर्तन घटित होते हैं।

4. प्रौद्योगिकीय कारक– सामाजिक परिवर्तन का यह सबसे मुख्य कारक है। मानव अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए जिन यंत्रों, मशीनों व उपकरणों का प्रयोग करता है, उससे संबन्धित ज्ञान ही प्रौद्योगिकी कहलाता है। विश्व में कोई भी समाज प्रौद्योगिकीय ज्ञान से अछूता नहीं है। मानव ने प्रौद्योगिकीय ज्ञान के माध्यम से जीवन को सुखद बनाया है। मार्क्स का मत है कि प्रौद्योगिकी में परिवर्तन के फलस्वरूप समाज में भी परिवर्तन आता है। आदिम समाज से आधुनिक समाज तक मानव ने विभिन्न प्रौद्योगिकीय ज्ञान का विकास किया है। प्रौद्योगिकी के कारण नये–नये कारखाने खुलते हैं, जिससे नगरीकरण, एकाकी परिवारों में वृद्धि व स्त्रियों की स्वतंत्रता में वृद्धि होती है। प्रौद्योगिकीय कारकों से सामाजिक गतिशीलता में भी वृद्धि हुई है। इससे संचार व परिवहन के साधनों को बढ़ावा मिला है।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार—किसी भी नयी मशीन का आविष्कार सामाजिक जीवन में परिवर्तनों को जन्म देता है। औद्योगीकरण से पूर्व ग्रामीण समुदाय का जीवन आत्म निर्भर था व सामाजिक सम्बन्धों का क्षेत्र भी सीमित था। नई प्रौद्योगिकी का विकास होने से क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए है। विभिन्न सामाजिक संस्थाओं, जाति, विवाह, परिवार, धर्म, परम्परा आदि में व्यापक परिवर्तन हुए हैं, जिनका कुछ समय पूर्व अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता था। तकनीकी विकास और उत्पादन के लिए कारखानों और मशीनों की आवश्यकता के कारण श्रम विभाजन और विशेषीकरण की प्रक्रिया को बढावा मिला है।

इस प्रकार कहा जा सकता है प्रौद्योगिकी समाज में परिवर्तन लाने वाला प्रमुख घटक है।

5. आर्थिक कारक— जिस प्रकार से मानव का शरीर विभिन्न अंगों से मिलकर बनता है उसी प्रकार आर्थिक संरचना भी उपभोग, वितरण, माँग, विनिमय व आर्थिक नीति आदि से मिलकर निर्मित है जैसे ही आर्थिक संरचना में परिवर्तन होता है तो सामाजिक संस्थाओं, व्यवस्थाओं व संगठनों में भी परिवर्तन आता है। औद्योगीकरण व नगरीकरण के फलस्वरूप भारत में संयुक्त परिवार व्यवस्था का विघटन हुआ, जाति–पाति के बंधनों में शिथिलता आई, स्त्री शिक्षा का प्रसार हुआ, अन्तर्जातीय विवाह को बढ़ावा मिला, स्त्रियों को रोजगार के विभिन्न अवसर प्राप्त हुए, जनसंख्या की गतिशीलता बढ़ी है। इससे समाज की विभिन्न संस्थाओं में परिवर्तन घटित हुआ है।

कार्ल मार्क्स ने भी सामाजिक परिवर्तन में आर्थिक कारकों को महत्वपूर्ण माना है। मार्क्स के शब्दों में ''समाज में परिवर्तन अकस्मात् नहीं होते बल्कि बाहरी प्रकृति में होने वाले परिवर्तनों की भांति कुछ विशिष्ट नियमों से संचालित होते हैं।''

मार्क्स ने अपने सिद्धान्तों में आर्थिक कारकों को प्रमुखता दी है, इसलिए इनके सिद्धान्त को आर्थिक निर्धारणवादी सिद्धान्त कहते हैं। उनके अनुसार समाज की विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, नैतिक संस्थाओं के निर्माण में आर्थिक तत्व अर्थात् उत्पादन व वितरण प्रणालियों का योगदान रहता है। उत्पादन प्रणाली में दो प्रकार के वर्ग पूँजीपति व श्रमिक का अस्तित्व रहा है। इन दोनों वर्गों में संघर्ष होता रहता है, जिससे नई सामाजिक व्यवस्था का उदय होता है। इसी आधार पर मार्क्स ने इतिहास की व्याख्या की है तथा सामाजिक परिवर्तन को समझाया है।

आर्थिक कारकों का प्रभाव राजनीतिक व्यवस्था पर भी पड़ता है। राज्य में कानून, संविधान, नियम आदि आर्थिक कारकों से ही प्रेरित होते हैं। राज्य कानूनों व योजनाओं का निर्माण करते वक्त उस समाज में रहने वाले लोगों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखता है।

निम्न आर्थिक स्थिति व उच्च जीवन स्तर की लालसा व्यक्ति को अपराध करने को विवश करती है। विलियम बोंजर तथा फोरेन सारी डी वर्सी ने अपने अध्ययन में पाया कि अधिकांश अपराधियों ने गरीबी एवं निम्न आर्थिक स्थिति के कारण अपराध किया। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि सम्पत्ति का वितरण, जीवन स्तर, जीवन विधि, उत्पादन, व्यापार, वर्ग संघर्ष आदि समाज के आर्थिक पक्षों पर निर्भर करते हैं।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि किसी भी समाज में होने वाले सामाजिक परिवर्तन भौगोलिक, जनसंख्यात्मक, प्रौद्योगिकीय, आर्थिक एवं सांस्कृतिक आदि अनेक कारकों से प्रभावित होते हैं। ये सभी कारक भी परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। परिवर्तन के विभिन्न कारकों के फलस्वरूप ही व्यक्ति के सामाजिक, सांस्कृतिक, पारिवारिक, आर्थिक, राजनीतिक व धार्मिक जीवन में परिवर्तन आते हैं। परिवर्तन सभी समाजों व सभी कालों में पाया जाता है। यह मानव जीवन का एक अनिवार्य तथ्य है जिसमें निरन्तरता पायी जाती है।

सामाजिक नियंत्रण अर्थ, विशेषताएँ, प्रकार एवं अभिकरण

सामाजिक नियंत्रण समाजशास्त्र की एक महत्त्वपूर्ण अवधारणा है। समाज में सन्तुलन व व्यवस्था बनाये रखने के लिए समाज के सदस्यों के व्यवहार को नियंत्रित किया जाता है। समाज को अव्यवस्था से बचाने तथा भविष्य में उसके अस्तित्व को कायम रखने के लिए समाज कुछ सामाजिक नियमों का विधान करता है। प्रत्येक समाज अपने सदस्यों से इन नियमों के पालन की अपेक्षा रखता है। समाज की यह अपेक्षा भी रहती है कि समूह के सदस्य अपनी संस्कृति के अनुरूप व्यवहार प्रतिमानों, प्रथाओं, मूल्यों, आदर्शों, रीति–रिवाजों एवं कानून के अनुरुप आचरण करेंगे। इससे समाज में स्थायित्व एवं व्यवस्था बनाये रखने में मदद मिलेगी। परन्तु कुछ स्वार्थी, अराजक व संघर्षवादी तत्व समाज में अव्यवस्था फैलाने की कोशिश करते हैं, जिन्हें रोकने के लिए सामाजिक नियंत्रण आवश्यक है।

लोगों को समूह द्वारा स्वीकृत नियमों के अनुसार आचरण करने के लिए बाध्य करना ही सामाजिक नियंत्रण कहलाता है। सामाजिक नियंत्रण की अवधारणा का प्रतिपादन सर्वप्रथम अमेरिकन समाजशास्त्री ई.ए. रॉस ने 1901 में अपनी कृति 'Social control' में व्यवस्थित ढंग से किया है। तब से सामाजिक नियंत्रण समाजशास्त्र में एक प्रमुख विषय के रूप में चर्चित रहा है।

रॉस के अनुसार, ''सामाजिक नियन्त्रण का तात्पर्य उन सभी शक्तियों से है जिनके द्वारा समुदाय व्यक्ति को अपने अनुरूप बनाता है।'' पी.एच. लैण्डिस के शब्दों में ''सामाजिक नियन्त्रण एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा सामाजिक व्यवस्था स्थापित की जाती है और बनाये रखी जाती है।'' पारसन्स ने अपनी पुस्तक 'सोशियल सिस्टम' (Social system) में

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

सामाजिक नियंत्रण की परिभाषा देते हुए कहा है, ''सामाजिक नियन्त्रण वह सामान्य प्रक्रिया है जिसके द्वारा अपेक्षित व्यवहार एवं किये गये व्यवहार के बीच अन्तर को कम से कम किया जाता है।''

उनके अनुसार, ''विपथगामी प्रवृत्तियों की कली को फूल बनने से पहले ही कुचल देना सामाजिक नियन्त्रण है।'' निम्न परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि सामाजिक नियन्त्रण के द्वारा ही समाज में एकता एवं व्यवस्था बनी रह सकती है। इससे ही समाज के लोग सामाजिक प्रतिमानों के अनुकूल व्यवहार करते हैं व सामाजिक नियमों का पालन करते हैं। सामाजिक नियन्त्रण समाज में लोगों के व्यवहारों में एकरूपता लाता है।

- सामाजिक नियंत्रण की विशेषताएँ– सामाजिक नियंत्रण समाज के लोगों को सामाजिक प्रतिमानों के अनुरूप आचरण करने लिए बाध्य करता है। सामाजिक प्रतिमान ही समाज के लोगों के व्यवहार को नियंत्रित करते हैं।
- सामाजिक नियंत्रण से समाज में संगठन एवं एकरूपता लायी जाती है। लोगों को समाज के नियमों के अनुकूल व्यवहार करना सिखाया जाता है।
- सामाजिक नियंत्रण से सामाजिक सम्बन्धों में एकरूपता व स्थिरता स्थापित की जाती है।
- सामाजिक नियंत्रण के द्वारा समाज में तनाव व संघर्ष को कम किया जाता है तथा सहयोग को बढ़ाने का प्रयास किया जाता है।
- सामाजिक नियंत्रण में व्यक्तियों के व्यवहारों व आचरणों को नियंत्रित करने के लिए निश्चित साधनों व विधियों का उपयोग किया जाता है।
- सामाजिक नियंत्रण तीन स्तरों पर होता है समूह का समूह पर नियंत्रण, समूह का व्यक्तियों पर नियंत्रण तथा व्यक्तियों का व्यक्तियों पर नियंत्रण।
- सामाजिक नियंत्रण द्वारा विघटनकारी प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाया जाता है।
- सामाजिक नियंत्रण में दण्ड एवं पुरस्कार दोनों विधियों का प्रयोग किया जाता है।

सामाजिक नियंत्रण के प्रकार–सभी समाजों में व्यवस्था व सन्तुलन बनाये रखने हेतु सामाजिक नियंत्रण आवश्यक होता है। किन्तु प्रत्येक समाज में सामाजिक सम्बन्धों की प्रकृति, सामाजिक दशाओं एवं व्यक्तिगत व्यवहारों में भिन्नता पायी जाती है, जिसके कारण सामाजिक नियंत्रण के स्वरूपों या प्रकारों में भी अन्तर आ जाता है। समाज के सदस्यों के हितों, विचारों व उद्देश्यों में विभिन्नता होती है साथ ही अलग–अलग प्रकार के समाज जैसे ग्रामीण व नगरीय, परम्परात्मक, बन्द व मुक्त, जनतांत्रिक एवं एकतंत्र आदि में एक ही प्रकार के नियन्त्रण से व्यवहारों को नियमित नहीं किया जा सकता। अतः समाजशास्त्रियों ने नियंत्रण के विभिन्न प्रकारों व स्वरूपों का उल्लेख किया है।

सकारात्मक और नकारात्मक सामाजिक नियंत्रण– सामाजिक नियंत्रण के सकारात्मक व नकारात्मक स्वरूप का उल्लेख किम्बाल यंग ने किया है। सामाजिक नियंत्रण का वह स्वरूप जिसमें सलाह, अनुनय, शिक्षा एवं पुरस्कार के द्वारा व्यक्तियों के व्यवहार को नियंत्रित किया जाता है, सकारात्मक सामाजिक नियंत्रण कहलाता है। सकारात्मक सामाजिक नियंत्रण में व्यक्ति को पुरस्कार प्रदान कर समाज सम्मत व्यवहार करने के लिए प्रेरित किया जाता है। यह नियंत्रण प्रायः परिवार, मित्रों एवं शिक्षा संस्थानों के द्वारा किया जाता है। नकारात्मक सामाजिक नियंत्रण के अंतर्गत नियंत्रण के लिए दण्ड का प्रावधान रहता है। इसमें समाज विरोधी व असामान्य व्यवहार करने वालों को दण्डित किया जाता है। नकारात्मक नियंत्रण के साधन दण्ड, जुर्माना, उपहास, बहिष्कार, जेल आदि है।

चेतन और अचेतन सामाजिक नियंत्रण–अमेरिकन समाजशास्त्री सी.एच.कूले ने सामाजिक नियंत्रण के चेतन व अचेतन स्वरूपों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार मानव के व्यवहार को दो भागों में बाँटा जा सकता है– चेतन व अचेतन व्यवहार। पहली स्थिति में व्यक्ति व्यवहार करते वक्त सोचता है। वह ध्यान रखता है कि उससे व्यवहार करते वक्त कोई त्रुटि न हो जाये। जबकि कुछ विचार, आदर्श व मूल्य व्यक्ति के व्यक्तित्व के अंग बन जाते हैं। जिनका पालन वह अचेतन रूप में ही करता रहता है। प्रथाओं, कानूनों और लोकाचारों द्वारा चेतन नियंत्रण किया जाता है क्योंकि ये समूह कल्याण के लिए आवश्यक है।

प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष नियन्त्रण–कार्ल मानहीम ने सामाजिक नियन्त्रण के प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष स्वरूप का उल्लेख अपनी पुस्तक "Man and society" में किया है। माता–पिता, मित्र, पड़ौसी, गुरूजनों आदि प्राथमिक समूहों के द्वारा किया जाने वाला नियंत्रण प्रत्यक्ष सामाजिक नियंत्रण कहलाता है। इस प्रकार के नियन्त्रण का प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व पर अधिक गहराई से पड़ता है क्योंकि प्राथमिक समूह के सदस्य व्यक्ति के समाजीकरण के माध्यम हैं। द्वितीयक समूहों व संस्थाओं द्वारा लागू किया जाने वाला नियन्त्रण अप्रत्यक्ष नियंत्रण कहलाता है। आधुनिक समाजों में अप्रत्यक्ष नियंत्रण के द्वारा ही व्यक्तियों को विशेष प्रकार के व्यवहार करने को बाध्य किया जाता है।

संगठित, असंगठित तथा सहज नियन्त्रण–गुरविच तथा मूर ने सामाजिक नियंत्रण के तीन स्वरूप यथा संगठित, असंगठित और सहज नियंत्रण का उल्लेख किया है। संगठित सामाजिक नियंत्रण अनेक छोटी–बड़ी एजेन्सियों और व्यापक नियमों द्वारा व्यक्तियों के व्यवहार को प्रभावित करता है। यह नियंत्रण अत्यधिक नियमबद्ध होता है तथा विवाह, परिवार, स्कूल व दफ्तर की संस्थाओं द्वारा लगाये गये नियम संगठित नियन्त्रण के अन्तर्गत ही आते हैं। दैनिक जीवन को सर्वाधिक

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

प्रभावित करने वाले संस्कार, जनरीतियाँ, परम्पराएँ, लोकाचार आदि द्वारा किया जाने वाला नियंत्रण असंगठित सामाजिक नियंत्रण कहलाता है। नियंत्रण के तीसरे स्वरूप का आधार व्यक्ति की स्व प्रेरणा है। विभिन्न परिस्थितियों में व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं और अनुभव के आधार पर स्वविवेक से निर्णय लेता है तथा अपने व्यवहार को नियन्त्रित करता है।

औपचारिक एवं अनौपचारिक सामाजिक नियन्त्रण– कुछ समाजशास्त्रियों ने सामाजिक नियंत्रण के औपचारिक व अनौपचारिक दो स्वरूपों का उल्लेख किया है। औपचारिक नियंत्रण निश्चित लिखित कानूनों द्वारा सम्पन्न होता है। इसके पीछे राज्य एवं सरकार की शक्ति होती है। औपचारिक नियंत्रण व्यक्ति एवं समाज के लिए बाध्यतामूलक होते हैं इनका पालन न करने पर दण्ड की व्यवस्था होती है। औपचारिक नियंत्रण स्थापित करने के लिए औपचारिक संस्थाओं यथा राज्य, कानून, पुलिस, जेल, न्यायालय आदि की व्यवस्था होती है।

अनौपचारिक नियंत्रण का सम्बन्ध राज्य से न होकर समाज और समूह से होता है। यह अलिखित तथा असंगठित होते हैं। इस प्रकार के नियंत्रण के पीछे सरकार व राज्य की सत्ता नहीं होती है। अनौपचारिक नियंत्रण का विकास समय के साथ–साथ स्वतः ही होता है। प्रथाएँ, जनरीतियाँ, सामाजिक मानदण्ड, धर्म, नैतिकता, हास्य, व्यंग्य, जनमत आदि अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण के साधन हैं। सामाजिक नियम समूह तथा समाज कल्याण की दृष्टि से आवश्यक एवं उपयोगी होते हैं अतः अपने समूह को अप्रसन्न न करने की दृष्टि से व्यक्ति अनौपचारिक नियंत्रण को स्वीकार करता है। ग्रामीण, आदिम व सरल समाजों में इस प्रकार का नियंत्रण अधिक प्रभावी होता है। अनौपचारिक नियंत्रण में समाज व समूह के सदस्य सजग प्रहरी की भाँति समूह के सदस्यों द्वारा सामाजिक नियमों के पालन की निगरानी रखते हैं।

औपचारिक और अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण में अन्तर–

- औपचारिक सामाजिक नियंत्रण में कानून लिखित एवं निश्चित होते हैं, इसके विपरीत अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण में नियम अलिखित व अस्पष्ट होते हैं।
- औपचारिक सामाजिक नियंत्रण में दण्ड देने का कार्य सरकार व राज्य द्वारा किया जाता है जबकि अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण में दण्ड स्वयं समाज, समूह व समुदाय द्वारा निश्चित किया जाता है।
- औपचारिक सामाजिक नियंत्रण आधुनिक, औद्योगिक, जटिल व विस्तृत समाजों की विशेषता है, जबकि अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण सरल, छोटे व परम्परागत समाजों की देन है।
- औपचारिक सामाजिक नियंत्रण में कानून योजनाबद्ध रूप से राज्य या अन्य प्रशासनिक संगठनों द्वारा बनाये जाते हैं, इसके विपरीत अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण में नियमों का विकास धीरे–धीरे स्वतः ही होता है जिनका स्त्रोत स्वयं समाज ही है।
- औपचारिक नियंत्रण के साधन कानून, न्यायालय व पुलिस है यही दण्ड सुनिश्चित करते हैं। जबकि अनौपचारिक नियंत्रण में सामाजिक प्रतिमान, परम्पराएँ, धर्म आदि के द्वारा आलोचना, निंदा व बहिष्कार के द्वारा मानव व्यवहार को नियंत्रित किया जाता है।

सामाजिक नियंत्रण के अभिकरण

- हम ऊपर अध्याय में सामाजिक नियंत्रण के विभिन्न स्वरूपों का अध्ययन कर चुके हैं। हम यह भी जानते हैं कि जिस माध्यम से समाज में व्यक्तियों के व्यवहार को नियंत्रित किया जाता है वे सभी सामाजिक नियंत्रण के साधन या अभिकरण कहलाते हैं। ये साधन प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष, सकारात्मक– नकारात्मक, संगठित– असंगठित तथा अनौपचारिक–औपचारिक रूप से व्यक्तियों के व्यवहार को नियंत्रित कर सामाजिक नियंत्रण को कायम रखते हैं–

1. परिवार– सामाजिक नियंत्रण में परिवार की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जन्म से ही बालक किसी न किसी परिवार का सदस्य होता है। समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा माता–पिता बच्चों को उचित–अनुचित व्यवहार का ज्ञान करवाते हैं। व्यक्ति परिवार में रहकर ही सामाजिक मूल्यों परम्पराओं, विश्वासों, आदर्शों, प्रथाओं और नियमों से परिचित होता है तथा उन्हें आत्मसात करता है, जिससे उसका व्यवहार निर्धारित होता है। परिवार के सदस्य, माता–पिता, पति–पत्नी, भाई–बहिन आदि प्रेम, स्नेह, भावात्मक समर्थन, डाँट–फटकार व उपेक्षा के माध्यम से समाज के नियमों के अनुसार व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित करते हैं।

2. प्राथमिक समूह– सामाजिक नियंत्रण की प्रक्रिया में प्राथमिक समूहों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। प्राथमिक समूह के अन्तर्गत परिवार, मित्र–मण्डली, क्रीड़ा–समूह, पड़ौसी इत्यादि आते हैं। व्यक्ति बचपन में अपने पड़ौसियों व क्रीड़ा–साथियों के सम्पर्क में आता है और विभिन्न अन्तः क्रियाओं में भाग लेता है। इसी दौरान बच्चा जीवन की बुनियादी बातों व यौन भेद की जानकारी अप्रत्यक्ष रूप से प्राप्त करता है। खेल समूह में खेल नियमों का पालन करना आवश्यक होता है। बच्चे के द्वारा इन नियमों का उल्लंघन करने पर उसे समूह से व्यंग्य व फटकार सुननी पड़ती है, जिससे उसका व्यवहार नियंत्रित होता है।

3. लोकरीतियाँ, लोकाचार व प्रथाएँ– सामाजिक प्रतिमान सामाजिक नियंत्रण के प्रमुख अभिकरण है। जनरीतियों के बारे में समनर ने कहा है कि जनरीतियां प्राकृतिक शक्तियों के समान होती है जिनका पालन व्यक्ति अचेतन रूप से करता है। जनरीतियाँ समाज में व्यवहार करने

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

की स्वीकृति एवं मान्यता प्राप्त विधियाँ है। इनकी उपेक्षा करने पर समाज द्वारा व्यक्ति की निंदा व आलोचना की जाती है। लोकाचार या रूढ़ियाँ अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण का प्रमुख साधन है। लोकाचारों में समूह कल्याण की भावना निहित होती है अतः व्यक्ति इनके पालन की अवहेलना नहीं कर सकता है। इनका पालन करना नैतिक दृष्टि से भी उचित माना जाता है । लोकाचार सकारात्मक व नकारात्मक होते हैं। सकारात्मक लोकाचारों में व्यक्ति को कुछ कार्य करने के निर्देश प्राप्त होते हैं, जैसे– सदा सत्य बोलो, ईमानदार बनो, बड़ों की आज्ञा का पालन करो आदि। नकारात्मक लोकाचार हमें कुछ कार्यों को करने से रोकते हैं, जैसे–झूठ मत बोलो, चोरी मत करो, हिंसा मत करो आदि। इनका उल्लंघन करने पर व्यक्ति को व्यंग्य, आलोचना, हास्य आदि का सामना करना पड़ता है। लोकाचार के महत्व को स्वीकार करते हुए डेविस कहते हैं कि सामान्य व्यक्तियों के मन में लोकाचारों से बड़ा कोई न्यायालय नहीं है।

4. धर्म तथा नैतिकता– धर्म व नैतिकता परस्पर सम्बन्धित अवधारणाएँ हैं। ये सामाजिक नियंत्रण का प्रमुख साधन हैं। धर्म व्यक्ति को 'क्या करना चाहिए' व 'क्या नहीं करना चाहिए' का आदर्श देता है। उसकी मान्यताएँ, विश्वास, परम्पराएँ, त्यौहार आदि किसी न किसी धर्म से अवश्य ही सम्बद्ध होते हैं। धर्म का सम्बन्ध अलौकिक शक्तियों में विश्वास से है। अलौकिक शक्तियों द्वारा कुछ अनिष्ट करने के भय से व्यक्ति धर्म के नियमों का पालन करता है। आगस्ट काम्ट ने कहा है कि धर्म नैतिकता का आधार है, अर्थात् बिना धर्म के नैतिकता का उद्‌भव नहीं हो सकता। नैतिकता व्यक्ति को उचित–अनुचित का बोध कराती है तथा उसे गलत कार्य करने से रोकती है। नैतिकता व्यवहार के स्वीकृत प्रतिमानों को निश्चित कर उसके विवेक को नियंत्रण करती है। नैतिकता व्यक्ति को सत्य, ईमानदारी, अहिंसा, समानता व न्याय के गुण सिखाती है। नैतिकता में भी समूह कल्याण की भावना निहित है। आज कल धर्म के स्थान पर नैतिकता सामाजिक नियंत्रण का प्रमुख साधन है।

5. सामाजिक नियंत्रण में राज्य की भूमिका– राज्य सामाजिक नियंत्रण का एक प्रभावशाली अभिकरण है। राज्य अपनी शक्तियों से समाज विरोधी तत्वों एवं अपराधियों पर अंकुश लगाता है। राज्य नागरिकों को विघटनकारी कार्य करने से रोकते हैं। राज्य, पुलिस, न्यायालय, कानून व जेल आदि अनेक माध्यमों के द्वारा सामाजिक नियंत्रण स्थापित करता है। गैर–कानूनी आचरण करने वालों के लिए राज्य दण्ड की व्यवस्था करता है तथा सामाजिक नियमों एवं कानूनों का पालन करने पर पुरस्कृत करता है। आधुनिक समाज में सामाजिक जटिलता की वृद्धि के कारण राज्य की भूमिका और अधिक बढ़ गयी है राज्य अपने क्षेत्र में आन्तरिक व बाह्य सुरक्षा प्रदान करने के साथ–साथ अनेक कल्याणकारी योजनाओं के माध्यम से लोगों में सुरक्षा की भावना विकसित करता है। इस प्रकार राज्य लोगों के व्यवहार को प्रभावशाली ढंग से नियंत्रित करता है।

6. कानून– आदिम काल से ही सामाजिक नियंत्रण में कानून की प्रमुख भूमिका रही है। कानून के द्वारा सामाजिक नियंत्रण दो प्रकार से किया जाता है, सकारात्मक एवं नकारात्मक। यदि समाज के लोगों द्वारा कानूनों को ध्यान में रखकर आचरण किया जाता है तो समाज ऐसे लोगों के लिए पदक, पुरस्कार, प्रमाण–पत्र आदि की व्यवस्था करता है। यह सकारात्मक सामाजिक नियंत्रण कहलाता है। इसके विपरीत यदि लोग कानून सम्मत व्यवहार न करके उनका उल्लंघन करते हैं, तो ऐसे अपराधियों को न्यायालयों द्वारा दण्डित किया जाता है। यह सामाजिक नियंत्रण का नकारात्मक तरीका है। कानून द्वारा सिर्फ व्यक्ति और समाज के व्यवहार को ही नियंत्रित नहीं किया जाता बल्कि विभिन्न सामाजिक समस्याओं पर नियंत्रण किया जाता है। जैसे कानून के द्वारा सती–प्रथा, छुआ–छूत, बाल–विवाह, चोरी, भ्रष्टाचार, बलात्कार, जैसी समस्याओं पर भी नियंत्रण पाने की कोशिश की गई है। समाज में लोग अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए हमेशा विचलनकारी व्यवहार करने के लिए तत्पर रहते हैं। ऐसे में सामाजिक नियंत्रण स्थापित करने के लिए कानून ही महत्वपूर्ण अभिकरण हो सकता है।

समाजीकरण एवं सामाजिक नियंत्रण

समाजीकरण एवं सामाजिक नियंत्रण में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये दोनों प्रक्रियाएँ साथ–साथ चलती रहती हैं। समाजीकरण के द्वारा व्यक्ति को सामाजिक मूल्यों, प्रतिमानों एवं आदर्शों के अनुरूप व्यवहार करना सिखाया जाता है जिससे वह समाज के मूल्यों एवं आदर्शों को आत्मसात् करता है तथा समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बनता है। समाजीकरण की प्रक्रिया में व्यक्ति समाज सम्मत व्यवहार करना सीखता है जिससे समाज में व्यवस्था बनी रहती है फलस्वरूप सामाजिक नियंत्रण स्थापित होता है।

ऑगबर्न ओर निमकॉफ का मानना है कि सामाजिक प्रतिमानों का व्यक्तियों द्वारा आंतरीकरण करने से ही समाज व्यवस्था बनी रहती है। समाजीकरण द्वारा पुरानी पीढ़ी नयी पीढ़ी को एक निश्चित व्यवहार करना सिखाती है। जिससे समाज में व्यवस्था बनी रहती है। इस प्रकार समाजीकरण की प्रक्रिया सामाजिक नियंत्रण का कार्य भी करती है। जिस तरह से समाजीकरण की प्रक्रिया सामाजिक नियंत्रण का कार्य करती है उसी प्रकार से सामाजिक नियंत्रण भी समाजीकरण में मदद करता है। सामाजिक नियंत्रण के द्वारा लोगों को सामाजिक नियमों का पालन करने व अपनी भूमिकाओं का निर्वाह सामाजिक प्रत्याशाओं के अनुरूप करने के लिए बाध्य किया जाता है।

ऑगबर्न एवं निमकॉफ का मत है कि सामाजिक

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

नियंत्रण समाजीकरण की असफलता को रोकता है। सामाजिक नियंत्रण के साधन तथा समाजीकरण की संस्थाएँ दोनों ही व्यक्ति को समाज द्वारा मान्य प्रथाओं, परम्पराओं तथा सामाजिक प्रतिमानों के अनुरूप आचरण करने का निर्देश देते हैं। इस प्रकार समाजीकरण एवं सामाजिक नियंत्रण में घनिष्ठ सम्बन्ध है। समाजीकरण जितना सफल होता है, सामाजिक नियंत्रण उतना ही प्रभावी होता जाता है। इस सम्बन्ध में फिचर का मत है कि "सामाजिक नियंत्रण समाजीकरण की प्रक्रिया का ही विस्तार है।"

सामाजिक नियंत्रण की आवश्यकता

किसी भी समाज का अस्तित्व एवं निरन्तरता बनाये रखने के लिए सामाजिक नियंत्रण आवश्यक है। संतुलन बनाये रखने हेतु मनुष्य की अराजक व व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों पर नियंत्रण लगाया जाता है। पॉल लैण्डिस का मानना है कि "मानव नियंत्रण के कारण ही मानव है।" समाज को व्यवस्थित व संगठित बनाये रखने तथा सामाजिक मूल्यों को प्राप्त करने के लिए सामाजिक नियंत्रण आवश्यक है। यदि समाज में नियंत्रण नहीं होगा तो समाज का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायेगा। लोग एक दूसरे का सहयोग नहीं करेंगे। सामाजिक प्रतिमानों का उल्लंघन किया जायेगा। इस प्रकार के व्यवहारों से समाज की एकता व संगठन को बनाये रखना कठिन होगा।

समाज को व्यवस्थित एवं संगठित रखकर ही हम सामाजिक मूल्यों को प्राप्त कर सकते हैं तथा हमारी सांस्कृतिक धरोहर की रक्षा कर सकते हैं।

सामाजिक नियंत्रण के द्वारा ही समाज में संगठन, एकता एवं व्यवस्था बनाये रखी जा सकती है। अतः सामाजिक नियंत्रण भी समाज की महती आवश्यकता है।

महत्वपूर्ण बिन्दु

- परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत एवं अटल नियम है।
- किसी वस्तु, संगठन अथवा आकृति के ढाँचे में परिस्थितियों के अनुसार आयी भिन्नता को परिवर्तन कहते हैं।
- मैकाइवर एवं पेज ने अपनी पुस्तक सोसायटी (Socity) में सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन के द्वारा की है। उनके अनुसार समाज स्वयं ही "सामाजिक सम्बन्धों का जाल है।
- प्राचीन समाजों की तुलना में आधुनिक समाजों में परिवर्तन अधिक स्पष्ट रूप से दिखायी देता है।
- सामाजिक परिवर्तन के बारे में पूर्वानुमान करना कठिन है।
- सामाजिक परिवर्तन के कारण निम्न है–
  - ★ प्राकृतिक या भौगोलिक कारक
  - ★ जनसंख्यात्मक कारक
  - ★ सांस्कृतिक कारक
  - ★ प्रौद्योगीकीय कारक
  - ★ आर्थिक कारक
- जनसंख्या वृद्धि से समाज में गरीबी व बेरोजगारी उत्पन्न होती है। गरीबी समाज में संघर्ष व तनाव को जन्म देती है।
- संस्कृति में सम्मिलित आदर्श, विश्वास, धर्म, प्रथाएँ, संस्थाएँ, रूढ़ियाँ आदि हमारे सांस्कृतिक जीवन का प्रतिबिम्ब है।
- कार्ल मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन में आर्थिक कारकों को महत्वपूर्ण माना है।
- समाज में सन्तुलन व व्यवस्था बनाये रखने के लिए समाज के सदस्यों के व्यवहार को नियंत्रित किया जाता है।
- सामाजिक नियंत्रण की अवधारणा का प्रतिपादन सर्वप्रथम अमेरिकन समाजशास्त्री ई.ए. रॉस ने 1901 में अपनी कृति 'Social control' में व्यवस्थित ढंग से किया है।
- सामाजिक नियंत्रण के द्वारा समाज में तनाव व संघर्ष को कम किया जाता है तथा सहयोग को बढ़ाने का प्रयास किया जाता है।
- सामाजिक नियंत्रण में दण्ड एवं पुरस्कार दोनों विधियों का प्रयोग किया जाता है।
- सामाजिक नियंत्रण का वह स्वरूप जिसमें सलाह, अनुनय, शिक्षा एवं पुरस्कार के द्वारा व्यक्तियों के व्यवहार को नियंत्रित किया जाता है, सकारात्मक सामाजिक नियंत्रण कहलाता है।
- औपचारिक नियंत्रण स्थापित करने के लिए औपचारिक संस्थाओं यथा राज्य, कानून, पुलिस, जेल, न्यायालय आदि की व्यवस्था होती है।
- प्रथाएँ, जनरीतियाँ, सामाजिक मानदण्ड, धर्म, नैतिकता, हास्य, व्यंग्य, जनमत आदि अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण के साधन है।
- जनरीतियाँ समाज में व्यवहार करने की स्वीकृति एवं मान्यता प्राप्त विधियाँ है। इनकी उपेक्षा करने पर समाज द्वारा व्यक्ति की निंदा व आलोचना की जाती हैं।
- नैतिकता व्यवहार के स्वीकृत प्रतिमानों को निश्चित कर उसके विवेक को नियंत्रण करती है।
- नैतिकता व्यक्ति को सत्य, ईमानदारी, अहिंसा, समानता व न्याय के गुण सिखाती है।
- राज्य अपनी शक्तियों से समाज विरोधी तत्वों एवं अपराधियों पर अंकुश लगाता है।
- राज्य, पुलिस, न्यायालय, कानून व जेल आदि अनेक माध्यमों के द्वारा सामाजिक नियंत्रण स्थापित करता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. मैकाइवर एवं पेज के अनुसार सामाजिक परिवर्तन है–
   (अ) समाज की संस्कृति में परिवर्तन।
   (ब) सामाजिक संबन्धों में परिवर्तन।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

(स) समाज के कार्यों में परिवर्तन।
(द) सामाजिक जीवन में परिवर्तन।

2. निम्न में से कौनसी स्थिति परिवर्तन के लिए उत्तरदायी है?
(अ) वस्तु (ब) समय
(स) भिन्नता (द) उपर्युक्त तीनों

3. सामाजिक परिवर्तन के लिए सांस्कृतिक विलम्बना का सिद्धान्त किस विद्वान ने दिया है?
(अ) आगबर्न (ब) दुर्खीम
(स) वेब्लिन (द) माल्थस

4. निम्न में से सामाजिक नियंत्रण का प्रकार नहीं है?
(अ) चेतन व अचेतन (ब) औपचारिक
(स) प्रकृति (द) सकारात्मक

5. "विपथगामी प्रवृत्तियों की कली को फूल बनने से पहले ही कुचल देना सामाजिक नियंत्रण है।" यह कथन किसका है?
(अ) ई.ए.रास (ब) पारसंस
(स) किंग्सले डेविस (द) कार्लमानहीम

6. निम्न में से कौनसा औपचारिक नियंत्रण का साधन है–
(अ) परिवार (ब) कानून
(स) प्रथाएँ (द) जनरीतियाँ

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न–

1. 'ऐस्से आन पापुलेशन' पुस्तक के लेखक कौन है?
2. शहरी जनसंख्या में वृद्धि कैसे होती है?
3. प्रौद्योगिकी का क्या अर्थ है?
4. सामाजिक नियंत्रण के चेतन व अचेतन स्वरूप का उल्लेख किस विद्वान ने किया है?
5. अनौपचारिक नियंत्रण के साधन कौन–कौनसे हैं?
6. सकारात्मक सामाजिक नियंत्रण क्या है?
7. 'सामान्य व्यक्तियों के मन में लोकाचारों से बड़ा कोई न्यायालय नहीं है।' यह कथन किसका है?
8. सीधी रेखा में होने वाला परिवर्तन कहलाता है?
9. गुरविच तथा मुरे ने सामाजिक नियंत्रण के कितने स्वरूप बताये हैं?
10. औपचारिक नियंत्रण के साधन लिखिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. सामाजिक परिवर्तन को परिभाषित कीजिए।
2. सामाजिक परिवर्तन के जनसंख्यात्मक कारक पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
3. सामाजिक परिवर्तन की तीन विशेषताएँ लिखिए।
4. अनौपचारिक व औपचारिक सामाजिक नियंत्रण में अन्तर कीजिए।
5. कानून के माध्यम से सामाजिक नियंत्रण कैसे होता है?
6. "धर्म तथा नैतिकता सामाजिक नियंत्रण का प्रभावी साधन है।" कैसे?

निबन्धात्मक प्रश्न

1. सामाजिक परिवर्तन को परिभाषित करते हुए, इसकी विशेषताएँ लिखिए।
2. सामाजिक परिवर्तन के प्रमुख कारणों की विवेचना कीजिए।
3. सामाजिक परिवर्तन के प्रकार लिखिए।
4. सामाजिक नियंत्रण के औपचारिक अभिकरण कौन–कौन से है? वर्णन कीजिए।
5. सामाजिक नियंत्रण के अनौपचारिक अभिकरणों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

उत्तरमाला–1. (ब) 2. (द) 3. (अ) 4. (स) 5. (ब) 6. (ब)

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

8. पारिस्थितिकी एवं समाज

क्या आप जानते हैं कि मनुष्य सहित सभी जीव अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु प्रकृति पर निर्भर हैं। यह निर्भरता प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष है। अपनी आवश्यकता पूर्ति हेतु सभी जीव प्राकृतिक पर्यावरण से अपनी अन्तक्रिया करते रहते हैं। पृथ्वी के समस्त जीवों में से केवल मनुष्य ही ऐसा जीव है जिसने तकनीक एवं साधनों का विकास करके प्रकृति एवं पर्यावरण को नियन्त्रित करने का प्रयास किया है। पारिस्थितिकी (Ecology) की अवधारणा जीवों एवं पर्यावरण के मध्य अन्तर्सम्बन्धों पर आधारित है अर्थात् पारिस्थितिकी वह विज्ञान है जो पृथ्वी के समस्त जीवों तथा भौतिक पर्यावरण के मध्य आपसी सम्बन्धों का अध्ययन करता है।

परिस्थितिकी का अर्थ
(Meaning of Ecology)

Ecology शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग जर्मन जीव वैज्ञानिक 'अन्र्स्ट हैकेल' ने सन् 1869 में किया था, आगे चलकर 'Oecology' के स्थान पर 'Ecology' का प्रयोग शुरू हो गया। हम पारिस्थितिकी विज्ञान के अन्तर्गत मनुष्यों एवं अन्य सभी जीवों की भौतिक पर्यावरण के बीच अन्तःक्रियाओं का अध्ययन करते हैं कि किस प्रकार पर्यावरण मनुष्यों एवं जीवों की गतिविधियों को नियन्त्रित एवम् निर्धारित करता है एवम् मनुष्यों की गतिविधियों ने किस तरह से पर्यावरण को नियन्त्रित करने तथा क्षति पहुंचाने की कोशिश की है। पारिस्थितिकी मूलतः जीवशास्त्र की एक शाखा है। पारिस्थितिकी वह विज्ञान है जिसमें वनस्पति, जीवों एवं मनुष्यों का पर्यावरण के साथ अन्तर्निर्भरता का अध्ययन उनकी प्राकृतिक अवस्था में किया जाता है। दूसरे शब्दों में पारिस्थितिकी जीवों का एक दूसरे के साथ तथा अपने आस–पास के भौतिक पर्यावरण के साथ अन्तःक्रिया का अध्ययन है। आप देखते हैं कि पशु–पक्षी अपने आहार के लिये एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा करते हैं व पूरे दिन सक्रिय रहते हैं कुछ पशु शाकाहारी होते हैं वह घास व अन्य शाकाहारी भोजन पाने के लिये एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा करते हैं इसी प्रकार मांसाहारी पशु अन्य जीवों के शिकार के लिये प्रयासरत रहते हैं। पारिस्थितिकी में एक स्वाभाविक सन्तुलन बना रहना आवश्यक है। हमारी पृथ्वी पर पाये जाने वाले सभी जीव, जन्तु, पेड़–पौधे, कीड़े–मकोड़े, पशु–पक्षी तथा विभिन्न प्रकार की वनस्पति इत्यादि सभी एक दूसरे पर निर्भर हैं। पेड़–पौधे हमें भोजन, लकड़ी, औषधि, सुरक्षा इत्यादि प्रदान करते हैं। पक्षी पेड़ों पर घर भी बनाते हैं इसी प्रकार पक्षी और पशुओं के मल के माध्यम से पेड़–पौधों के बीज एक स्थान से दूसरे स्थान तक फैलते हैं जिसमें नये पेड़–पौधे उगने में मदद मिलती है। शाकाहारी पशु–पक्षी फल–फूल एवम् वनस्पति को खाते हैं और मांसाहारी पशु–पक्षी अन्य पशु–पक्षियों को खाते हैं। अनुपयोगी लगने वाले कीड़े–मकोड़े भी व्यर्थ व निर्जीव वस्तुओं को खाकर व नष्ट करके पारिस्थितिक सन्तुलन को बनाए रखते हैं। यह पारिस्थितिक तन्त्र (Ecosystam) करोड़ों वर्षों के प्राकृतिक उद्‌विकास (Evolution) का परिणाम है। पारिस्थितिकी में एक समय में जीवों की एक सीमित संख्या ही आश्रित रहकर अपनी आवश्यकताओं को पूरा कर सकती है इस क्षमता को 'धारणी क्षमता' कहते हैं। यह क्षमता प्राकृतिक रूप से अपना सन्तुलन बनाए रखती है। यदि पारिस्थिकीय में से किसी एक घटक को समाप्त कर दिया जाए अथवा कम या ज्यादा कर दिया जाए तो यह सन्तुलन बिगड़ने लगता है जिससे पूरे पारिस्थितिक तन्त्र के लिए संकट उत्पन्न हो सकता है। यहां यह ध्यान रखना अति महत्वपूर्ण है कि पृथ्वी पर केवल मनुष्य ही वह जीव है जो कृत्रिम रूप से इस सन्तुलन को बिगाड़ सकता है। क्योंकि अन्य जीव पारिस्थितिक तन्त्र पर पूरी तरह निर्भर है जबकि मनुष्य ने प्रकृति को अपनी आवश्यकता के हिसाब से परिवर्तित व नियन्त्रित करने की तकनीक को विकसित कर लिया है। अन्य सभी जीवों की आवश्यकताएं उदर–पूर्ति तथा आवास तक सीमित है जबकि मनुष्यों ने अपनी आवश्यकताओं को असीमित रूप से विकसित कर लिया है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और मनुष्यों का विकास भी सामाजिक रूप से हुआ है अतः मानव समाज एवं पारिस्थितिक के बीच के सम्बन्धों को समझना अत्यन्त आवश्यक है। लाखों वर्षों पूर्व के आदिमानव की आवश्यकताएं उदर पूर्ति तक सीमित थी। आधुनिक मानवसमाज में हमारी आवश्यकताएं असीमित हो गयी है जिनकी पूर्ति के लिए हम प्राकृतिक संसाधनों जैसे पानी, खनिज, पेड़–पौधों, पेट्रोलियम पदार्थों, भूमि, वन, समुद्र इत्यादि का दोहन के स्थान पर शोषण करने लगे हैं। यहाँ यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण है कि इस पारिस्थितिक असन्तुलन के लिये मानव समाज जिम्मेदार है जबकि इसकी कीमत सभी जीव चुका रहे हैं। अब हम आगे पारिस्थितिकी असन्तुलन से उत्पन्न कुछ प्रमुख चुनौतियों की चर्चा करेंगे।

पर्यावरण
(Environment)

पर्यावरण संकट को समझने से पूर्व हमें पर्यावरण को समझना होगा। हमारे चारों तरफ व्याप्त आवरण जिसमें सूक्ष्म जीवाणु से लेकर सभी जीव, पेड़–पौधे और उनसे जुड़ी समस्त क्रियाएँ तथा जीवनरहित हवा, जलवायु, नदी–तालाब, पर्वत, समुद्र, चट्टानें, मैदान इत्यादि सभी कुछ मिलकर हमारे पर्यावरण को बनाते हैं। यह हमारे चारों तरफ फैला हुआ आवरण है। इसे अधिक समझने के लिये हम कुछ विद्वानों की परिभाषाओं को देखेंगे–

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

जिस्बर्ट (P. Gisbert) के अनुसार "पर्यावरण वह सब कुछ है जो किसी वस्तु को चारों ओर से घेरे हुए है और प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित कर रहा है।"

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार "भौगोलिक पर्यावरण में वह समस्त दशाएं सम्मिलित है जो प्रकृति मनुष्य को प्रदान करती है।"

हर्सकोविट्ज (M.J. Herskovits) के अनुसार "पर्यावरण उन सभी बाहरी दशाओं और प्रभावों का योग है जो जीवधारियों के जीवन, उनके विकास और उनकी अनुक्रियाओं पर प्रभाव डालती है।"

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि जो कुछ भी हमारे चारों ओर व्याप्त है और हमें निरन्तर प्रभावित कर रहा है, पर्यावरण कहलाता है। पर्यावरण को अधिक जानने के लिए हम पर्यावरण संरचना के चार प्रमुख अंगों को जानेंगे–

(1) जल मण्डल (Hydrosphere)– जल मण्डल से हमारा तात्पर्य जल की उस परत से है जो महासागरों, नदियों, झीलों, तालाबों तथा अन्य रूप में पृथ्वी की सतह पर फैली है। पृथ्वी पर 71 प्रतिशत भाग में जल पाया जाता है तथा 29 प्रतिशत भाग पर स्थल है। हम सब जानते हैं कि जल ही जीवन है अर्थात् बिना जल के किसी भी जीव का जीवित रहना सम्भव नहीं है। यहां यह जानना महत्वपूर्ण है कि पृथ्वी पर पाये जाने वाले 71 प्रतिशत जल में से अधिकांश पीने योग्य नहीं है।

(2) वायुमण्डल (Atmosphere)– पृथ्वी के चारों तरफ पाये जाने वाले हवा के आवरण को हम वायुमण्डल कहते हैं। यह वायुमण्डल पृथ्वी पर रहने वाले जीवों तक सूर्य की हानिकारक पराबैंगनी किरणों (Ultraviolet Rays) को पहुंचने से रोकता है तथा पृथ्वी के तापमान को स्थिर बनाए रखता है। जिससे जीवों व पेड़–पौधों का जीवन सम्भव हो पाता है। हम सभी जानते हैं कि वायुमण्डल में पायी जाने वाले गैस आक्सीजन के बिना हम श्वास भी नहीं ले पायेंगे।

(3) स्थलमण्डल (Lithosphere)– पृथ्वी की सम्पूर्ण बाहरी परत जिस पर महाद्वीप और महासागर स्थित है, उसे स्थल मण्डल कहते हैं। यह स्थल मण्डल हमारे खनिजों, मिट्टी इत्यादि का प्रमुख स्रोत है। स्थल मण्डल पर ही हम फसलो और पेड़–पौधों को उगाते हैं तथा रहने के लिए मकान इत्यादि बनाते हैं।

(4) जैवमण्डल (Biosphero)– स्थलमण्डल, वायुमण्डल व जलमण्डल का वह भाग जहां तक जीवन पाया जाता है मिलकर जैव मण्डल बनाते हैं। जैव मण्डल में होने वाला परिवर्तन सभी जीवों को प्रभावित करता है।

हमारे पर्यावरण की संरचना के यह चारों प्रमुख अंग बहुत महत्वपूर्ण हैं जो पृथ्वी पर जीवन की दशा व दिशा को तय करते हैं।

पर्यावरणीय संकट
(Environmental Crisis)

पर्यावरण के प्रमुख अंगों को जानने के बाद हम पर्यावरण को समझ चुके हैं अब हमें पर्यावरणीय संकट को जानना है इसके लिये हमें पर्यावरण के समक्ष उत्पन्न चुनौतिया उनके कारणों को जानना होगा किन्तु इसे समझने के पूर्व हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रकृति स्वयं आरोग्यकर (Self Healing) होती है अर्थात् प्रकृति एवं पर्यावरण के सभी अंगों की सहने की एक सीमा होती है उसके पश्चात् वह स्वयं में अल्पकालीन परिवर्तन करके पुनः सही रूप प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु मानवीय हस्तक्षेप के अत्यधिक बढ़ने के कारण प्रकृति का यह स्वभाव गौण हो गया है तथा मानवीय हस्तक्षेप के दुष्प्रभाव हमें पर्यावरण प्रदूषण के रूप में देखने को मिल रहे हैं। अब हम पर्यावरण प्रदूषण को समझेंगे–

पर्यावरण प्रदूषण (Environmental Pollution)–

पर्यावरण तथा उसके किसी अंग में दूषित पदार्थों के प्रवेश के कारण पर्यावरण के प्राकृतिक सन्तुलन के बिगड़ने को पर्यावरण प्रदूषण कहते हैं अर्थात् पानी, हवा, प्राकृतिक सम्पदा, मिट्टी इत्यादि में दूषित विषैले और अवांछित पदार्थों के मिलने के कारण जीवो व वनस्पतियों पर इनका विपरीत प्रभाव पड़ने लगता है और परिस्थितिक तन्त्र को हानि पहुंचने लगती है तो इस स्थिति को पर्यावरण प्रदूषण कहते हैं। प्रदूषण से धीरे–धीरे पर्यावरण क्षरण (Environmental Degradation) होने लगता है। पर्यावरण प्रदूषण को अधिक जानने के लिए हम पर्यावरण प्रदूषण के प्रमुख प्रकारों को जानेंगे–

(1) जल प्रदूषण (Water Pollution)– प्राकृतिक जल शुद्ध होता है किन्तु जब जल स्रोतों जैसे समुद्र, नदियों, भू–जल, झीलों, तालाबों व कुओं इत्यादि में रासायनिक व अन्य हानिकारक पदार्थों को मिला दिया जाता है तो यह जल प्रदूषित हो जाता है। यह जल प्रदूषण कहलाता है। इन रासायनिक और हानिकारक पदार्थों के कारण यह जल आहार, कृषि, मछली पालन, मानव एवं पशु–पक्षियों के स्वास्थ्य के लिये प्रतिकूल हो जाता है। जल को दूषित करने वाले तत्वों को जल प्रदूषक (Water Pollutants) कहते हैं। जल प्रदूषण के लिये निम्नलिखित प्रमुख प्रदूषक जिम्मेदार हैं–

1. **औद्योगिक प्रदूषक–** उद्योगों से निकलने वाला दूषित पानी और अन्य तरल पदार्थ, रसायनयुक्त औद्योगिक अपशिष्ट जिसमें सीसा, जस्ता, पारा, क्रोमियम, प्लास्टिक, ग्रीस, तेल, विविध अम्ल इत्यादि मिले होते हैं यह उद्योगों से बहकर जल स्रोत व भूमिगत जल में मिलकर जल को प्रदूषित कर देते हैं।
2. **घरेलू प्रदूषक–** घरेलू कार्यों जैसे नहाने, कपड़े धोने, साफ–सफाई इत्यादि में बड़ी मात्रा में जल का उपयोग होता है। उपयोग के पश्चात् इस जल में कास्टिक

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

सोड़ा, भोजन के कण इत्यादि मिल जाते हैं जिससे जल दूषित हो जाता है।

3. **मल–मूत्र–**घरेलू और सार्वजनिक शौचालयों व मूत्रालयों से निकलने वाला मलमूत्र बड़ी मात्रा में जल को प्रदूषित करता है। मलयुक्त जल को मलजल कहते हैं। हमारे अधिकांश शहरों व ग्रामीण क्षेत्रों में मलजल की उचित निकासी व्यवस्था नहीं होने के कारण यह स्वच्छ जल स्रोतों में मिलकर जल को प्रदूषित करता है।
4. **कृषि प्रदूषक–** वर्तमान समय में कृषि कार्यों में अधिकांशतः कीटनाशकों व रासायनिक खाद्य का उपयोग किया जाता है यह पदार्थ वर्षाजल के साथ बहकर जल स्रोतों में मिल जाते हैं तथा जल को प्रदूषित करते हैं।
5. **रेड़ियोसक्रिय प्रदूषक–** परमाणविक पदार्थों में विस्फोट से रेडियोसक्रिय पदार्थ पैदा होते हैं जो जल स्रोतों में मिलकर जल को दूषित कर देते हैं।

जल प्रदूषण के दुष्प्रभाव–प्रदूषित जल के उपयोग से मानव एवं पशुओं के शरीर में अनेक रोग हो जाते हैं तथा इस जल में उगी हुई सब्जियों व फल के उपयोग से भी अनेक गम्भीर रोग उत्पन्न हो जाते हैं। प्रदूषित जल से जलीय पौधों व जलीय जीवों के जीवन पर भी संकट उत्पन्न हो जाता है तथा खाद्य श्रृंखला (Food Chain) भी प्रभावित हो जाती है।

(2) वायु प्रदूषण (Air Pollution)– जब शुद्ध वायु में धुआँ, धूल, गैसें व अन्य प्रदूषक मिल जाते हैं और इस कारण यह वायु मानव, पशु–पक्षियों, पेड़–पौधों व अन्य जीवधारियों के लिये हानिकारक हो जाती है तो इसे वायु प्रदूषण कहते हैं अर्थात् शुद्ध वायु का दूषित हो जाना ही वायु प्रदूषण है। प्रमुख वायु प्रदूषक निम्नलिखित है–

1. कल–कारखानों से निकलने वाली दूषित और जहरीली गैसें जो हवा में मिलकर शुद्ध वायु को भी दूषित कर देती है।
2. वाहनों से निकलने वाला जहरीला धुआँ जिसमें नाइट्रोजन आक्साइड, कार्बन मोनोक्साइड़ जैसी हानिकारक गैसें होती है।
3. घरेलु उपयोग के लिये जलाई जाने वाली लकड़ियों व छानों इत्यादि का धुआँ।
4. पारा शोधन संयत्र, कपास तथा की ब्लीचिंग, तेल शोधन शाला इत्यादि विविध संयंत्रों से निकलने वाला जहरीला धुआँ।
5. ज्वालामुखी विस्फोट से निकलने वाली गैसों से (प्राकृतिक प्रदूषक)

वायु प्रदूषण के दुष्प्रभाव– वायु प्रदूषित होने पर किसी भी जीवधारी का स्वस्थ्य रहना सम्भव नहीं है क्योंकि हम भोजन व जल की तुलना में वायु का अधिक उपयोग करते हैं। एक स्वस्थ व्यक्ति 24 घण्टे में लगभग 15 से 16 किलोग्राम ऑक्सीजन लेता है। वायु प्रदूषण के कारण श्वसन तन्त्र के रोग के साथ–साथ, आंखों, किडनी व शरीर के अन्य अंगों के गम्भीर रोग हो जाते हैं। वायु प्रदूषण अन्य जीवों व पेड़–पौधों पर भी दुष्प्रभाव डालते हैं। विशेष तौर पर महानगरों में वायु प्रदूषण एक गम्भीर चुनौती बनता जा रहा है।

(3) भूमि प्रदूषण (Land Pollution)– वर्तमान समय में तेज गति से हो रहे औद्योगिक व नगरीकरण के कारण उत्पन्न होने वाला ठोस कचरा भूमि के भौतिक, रासायनिक एवं जैविक गुणों को दूषित कर रहा है। जिससे भूमि की प्राकृतिक गुणवत्ता कम हो रही है। इसे भूमि प्रदूषण कहते हैं। हमें यह तथ्य भी ध्यान रखना होगा कि पृथ्वी स्थिर इकाई होने के कारण इसमें वृद्धि भी सम्भव नहीं है। लगभग 80 प्रतिशत खाद्य पदार्थ हमें मिट्टी से ही प्राप्त होते हैं और कृषि योग्य भूमि अत्यन्त सीमित है। यह भूमि भी प्रदूषण के कारण अनुपयोगी हो रही है। प्रमुख भूमि प्रदूषक निम्नलिखित हैं–

1. कल–कारखानों से निकलने वाले हानिकारक रासायनिक अपशिष्ट
2. घरों का कचरा, पालिथीन की थैलियाँ व अन्य सामान
3. कृषि कार्यों में उपयोग में लिए गये रासायनिक खाद्य व उर्वरक
4. इलैक्ट्रोनिक सामानों व पुराने वाहनों का कबाड़
5. ऊर्जा केन्द्रों व कारखानों से निकलने वाली राख
6. मल–मूत्र
7. परमाणु विस्फोटों से रेडियोसक्रिय पदार्थ पृथ्वी पर गिरते हैं और लम्बे वर्षों तक भूमि को प्रदूषित कर देते हैं।
8. खनन क्षेत्र से निकलने वाले अपशिष्ट

भूमि प्रदूषण के दुष्प्रभाव– मिट्टी की उर्वरकता में कमी के कारण उत्पादन प्रभावित होता है। फसलें प्रदूषित व जहरीली हो जाती है। मक्खी, मच्छर तथा बीमारी को फैलाने वाले अन्य जीव तेजी से पनपने लगते हैं। रहने योग्य स्वच्छ स्थान सीमित हो जाते हैं। दूषित भूमि के कारण जल प्रदूषण भी तेजी से होता है।

(4) ध्वनि प्रदूषण (Noise Pollution)– आप जानते हैं कि ध्वनि के कारण ही हम सुन सकते हैं किन्तु जब तीव्र ध्वनि हमारी शारीरिक एवं मानसिक क्रियाओं पर विपरीत प्रभाव डालने लगे तो वह शोर कहलाती है। अत्यधिक शोर तथा अवांछित ध्वनियों से मनुष्य तथा अन्य जीवों को परेशानियाँ होने लगती है तो यह ध्वनि प्रदूषण कहलाता है। ध्वनि की तीव्रता को 'डेसिबल' में नापा जाता है कुछ प्रमुख स्रोतों के डेसिबल में हम ध्वनि प्रदूषण को अधिक अच्छी तरह समझ सकते हैं–

क्र.सं.	स्रोत	ध्वनि तीव्रता
1	दीवार घड़ी की आवाज	30 डेसिबल
2	आपसी चर्चा	50 डेसिबल

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

3	रेलगाड़ी	90 डेसिबल
4	तेज संगीत	120 डेसिबल
5	बिजली कड़कने की आवाज	120 डेसिबल
6	जेट विमान का उड़ना	140 डेसिबल
7	रॉकेट लांच (Rocket Launch) के समय	180 डेसिबल

अलग–अलग स्रोतों से उत्पन्न आवाज से आप ध्वनि की तीव्रता को समझ चुके हैं। वैज्ञानिक अध्ययनों से पता चला है कि 85 डेसिबल से अधिक तीव्र ध्वनि के प्रभाव में लम्बे समय तक रहने पर व्यक्ति बहरा हो सकता है। ध्वनि प्रदूषण के प्रमुख प्रदूषक निम्न हैं–

1. **यातायात के साधन–** सड़कों पर बढ़ते यातायात के साधनों के कारण उनके चलने पर होने वाला शोर तथा हार्न बजाने पर उत्पन्न होने वाला शोर ध्वनि प्रदूषण का बड़ा कारण है। विशेषतौर पर महानगरों में यह समस्या अत्यन्त गम्भीर है। इसी प्रकार रेलगाड़ियाँ भी ध्वनि प्रदूषण को बढ़ाती है। सुविधाओं के विस्तार के साथ–साथ वर्तमान समय में हवाई यातायात का भी अत्यधिक विस्तार हो गया है जिसके कारण विमान से निकलने वाला शोर भी ध्वनि प्रदूषण को बढ़ा रहा है।
2. **कल–कारखाने तथा मशीनें**–नगरीकरण व औद्योगिकरण के कारण बड़े–बड़े उद्योगों तथा कल–कारखाने की संख्या बहुत बढ़ गई है जिनसे उत्पन्न शोर ध्वनि प्रदूषण को बढ़ा रहा है। बड़े उद्योगों के अतिरिक्त शहरी क्षेत्रों में आरा–मशीनें तथा अन्य मशीनें भी ध्वनि प्रदूषण को बढ़ा रही है।
3. **मनोरंजन के साधन–** मनोरंजन के विविध साधन जैसे सिनेमा, टेलिविजन, रेड़ियो तथा संगीत के अन्य माध्यमों के कारण भी ध्वनि प्रदूषण बढ़ रहा है। विविध कार्यक्रमों में ध्वनि विस्तारक यन्त्रों का उपयोग तथा पटाखों का बढ़ता प्रचलन भी ध्वनि प्रदूषण के लिए जिम्मेदार है।

ध्वनि प्रदूषण के दुष्प्रभाव– ध्वनि प्रदूषण के कारण मनुष्य तथा अन्य जीवों के स्वास्थ्य तथा व्यवहार पर नकारात्मक प्रभाव पड़ रहा है। चिड़–चिडापन, बहरापन, उच्च रक्तचाप, तनाव, नींद न आना, अवसाद तथा मानसिक रोग इत्यादि अनेक बीमारियाँ बढ़ रही है। अधिक शोर हमारी कार्यक्षमता को भी कम करता है और आपसी वार्तालाप भी सहज तरीके से नहीं हो पाता है।

(5) रेडियोधर्मी प्रदूषण (Redioactive Pollution)– इस प्रकार के प्रदूषण का मुख्य कारण परमाणु विस्फोट है जिससे बड़ी मात्रा में रेडियोधर्मी पदार्थ पर्यावरण में घुलमिल जाते हैं। कभी–कभी परमाणु भट्टियों में रिसाव के कारण भी यह प्रदूषण होता है। परमाणु शक्ति का अहसास पूरी दुनिया को द्वितीय विश्वयुद्ध के समय हुआ जब अमेरिका ने जापान के दो शहरों (हिरोशिमा और नागासाकी) पर परमाणु बम गिराये थे जिससे लाखों की संख्या में मनुष्य तथा जीवजन्तु मारे गये तथा पेड़–पौधे नष्ट हो गये थे। रेडियोधर्मी प्रदूषण के कारण बहुत से शारीरिक तथा मानसिक रोग हो जाते हैं और सबसे बड़ी बात इस प्रदूषण को एक बार फैलने के बाद रोकना अत्यन्त कठिन है। इसे रोकने का सबसे बड़ा उपाय परमाणु शक्ति का अप्रसार ही है।

(6) प्रकाश प्रदूषण (Light Polution or Luminous Pollution)– आधुनिक जीवन शैली ने प्रदूषण के एक नये प्रकार को जन्म दिया है जिसे प्रकाश प्रदूषण कहते हैं। आजकल विकसित देशों में तथा बड़े महानगरों में कृत्रिम प्रकाश के अत्यधिक उपयोग के कारण यह सामान्य नागरिक जीवन और अन्य जीवों को नकारात्मक रूप से प्रभावित करने लगता है अतः कृत्रिम प्रकाश का अत्यधिक और अनावश्यक उपयोग प्रकाश प्रदूषण की स्थिति, उत्पन्न करता है। इसके कारण बेचैनी, चिड़चिड़ापन, अनिद्रा तथा अन्य रोग उत्पन्न हो जाते हैं। यह कृत्रिम प्रकाश प्राकृतिक प्रकाश व्यवस्था में दखल देता है जिससे जीवों की दिनचर्या प्रभावित होती है।

अब तक आप पर्यावरण प्रदूषण के प्रमुख प्रकार जान चुके हैं। पर्यावरण प्रदूषण के कारण जलवायु में परिवर्तन हो रहा है और जलवायु में परिवर्तन की वर्तमान रफ्तार ने मनुष्य सहित सभी जीवो के जीवन पर संकट उत्पन्न कर दिया है। अब हम जलवायु तथा जलवायु परिवर्तन को समझेंगे–

जलवायु परिवर्तन एवम् सामाजिक दायित्व (Climate Change & Social Responsibility)

जलवायु (Climate)– मौसम विज्ञानी प्रतिदिन विविध स्थानों का मौसम दर्ज करते हैं तथा यह आँकड़े वर्षों तक सुरक्षित रखे जाते हैं। आँकड़ों के आधार पर किसी स्थान का औसत मौसम प्रतिमान निर्धारित किया जाता है। यह लम्बे समय तक का औसत मौसम उस स्थान की जलवायु कहलाता है। जलवायु से मनुष्य सहित सभी जीव, वनस्पति, मिट्टी, जलस्रोत इत्यादि प्रभावित होते हैं इसलिए जलवायु की पर्यावरण के नियन्त्रण व निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका होती है। हमारा जीवन जलवायु से सबसे अधिक प्रभावित होता है। हमारा खान–पान, वस्त्र, कृषि के तरीके व फसलें इत्यादि जलवायु के अनुसार निर्धारित होती है। लम्बे समय तक एक स्थान पर रहने के कारण मनुष्य तथा अन्य जीव व वनस्पति जलवायु से अनुकूलन स्थापित कर लेते हैं और अपने–आप को जलवायु के अनुसार ढाल लेते हैं।

जलवायु परिवर्तन (Climate Change)– परिवर्तन प्रकृति का नियम है। जलवायु में भी परिवर्तन लगातार होता रहता है किन्तु प्राकृतिक रूप से जलवायु में परिवर्तन की गति इतनी धीमी होती है कि सभी जीवधारी परिवर्तित जलवायु के अनुरूप खुद को ढ़ाल लेते हैं और किसी भी तरह का कोई संकट उत्पन्न नहीं होता है। जलवायु में होने वाले परिवर्तन से जीवधारियों के साथ–साथ पारिस्थितिक तन्त्र भी प्रभावित

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

होता है। औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व जलवायु परिवर्तन में मानवीय हस्तक्षेप नगण्य था क्योंकि हमारी आवश्यकताएं सीमित थी और इन आवश्यकताओं को हम अधिकांशतः ऐसे साधनों, तकनीकों व वस्तुओं के उपयोग से पूर्ण करते थे कि पर्यावरण व जलवायु पर कोई गम्भीर नकारात्मक असर नहीं पड़ता था किन्तु औद्योगिक क्रान्ति व अत्यधिक नगरीकरण के कारण विकास की ऐसी यात्रा प्रारम्भ हो गयी है जो हमें विनाश की ओर ले जा रही है।

जलवायु में परिवर्तन का तात्पर्य है कि किसी स्थान के वर्षों से चले आ रहे औसत मौसम में परिवर्तन हो जाना। यह परिवर्तन प्रमुख रूप से उस स्थान के तापमान (गर्मी–सर्दी) वर्षा, नमी, हवा इत्यादि में होता है तथा यह चिन्ता का विषय तब होता है जब यह परिवर्तन पिछली कुछ सदियों की परिवर्तन की औसत गति से अधिक तेजी से होने लगता है क्योंकि तेजी से जलवायु परिवर्तन होने पर पशु–पक्षी व अन्य जीवधारी और पेड़–पौधे बदलती जलवायु से अनुकूलन स्थापित नहीं कर पाते हैं तथा उनकी प्रजातियों के समक्ष अस्तित्व का संकट उत्पन्न होने लगता है। पिछले लगभग 200 वर्षों की हमारी गतिविधियों के कारण तेजी से जलवायु परिवर्तन हो रहा है जिसके साथ जीवजगत व वनस्पति जगत समन्वय स्थापित नहीं कर पा रहा है और यह मुश्किलें लगातार बढ़ती ही जा रही है। अब हम जलवायु परिवर्तन के प्रमुख कारणों को जानेंगे–

जलवायु परिवर्तन के प्रमुख कारण– जलवायु परिवर्तन के कारणों को प्रमुख दो भागों में बाँटा जा सकता है–

1. प्राकृतिक कारण– आपने सुना होगा कि थार के रेगिस्तान के स्थान पर करोड़ों वर्षों पूर्व समुद्र था। एक समुद्र का रेगिस्तान में परिवर्तित हो जाना बहुत बड़ी प्राकृतिक घटना है। हम जानते हैं कि प्रकृति सदैव परिवर्तनशील है बहुत सारी प्राकृतिक घटनाएं हमारे जलवायु को प्रभावित करती है और उसे बदल देती है। जैसे– ज्वालामुखी विस्फोट होने पर बड़ी मात्रा में गैस और तरल पदार्थ पर्यावरण में मिलते हैं और जलवायु को प्रभावित करते हैं। 1815 में सुमात्रा में ज्वालामुखी विस्फोट के कारण एक वर्ष तक मौसम प्रभावित हुआ था। इसी तरह हमारी पृथ्वी के विविध महाद्वीप भी अपने स्थान से धीरे–धीरे खिसक रहे हैं और जब इनकी प्लेट्स आपस में टकराती है तो धरती पर भूकम्प और तूफान आते हैं तथा महाद्वीपों के स्थान परिवर्तन के कारण जलवायु भी परिवर्तित होती है। इनके अतिरिक्त भी बहुत सी प्राकृतिक घटनाएं जैसे किसी उलका पिन्ड का पृथ्वी से टकराना इत्यादि भी हमारी जलवायु को प्रभावित करते हैं।

2. मानवीय कारण– पिछले 150–200 वर्षों से हमने विकास की जिस राह को पकड़ा है और जिन साधनों को इसके लिए अपनाया है उससे उत्पन्न प्रभाव जलवायु परिवर्तन के लिए जिम्मेदार है। इनमें प्रमुख कारण है कोयला, पैट्रोलियम पदार्थों तथा गैसों का उपयोग जिन्हें प्रमुख रूप से हम औद्योगिक जरूरतों तथा यातायात के साधनों (वाहनों) में उपयोग करते हैं। खेतों में बढ़ते रसायनिक खाद्य का उपयोग तथा वनों की कटाई भी इसके लिए जिम्मेदार है। हमारी बढ़ती जनसंख्या की जरूरतों को पूरा करने के लिये हम प्राकृतिक संसाधनों का अविवेकपूर्ण इस्तेमाल कर रहे हैं। मानवीय हस्तक्षेप के कारण जलवायु परिवर्तन को अधिक समझने के लिए हमें ओजोन परत क्षय तथा ग्रीन हाउस प्रभाव को समझना होगा।

ओजोन परत क्षय (Ozone Layer Depletion)– ओजोन एक प्रकार की गैस है जो समताप मण्डल में पाई जाती है। यह आक्सीजन का ही एक रूप है। यह नीले रंग की होती है। यह गैस पृथ्वी की गुरूत्वाकर्षण शक्ति के प्रभाव से पृथ्वी के चारों ओर एक परत के रूप में मौजूद है। यह गैस समताप मण्डल में आक्सीजन तथा सूर्य की पराबैंगनी किरणों (Ultravoilet Reys) के क्रिया करने से बनती है तथा यह गैस पराबैंगनी किरणों को अवशोषित करके पुनः आक्सीजन में बदल जाती है। इस प्रकार प्राकृतिक रूप से ओजोन गैस का सन्तुलन बना रहता है। ओजोन परत का सबसे महत्वपूर्ण कार्य सूर्य से निकलने वाली हानिकारक पराबैंगनी किरणों को अवशोषित करना है। ओजोन परत के कारण सूर्य से निकलने वाली 99 प्रतिशत से अधिक पराबैंगनी किरणें पृथ्वी की सतह तक नहीं पहुँच पाती है और पृथ्वी पर रह रहा जीव जगत इसके हानिकारक प्रभाव से बच जाता है। एक प्रकार से यह पृथ्वी के लिये एक कवच अथवा छाते के रूप में कार्य करता है जिससे हम पराबैंगनी विकिरण (Ultravoilet Rediation) से बचे रहते हैं। यदि यह किरणें हम तक पहुंच जाये तो जीवों के डीएनए और प्रोटीन इन किरणों को अवशोषित कर लेते हैं और जीवों का डीएनए क्षतिग्रस्त होने लगता है जिससे त्वचा का कैंसर हो सकता है तथा त्वचा में असमय बुढ़ापे के लक्षण दिखाई देने लगते हैं, हमारी कोशिकाएं क्षतिग्रस्त होने लगती है। आँखों में मोतियाबिंद रोग हो सकता है।

ओजोन परत क्षय होना अथवा ओजोन परत में छिद्र की समस्या का अर्थ है कि ओजोन गैस का पर्याप्त मात्रा में न बनना जिससे ओजोन की परत पतली हो रही है। विशेषतौर पर एन्टार्कटिक क्षेत्र पर इसका प्रभाव देखा जा सकता है। एन्टार्कटिका के ऊपर प्रतिवर्ष अगस्त के उत्तरार्द्ध एवम् अक्टूबर के प्रारम्भ में यह छिद्र बनता है। ओजोन परत में छोटे–छोटे छिद्र आस्ट्रेलिया, अर्जेण्टीना, चिली इत्यादि में भी स्पष्ट दिखाई देने लगे हैं। ओजोन परत में छिद्र अथवा ओजोन परत के क्षय का प्रमुख कारण हैलोजनित गैसें (Halogenated Gases) है। इनमें क्लोरो–फ्लोरो कार्बन (CFC) हैलन्स तथा नाइट्रोजन आक्साइड्स प्रमुख है। क्लोरो–फ्लोरो कार्बन यौगिक का प्रमुख उपयोग एयरकन्डीशनर तथा रेफ्रिजरेटरों में तथा पैंकेजिग उद्योग, डनलप के गद्दों, तकियों इत्यादि में

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

किया जाता है। यह गंधनाशक (डियोडरन्ट), शेविंग क्रीम तथा हेयर स्प्रे में भी प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार जीवाश ईंधन जैसे पैट्रोलियम पदार्थ, कोयला व गैस के प्रयोग से बनने वाली कार्बन डाईआक्साइड, कार्बन मोनो आक्साइड इत्यादि भी ओजोन परत को क्षतिग्रस्त कर रही है।

ग्रीन हाऊस प्रभाव और वैश्विक तापमान में वृद्धि– पृथ्वी का वातावरण जिस तरह से सूर्य की ऊर्जा को ग्रहण करता है उसे ग्रीन हाऊस प्रभाव कहते हैं। ग्रीन हाऊस प्रभाव के कारण पृथ्वी की सतह व वायुमण्डल प्राकृतिक रूप से गर्म रहता है। पृथ्वी के चारों ओर ग्रीन हाऊस गैसों कार्बनडाई आक्साइड, मीथेन, नाइट्स आक्साइड और क्लोरो–फ्लोरो कार्बन की एक परत है। यह परत सूर्य की ऊर्जा को सोख कर पृथ्वी पर चारों दिशाओं में पहुँचाती है। ग्रीन हाऊस प्रभाव के अभाव में पृथ्वी का तापमान–18 डिग्री हो सकता है। इतने कम तापमान पर अधिकांश जीवों का विकसित होना सम्भव नहीं होता। ग्रीन हाऊस प्रभाव एक काँच के घर की तरह काम करता है जो प्रकाश को अन्दर तो आने देता है लेकिन ताप को बाहर नहीं जाने देता है। सूर्य की ऊर्जा का कुछ भाग वायुमण्डलीय ग्रीन हाऊस गैसों द्वारा अवशोषित कर लिया जाता है। इन गैसों के अणु ऊष्मा ऊर्जा को विकरित करते हैं और इसका अधिकांश भाग पृथ्वी की सतह पर लौट आता है। इससे पृथ्वी की सतह व निम्नतर वायुमण्डल गर्म रहता है। यह प्रक्रिया प्राकृतिक रूप से पृथ्वी का तापमान गर्म रखती है मगर ग्रीन हाऊस प्रभाव वर्तमान समय में इसलिए समस्या बन गया है क्योंकि ग्रीन हाऊस गैसों में वृद्धि हो रही है और इसके परिणाम स्वरूप पृथ्वी का तापमान बढ़ रहा है। ग्रीन हाऊस गैसों में वृद्धि का वर्तमान कारण इन गैसों को उत्सर्जित करने वाली गतिविधियों व पदार्थों के उपयोग में वृद्धि है। इसमें सबसे बड़ा कारण कोयला व पेट्रोलियम पदार्थों का उपयोग है। जिससे बड़ी मात्रा में कार्बन डाई आक्साइड व अन्य गैसे निकलती है। इसी प्रकार खेती के तरीकों, औद्योगिक प्रक्रियाओं व वनोन्मूलन ने भी इस समस्या को गम्भीर कर दिया है।

ग्रीन हाऊस गैसों में वृद्धि के कारण पृथ्वी का तापमान भी बढ़ रहा है। जिससे पृथ्वी पर जलवायु परिवर्तन का खतरा बढ़ रहा है तथा सूखा, अतिवृष्टि, हिमपात, समुद्री जलस्तर का बढ़ना, चक्रवात, तूफान, ग्लेशियर की बर्फ का पिघलना, फसलों के उत्पादन पर प्रभाव तथा असामान्य बारिश जैसी स्थिति विश्व के अलग–अलग हिस्सों में देखी जा रही है। वनस्पति और वन्य जीव भी प्रभावित हो रहे हैं। पारिस्थितिक तन्त्र प्रभावित हो रहा है।

चिन्ता की बात यह है कि ओजोन परत क्षय तथा ग्रीन हाऊस प्रभाव के पीछे के महत्वपूर्ण कारणों को हम निकट भविष्य में पूरी तरह दूर कर पाने की स्थिति में भी नहीं हैं क्योंकि पृथ्वी के भीतर से निकलने वाले ईंधन पदार्थ (तेल, गैस, कोयला) इत्यादि का कोई ठोस विकल्प हमारे सामने नहीं है। इसलिए आने वाले वर्षों में भी इस समस्या का समाधान दिखाई नहीं दे रहा है।

सामाजिक दायित्व (Social Responcebility)– अब तक की चर्चा से आप समझ चुके हैं कि बदलते पारिस्थितिक चक्र और जलवायु परिवर्तन के लिये तथा पर्यावरण को पहुँच रही क्षति के लिये मानवीय क्रियाकलाप दोषी है। आधुनिकता, भौतिकतावाद व बदलती जीवन शैली के कारण हमने अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए प्राकृतिक संसाधनों का अविवेकपूर्ण दोहन शुरू कर दिया है और इनसे उत्पन्न दुष्परिणामों ने सम्पूर्ण जीव जगत के अस्तित्व पर संकट उत्पन्न कर दिया है।

मानव सभ्यता के विकास का इतिहास प्राकृतिक पर्यावरण के साथ अन्तःक्रिया, सहयोग, संघर्ष व सामन्जस्य का इतिहास रहा है। किन्तु आधुनिक विज्ञान व तकनीक पर आधारित विकास की चाहत ने हमें प्राकृतिक संसाधनों के प्रति असंवेदनशील बना दिया है।

इसके विपरीत हमारी प्राचीन परम्पराओं व रीतिरिवाजों में प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण व विकास हेतु गहरी संवेदनशीलता दिखाई देती है। प्राचीन भारतीय हिन्दू ग्रन्थ 'मत्स्य पुराण' में एक वृक्ष को दस पुत्रों के समान माना गया है। जो वृक्षों के प्रति हमारे आदर को बताता है। धर्म सिन्धु नामक ग्रन्थ में एक श्लोक है।

'हस्तान्द्वादश सत्यंज्य मूत्रं कुयोज्जलाशयात्। अवकाशे षोडस वा पुरीषे तु चतुर्गुणम्।'

जिसका अर्थ है कि किसी जलाशय से बारह अथवा सोलह हाथ की दूरी पर मूत्र त्याग और उससे चार गुणा अधिक दूरी पर मल त्याग करना चाहिए।

इस तरह के उदाहरण सिद्ध करते हैं कि हमारी परम्परागत मान्यताओं में वृक्षारोपण व जल स्रोतों की शुद्धता को बहुत महत्व दिया गया है। विश्व के अनेक धर्मों तथा जनजातीय समाज की मान्यताओं में भी प्रकृति के प्रति संवेदनशीलता हमें देखने को मिलती है।

वर्तमान में बिगड़ते पर्यावरण के लिए प्रमुख रूप से विकसित राष्ट्र जिम्मेदार हैं किन्तु अफसोस की बात है कि बाकी राष्ट्रों ने भी विकास की उसी राह का अनुसरण किया है। वर्तमान हालात में हमें कुछ ऐसे कदम उठाने होंगे जिनसे हम अपनी प्रकृति और पर्यावरण की रक्षा कर सके और अपनी आने वाली पीढ़ियों को सम्मान पूर्ण जीवन जीने के लिये मार्ग दिखा सके। हमें निम्नलिखित उपायों को हमारे सामाजिक दायित्व के रूप में अपनाना होगा–

1. जनसंख्या नियन्त्रण– सर्वप्रथम तो हमें बढ़ती हुई जनसंख्या को नियन्त्रित करना है क्योंकि बढ़ती हुई जनसंख्या की जरूरतों को पूर्ण करने के लिए ही कृषि, भूमि, उद्योगों तथा प्राकृतिक संसाधनों पर दबाव बढ़ता जा रहा है।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

2. पुनःचक्रण– हमें उन वस्तुओं का पुनः उपयोग करना चाहिए जिनका कि पुनः उपयोग सम्भव है इसी प्रकार कागज जैसी चीजें जिन्हें पुनः चक्रण (Recycled) के पश्चात् दुबारा उपयोग किया जा सकता है। उनका हमें पुनः चक्रण करना चाहिए क्योंकि ऐसा न करने पर पर्यावरण तथा प्राकृतिक संसाधनों का अनावश्यक दोहन होता है। यदि हम एक टन (एक हजार किलो) कागज का पुनः चक्रण करके उपयोग में लेते हैं तो लगभग 17 पेड़ों को काटने की आवश्यकता नहीं रहेगी।

3. औद्योगिक प्रदूषण– हमें उद्योगों में काम में लिये जा रहे हानिकारक पदार्थों का उपयोग सीमित करना होगा जिससे पर्यावरण में कम से कम हानिकारक रसायन उत्सर्जित हों तथा उद्योगों से निकलकर नदियों में मिलने वाले हानिकारक अपशिष्ट को भी रोकना होगा क्योंकि हमारी अधिकांश नदियाँ औद्योगिक अपशिष्ट के कारण ही दूषित हो रही है।

4. ठोस अपशिष्ट प्रबन्धन– ठोस अपशिष्ट में आमतौर पर प्लास्टिक, कागज, खाद्य अपशिष्ट, चमड़ा, वस्त्र, धातु के टुकड़े, काँच, रबड़ इत्यादि आते हैं जिन्हें हम घरों, कार्यालयों, इत्यादि से कचरे के रूप में बाहर फेंक देते हैं। यह अपशिष्ट मक्खी, मच्छरों के लिए प्रजनन स्थल बन जाता है तथा बरसात के कारण भूमिगत जल में भी प्रवेश कर जाता है।

हम अपशिष्ट को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं– 1. जैव निम्नीकरण योग्य (बायोडिग्रेडेबल) 2. पुनश्चक्रण योग्य तथा 3. जैव निम्नीकरण अयोग्य।

इसमें सबसे खतरनाक अपशिष्ट जैव निम्नीकरण के अयोग्य वाला है जो सामान्यतः प्लास्टिक जैसी वस्तुओं के उपयोग के कारण बड़ी समस्या बनता जा रहा है। यह कचरा सामान्यतया पूरी तरह नष्ट नहीं किया जा सकता है तथा पर्यावरण में मौजूद रहकर पर्यावरण को दूषित करता है इसलिए हमें पोलिथीन, प्लास्टिक व प्लास्टिक से बनी डिस्पोजेबल सामान का कम से कम उपयोग करना चाहिए। जिससे प्रदूषण को कम किया जा सके।

5. कृषि में सुधार– फसल उत्पादन बढ़ाने के लिए अजैव उर्वरक तथा रासायनिक खाद्य का उपयोग अत्यधिक बढ़ गया है इसके कारण भूमि में जहरीले रसायन की मात्रा बढ़ रही है जो जल में भी मिल रही है। आवश्यकता इस बात की है कि हम अधिक से अधिक जैविक खाद्य का उपयोग करे जिससे प्रकृति को नुकसान ना हो।

6. वर्षा जल संचयन– आप जानते होंगे कि प्राचीन समय में आवश्यकता के लिए अधिकांश जल नदी, तालाबों व कुओं से आता था। वर्तमान समय में हमारे घरों में जल नल के जरिए आता है, ऐसी स्थिति में हम जल के संचयन व संरक्षण का महत्व भूल गये हैं। हमें वर्षा जल संचयन के लिए गम्भीर प्रयास करने होंगे। वर्तमान में भूमिगत जल स्तर कम होता जा रहा है। जिसमें सुधार के लिए भी वर्षा जल संचयन तथा वृक्षारोपण आवश्यक है।

7. घरेलू मल–मूत्र प्रबन्धन– अनियोजित शहरीकरण के कारण अधिकांश शहरों में घरेलू मलमूत्र के उचित निस्तारण की व्यवस्था नहीं है जिससे यह मलमूत्र बहकर आस–पास के जलस्रोतों में मिल जाता है और जल को दूषित करता है। इसे रोकने के लिये मल–मूत्र की निकासी का उचित प्रबन्धन होना चाहिए। मलमूत्र से उपयोगी खाद्य भी बनाई जा सकती है।

8. वृक्षारोपण– वृक्ष न केवल हमें प्राणवायु (आक्सीजन) देते हैं बल्कि कार्बनडाई आक्साइड़ गैस को ग्रहण करके हमारी दोहरी सहायता करते हैं। वृक्षों से हमें फल–फूल, लकड़ी, औषधि इत्यादि भी मिलती है तथा यह भूमि और मृदा के क्षरण को भी रोकते हैं। इसलिए हमें सघन वृक्षारोपण पर ध्यान देना चाहिए तथा वनों के हो रहे विनाश को भी रोकना चाहिए।

9. वाहनों द्वारा प्रदूषण– हम जानते हैं कि हमारे द्वारा वाहनों का उपयोग बढ़ता जा रहा है जिनसे निकलने वाला जहरीला धुआँ हमारे लिए अनेक समस्याएं उत्पन्न कर रहा है। अतः हमें पेट्रोलियम पदार्थों से चलने वाले वाहनों के स्थान पर बैटरी व सौर ऊर्जा आधारित वाहनों का उपयोग करना चाहिए।

10. वैकल्पिक ऊर्जा– हमें वर्तमान में कोयला व पेट्रोलियम पदार्थों आधारित ऊर्जा पर अपनी निर्भरता कम करने की आवश्यकता है जिसके लिये हम सौर ऊर्जा व पवन ऊर्जा पर आधारित साधनों को अपना सकते हैं। सौर ऊर्जा व पवन ऊर्जा कभी ना खत्म होने वाले ऊर्जा के स्रोत है।

11. पर्यावरण जागरूकता– आज के समय में सबसे अधिक आवश्यकता वर्तमान पीढ़ी को पर्यावरण के प्रति जागरूक करने की है। वर्तमान पीढ़ी को यह बताना अत्यन्त आवश्यक है कि हमें पर्यावरण को शुद्ध बनाना क्यों आवश्यक है तथा इसे कैसे शुद्ध बनाया जा सकता है। इसके लिए पर्यावरण सम्बन्धी पाठ्यक्रम के साथ–साथ वृक्षारोपण व संरक्षण, जल की शुद्धि व संचयन, प्लास्टिक के उत्पादों का अत्यन्त सीमित उपयोग पर आधारित प्रायोगिक कार्य भी होने चाहिए।

अब तक हम पर्यावरण प्रदूषण, जलवायु परिवर्तन तथा इन्हें रोकने के लिये सामाजिक दायित्व की चर्चा कर चुके हैं। हम यदि हमारे सारे प्रयासों व दायित्वों को एक दिशा देना चाहें तो हम कह सकते हैं कि वर्तमान समय की आवश्यकता धारणीय विकास (Sustainable Development) की है। ब्रन्डट्लेन्ड आयोग 1987 (Brundtland Commission) पर्यावरण तथा विकास से सम्बन्धित विश्व आयोग था। इस आयोग के अनुसार भावी सन्तानों की जरूरतों को पूरा करने की क्षमता से समझौता न करते हुए वर्तमान सन्तानों की जरूरतों को पूरा करने की क्षमता धारणीय विकास है। धारणीय विकास को सतत् विकास भी कहते हैं। इस मान्यता के

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

अनुसार वर्तमान तथा भविष्य की आवश्यकता पूर्ण करने के लिए विकास जरूरी है किन्तु इसके लिए प्राकृतिक पर्यावरण की क्षमता के साथ समझौता नहीं होना चाहिए। सारांशतः प्राकृतिक संसाधनों का विवेकपूर्ण उपयोग कर आवश्यकताओं की पूर्ति करना तथा पर्यावरण की क्षमता को बनाये रखना धारणीय विकास है। हमें हमेशा यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि वस्तुओं को खरीदने से हमें उसके उपयोग का अधिकार तो मिलता है किन्तु उसे नष्ट करने तथा हानि पहुंचाने का अधिकार हमें नहीं मिलता है। उदाहरण के लिये हम अन्न खरीद कर उसका उपयोग भोजन के लिए कर सकते हैं किन्तु उसको झूठा छोड़कर बर्बाद करने का अधिकार हमें नहीं है क्योंकि इससे दूसरे मनुष्यों तथा जीवों की आवश्यकता प्रभावित होती है और प्रकृति पर अनावश्यक भार बढ़ता है।

महत्वपूर्ण बिन्दु

- सभी जीव अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रकृति पर निर्भर है।
- पारिस्थितिकी वह विज्ञान है जो पृथ्वी के समस्त जीवों तथा पर्यावरण के मध्य आपसी सम्बन्धों का अध्ययन करता है।
- पारिस्थितिक में एक समय में जीवों की एक सीमित संख्या ही आश्रित रहकर अपनी आवश्यकताओं को पूरा कर सकती है इस क्षमता को 'धारणी क्षमता' कहते हैं।
- पारिस्थितिक तन्त्र करोड़ों वर्षों के प्राकृतिक उद्‌विकास का परिणाम है।
- केवल मनुष्य ही पारिस्थितिक तन्त्र का सन्तुलन कृत्रिम रूप से बिगाड़ सकता है।
- मनुष्य द्वारा प्राकृतिक सन्तुलन को पहुँचाई जा रही हानि से प्रकृति के सभी जीव प्रभावित हो रहे हैं।
- पृथ्वी स्थिर इकाई होने के कारण इसमें वृद्धि सम्भव नहीं है।
- जलवायु किसी स्थान का लम्बे समय तक का औसत मौसम होता है।
- परिवर्तन प्रकृति का नियम है तथा प्राकृतिक रूप से परिवर्तन की गति धीमी होती है।
- ओजोन गैस सूर्य से निकलने वाली पराबैंगनी किरणों को पृथ्वी तक पहुंचने से रोकती है।
- ओजोन परत के कारण हम पराबैंगनी विकिरण से बचे रहते हैं।
- ओजोन परत में छिद्र का मतलब ओजोन गैस का पर्याप्त मात्रा न बनना तथा इसकी परत का पतला हो जाना है।
- पर्यावरण को हानि पहुंचाने के लिए प्रमुख रूप से विकसित राष्ट्र जिम्मेदार है।
- प्लास्टिक तथा पॉलिथिन का उपयोग पर्यावरण को हानि पहुंचा रहा है क्योंकि यह पूरी तरह नष्ट नहीं होता है।
- ग्रीन हाऊस गैसों में वृद्धि के कारण पृथ्वी का तापमान बढ़ रहा है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. पारिस्थितिकी विज्ञान अध्ययन करता है–
   (अ) केवल मानव समाज का
   (ब) केवल पशु समाज का
   (स) भौतिक पर्यावरण तथा जीवों के सम्बन्धों का
   (द) इनमें से कोई नहीं
2. निम्न में से कौनसा जीव प्राकृतिक सन्तुलन कृत्रिम रूप से हानि पहुंचा सकता है–
   (अ) मनुष्य (ब) पशु
   (स) पक्षी (द) इनमें से कोई नहीं
3. डेसिबल इकाई है–
   (अ) ध्वनि की तीव्रता नापने के लिए
   (ब) वायु की तीव्रता नापने के लिए
   (स) जल की अशुद्धि नापने के लिए
   (द) भूमि की अशुद्धि नापने के लिए
4. रेडियोधर्मी प्रदूषण का मुख्य कारण है–
   (अ) परमाणु परीक्षण (ब) ज्वालामुखी विस्फोट
   (स) औद्योगिकरण (द) नगरीकरण
5. वैकल्पिक ऊर्जा है–
   (अ) सौर ऊर्जा व पवन ऊर्जा
   (ब) पैट्रोलियम पदार्थों से उत्पन्न ऊर्जा
   (स) परमाणु ऊर्जा
   (द) अन्य

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. पारिस्थितिकी में किसका अध्ययन किया जाता है?
2. पृथ्वी पर कितने प्रतिशत पानी है?
3. पृथ्वी पर कितने प्रतिशत स्थल भाग है?
4. पर्यावरण की संरचना के कितने अंग है?
5. ध्वनि प्रदूषण की तीव्रता को किस इकाई में नापा जाता है?
6. ध्वनि प्रदूषण का एक दुष्प्रभाव बताइये?
7. जल प्रदूषण का एक दुष्प्रभाव बताइये?
8. वायु प्रदूषण का एक दुष्प्रभाव बताइये?
9. जलवायु किसे कहते हैं?
10. जलवायु परिवर्तन के कारणों को कितने भागों में बाँटा जा सकता है?

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

11. ओजोन परत को हानि पहुंचाने वाली किसी एक गैस का नाम बताइये?
12. हम प्राणवायु किसे कहते हैं?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. धारणी क्षमता किसे कहते हैं?
2. पर्यावरण को परिभाषित कीजिए।
3. जलमण्डल किसे कहते हैं?
4. वायुमण्डल का अर्थ बताइए।
5. स्थलमण्डल किसे कहते हैं?
6. पर्यावरण प्रदूषण को समझाइये।
7. प्रदूषक किसे कहते हैं?
8. मलजल किसे कहते हैं?
9. रेडियोसक्रिय प्रदूषक किससे पैदा होता है?
10. जल प्रदूषण के दो दुष्प्रभाव बताइये।
11. वायु प्रदूषण का अर्थ बताइये।
12. भूमि प्रदूषण के दो कारण बताइये।
13. प्रकाश प्रदूषण का अर्थ बताइये।
14. जलवायु परिवर्तन का अर्थ बताइये।
15. जलवायु परिवर्तन का एक मानवीय कारण बताइये।
16. ग्रीन हाऊस प्रभाव किसे कहते हैं?
17. पर्यावरण प्रदूषण को रोकने के लिए कोई एक उपाय बताइये।
18. पुनःचक्रण किसे कहते हैं?

निबन्धात्मक प्रश्न

1. पारिस्थितिक का अर्थ बताइये तथा पर्यावरण की संरचना के दो अंगों का वर्णन कीजिए।
2. पर्यावरण प्रदूषण के दो प्रकारों पर प्रकाश डालिये।
3. जलवायु परिवर्तन पर लेख लिखिए।
4. पर्यावरण की रक्षा के लिए उपाय के रूप में चार सामाजिक दायित्वों की चर्चा कीजिए।
5. पर्यावरण प्रदूषण को रोकने के लिए चार सुझाव दीजिए।

उत्तरमाला—1. (स) 2. (अ) 3. (अ) 4. (अ) 5. (अ)

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

इकाई 9 : पश्चिमी सामाजिक विचारक

इस इकाई में हम समाजशास्त्र के पश्चिमी विचारकों के बारे में अध्ययन करेंगे जिन्होंने यूरोप में समाजशास्त्र को न केवल एक विषय के रूप में स्थापित किया वरन् उसे नई दिशा भी दी।

अगस्त कॉम्ट (1798–1857) (अगस्त मैरी फ्रेंकाइज जेवियर कॉम्ट)

परिचय :

अगस्त कॉम्ट को समाजशास्त्र का जनक कहा जाता है। इनका जन्म फ्रांस के नगर मॉण्टपेलियर में 19 जनवरी 1798 में हुआ था। आपके जन्म से पहले फ्रांस में क्रान्ति हो चुकी थी और इस क्रान्ति के कारण न केवल फ्रांस बल्कि सम्पूर्ण यूरोप में बौद्धिक आन्दोलनों के माध्यम से स्वतंत्रता, समानता तथा अधिकारों के प्रति वहाँ की जनता में जागरूकता बढ़ने लगी थी। उस समय यूरोप में औद्योगिक क्रांति का जन्म भी हुआ। बौद्धिक एवं औद्योगिक क्रांति से यूरोपीय समाज में तीव्र सामाजिक परिवर्तन को जन्म दिया। परिवर्तन के इस युग में न केवल प्राकृतिक विज्ञानों का विकास हुआ वरन् सामाजिक विज्ञानों का भी विकास होने लगा। इन सामाजिक विज्ञानों ने मानव के सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों का पृथक और स्वतंत्र अध्ययन प्रारम्भ किया। इन्हीं सामाजिक विज्ञानों के विकास में समाजशास्त्र को जन्म देने का श्रेय 1838 में अगस्त कॉम्ट को जाता है।

अगस्त कॉम्ट ने मानव समाज को समझने के लिए ही समाजशास्त्र की स्थापना की। इसीलिए इन्हें ''समाजशास्त्र का जनक'' (Father of Sociology) कहा जाता है। कॉम्ट समाजशास्त्र को वास्तविक विज्ञान (Naturalistic Sceince) बनाना चाहते थे जो मानव जाति के भूतकालीन विकास तथा भविष्य के बारे में बता सके। आपने पहले अपने इस विज्ञान को 'सामाजिक भौतिकी'* (Social Physics) कहा लेकिन बाद में इसे परिवर्तित कर 'समाजशास्त्र' (Sociology) कर दिया। समाजशास्त्र जिसे अंग्रेजी में (Sociology) कहा जाता है, दो भिन्न भाषाओं के शब्द से मिलकर बना है जिसमें पहला शब्द 'सोशियस'* (Socius) जो लैटिन तथा दूसरा शब्द 'लोगिया' (Logia) ग्रीक भाषा से है। सोशियस का अर्थ होता है समाज तथा लोगिया का अर्थ शास्त्र या विज्ञान होता है अर्थात् शाब्दिक रूप में समाजशास्त्र का अर्थ है समाज का विज्ञान या शास्त्र होता है।

कॉम्ट की प्रमुख रचनाएँ–

1. ए प्रास्पेक्ट्स ऑफ दी साइण्टिफिक वर्क रिक्वायर्ड फॉर दि ऑर्गेनाइजेशन ऑफ सोसायटी
2. पॉजिटिव फिलासफी (1832–42)
3. सिस्टम ऑफ पाजिटिव पालिटी (1912)
4. डिस्कर्स ऑन द पॉजिटिव स्पिरिट (1844)
5. रिलीजन ऑफ ह्यूमनिटी (1856)

समाजशास्त्र के क्षेत्र में कॉम्ट का योगदान–

1. चिन्तन की तीन अवस्थाओं का नियम।
2. सामाजिक विज्ञानों का वर्गीकरण और उनका संस्तरण।
3. समाजशास्त्र एक नवीन विषय
4. सामाजिक स्थिति विज्ञान तथा सामाजिक गति विज्ञान।
5. मानवता धर्म।
6. प्रत्यक्षवाद।

चिन्तन की तीन अवस्थाओं का नियम

प्रत्यक्षवाद को समझने से पहले यह जानना आवश्यक है कि उसमें पूर्व समाज की मानसिक स्थिति कैसी थी क्योंकि कोई भी आविष्कार एवं खोज अचानक नहीं होती है उसका एक चरण होता है। इस चरण के अन्तर्गत ही चिन्तन की अवस्थाओं का नियम है।

सामाजिक चिन्तन एवं नए सामाजिक विज्ञान की रचना के क्षेत्र में कॉम्ट द्वारा प्रतिपादित चिन्तन के तीन अवस्थाओं का नियम उनकी एक महत्वपूर्ण देन है। सन् 1822 में कॉम्ट ने मानव के बौद्धिक विकास को तीन स्तरों के नियम द्वारा प्रकट किया। उनके अनुसार प्रत्येक विचारधारा एवं हमारे ज्ञान की प्रत्येक शाखा एक के बाद एक विभिन्न सैद्धान्तिक अवस्थाओं से होकर गुजरती है–

1. धर्मशास्त्रीय अवस्था।
2. तात्विक अवस्था।
3. वैज्ञानिक या प्रत्यक्षवादी अवस्था।

1. धर्मशास्त्रीय अवस्था

इस अवस्था में समाज की सभी घटनाओं के धार्मिक आधार पर व्याख्या की जाती है। मनुष्य प्रत्येक घटना के पीछे अलौकिक सत्ता में विश्वास करता है। कॉम्ट ने धार्मिक स्तर के तीन उपस्तर बनाये है।

1.1. प्रेतवाद

धर्मशास्त्रीय चिन्तनक्रम के अन्तर्गत सबसे प्रारम्भिक अवस्था को प्रेतवाद कहा जाता है। प्रेतवाद की अवस्था में ऐसा स्वीकार किया जाता है कि प्रत्येक जड़ एवं चेतन वस्तु में एक जीव होता है तथा सभी अलौकिक शक्तियाँ इनको परिचालित करती है।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

1.2. बहुदेववाद

मानव के बौद्धिक विकास के फलस्वरूप चिन्तन के रूप में भी परिवर्तन हुआ। प्रेतवाद की बाद की अवस्था बहुदेववाद कहलाती है। इस अवस्था में आदिम मानव में शक्तियों को वर्गीकृत कर लिया और विभिन्न देवताओं की स्थापना भी कर ली थी। इन देवताओं के अपने–अपने अलग विभाग थे। इस अवस्था में स्थिति पहले से कुछ अधिक व्यवस्थित एवं सुनिश्चित थी।

1.3. एकेश्वरवाद

धर्मशास्त्रीय चिन्तन अवस्था का अंतिम चरण एकेश्वरवाद है। जैसा इसके नाम से ही स्पष्ट है इस अवस्था में केवल एक ईश्वर की परम सत्ता में विश्वास रखा जाता था। एकेश्वरवाद मानव के बौद्धिक विकास का परिणाम है। एकेश्वरवाद का आविष्कार पूर्व की अव्यवस्थित एवं अबौद्धिक धारणाओं को समाप्त करने के लिए हुआ था। इस अवस्था में यह माना जाता है पूरे विश्व का परिपालन केवल एक ही ईश्वर करता है, और इस ईश्वर की परम सत्ता एवं परम शक्ति हैं।

2. तात्त्विक अवस्था

चिन्तन के विकासक्रम के अन्तर्गत कॉम्ट के अनुसार दूसरी अवस्था तात्त्विक या अमूर्त अवस्था है। चिन्तन एवं बौद्धिकता के विकास के फलस्वरूप मानव की समस्याएं बढ़ गई। धर्मशास्त्रीय चिन्तन उन समस्याओं के समाधान के लिए पर्याप्त नहीं था। संसार में विरोधी प्रवृतियों के साथ दर्शन होने की अवस्था में एकेश्वरवाद मानव को संतुष्ट नहीं कर सकता था। इसीलिए तात्त्विक या अमूर्त या तत्वदार्शनिक चिन्तन को अपनाया। इस दर्शन के अन्तर्गत अमूर्त अलौकिक सत्ता को स्वीकार किया जाता है। इसके अन्तर्गत यह माना जाता है कि संसार की सभी घटनाएँ अमूर्त एवं अवैयक्तिक सत्ता द्वारा परिचालित होती है। चिन्तन की इस अवस्था में यह नहीं माना जाता है कि प्रत्येक जीव एवं वस्तु के पीछे एक मूर्त ईश्वर है।

3. वैज्ञानिक या प्रत्यक्षवादी अवस्था–

धर्मशास्त्रीय एवं तात्विक चिन्तन अवस्था के बाद वैज्ञानिक अथवा प्रत्यक्षवादी अवस्था आती है। धर्मशास्त्रीय एवं तात्विक दर्शन के अन्तर्गत जो भी ज्ञान प्राप्त किया जाता है वह अनुमान तथा कल्पना पर ही आधारित होता है। उपर्युक्त दोनों चिन्तन में निश्चितता के अभाव को समाप्त करने के लिए वैज्ञानिक चिन्तन अपनाया जाता है। वैज्ञानिक चिन्तन तथ्यों एवं प्रमाणों पर आधारित होता है। इसमें कल्पना का महत्व नहीं होता है। वैज्ञानिक चिन्तन तथ्यों के अवलोकन द्वारा प्रारम्भ होता है। तथ्यों के अवलोकन के बाद उनका वर्गीकरण तथा सामान्यीकरण किया जाता है। प्राप्त परिणामों का तरह–तरह से परीक्षण किया जाता है पर्याप्त परीक्षण के बाद नियम बनाये जाते हैं। यह नियम वैज्ञानिक नियम कहलाते हैं।

कॉम्ट का मत है कि मानव चिन्तन की प्रत्येक शाखा को वैज्ञानिक अवस्था तक पहुँचने के लिए पूर्व की दोनों अवस्थाओं में से होकर गुजरना पड़ता है यही नहीं प्रायः यह भी देखा जाता है कि वैज्ञानिक अवस्था के चिन्तन में पूर्व की अवस्थाओं के कुछ न कुछ स्पष्ट अथवा अस्पष्ट लक्षण अवश्य विद्यमान रहा करते हैं।

प्रत्यक्षवाद

कॉम्ट ने सेंट साइमन के विचारों से प्रभावित होकर प्रत्यक्षवाद को जन्म दिया। प्रत्यक्षवाद को विज्ञानवाद से भी जाना जाता है। प्रत्यक्षवाद के अनुसार ज्ञान का विकास निश्चित अवस्था में हुआ। कॉम्ट समाजशास्त्र को एक विज्ञान के रूप में स्थापित करना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने समाजशास्त्र में वैज्ञानिक विधि के प्रयोग पर बल दिया। उनके अनुसार समाजशास्त्र को यदि विज्ञान की श्रेणी में आना है तो समाजशास्त्रियों को निम्न चार तरीकों से समाज की घटनाओं का अध्ययन करना चाहिए।

1. अवलोकन पद्धति
2. परीक्षण पद्धति
3. तुलनात्मक पद्धति
4. ऐतिहासिक पद्धति

1. अवलोकन पद्धति–

कॉम्ट के अनुसार समाजशास्त्र को विज्ञान बनाना है तो इसमें अवलोकन पद्धति पर बल दिया जाना चाहिए। अवलोकन मानव इन्द्रियों द्वारा किया गया क्रमबद्ध व व्यवस्थित अध्ययन है। अर्थात् किसी भी घटना का मानव इन्द्रियों (आँख, कान, नाक व स्पर्श) द्वारा क्रमबद्ध व व्यवस्थित तरीके से अध्ययन किया जाता है तो वह शास्त्र विज्ञान की श्रेणी में आता है।

2. परीक्षण पद्धति–

कॉम्ट के अनुसार समाजशास्त्र में घटनाओं तथा प्रघटनाओं का बार–बार परीक्षण होना चाहिए हालांकि उनका यह भी मानना था कि सामाजिक विज्ञानों में परीक्षण नहीं हो सकता है लेकिन समाजशास्त्र को विज्ञान की श्रेणी में आना है तो घटनाओं का आंशिक परीक्षण होना आवश्यक है।

3. तुलनात्मक पद्धति–

कॉम्ट के अनुसार सामाजिक विज्ञानों में सामाजिक प्रघटनाओं का तुलनात्मक अध्ययन होना आवश्यक है। क्योंकि हर तरह की घटना के कार्य कारण अलग–अलग होते हैं। इसलिए उन घटनाओं का तुलनात्मक विवेचन आवश्यक है।

4. ऐतिहासिक पद्धति–

कॉम्ट का मानना था कि ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग वैज्ञानिक नहीं है लेकिन समाजशास्त्र में मानव समाज का अध्ययन है। अतः समाज का सामाजिक घटनाओं को समझने के लिए ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग किया जाता है।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

ऐतिहासिक पद्धति के अन्तर्गत हम समाज को विभिन्न कालों में विभाजित कर समाज को समझ सकते हैं।

उपर्युक्त आधारों पर यह कहा जा सकता है कि कॉम्ट ने समाजशास्त्र को एक विज्ञान के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया उन्होंने समाजशास्त्र को निश्चित विषयवस्तु नहीं दी। लेकिन उन्होंने समाजशास्त्र को प्रत्यक्षवादी विज्ञान बनाने के लिए अध्ययन पद्धति और ज्ञान के विकास की जो व्यवस्था की है वह समाजशास्त्र के लिए महत्वपूर्ण है।

इस अध्याय में हमने यह देखा है कि अगस्ट कॉम्ट ने समाजशास्त्र की स्थापना करते हुए यह स्थापित करने का प्रयास किया है कि समाजशास्त्र किसी भी ज्ञान का उद्भव मानव चिन्तन की अवस्थाओं से होते हुए प्रत्यक्षवाद या वैज्ञानिकवाद की तरह होता है। प्रत्यक्षवाद 'क्या है' का अध्ययन है अर्थात् जो घटना जिस रूप में घट रही है उसे उसी रूप में प्रस्तुत करना ही प्रत्यक्षवाद है। न कि 'क्या होगा' या 'क्या होना चाहिए' का अध्ययन। इस रूप में अगस्त कॉम्ट ने समाजशास्त्र को विज्ञान की श्रेणी में रखने का प्रयास किया।

कार्ल मार्क्स (1818–1883)

परिचय–

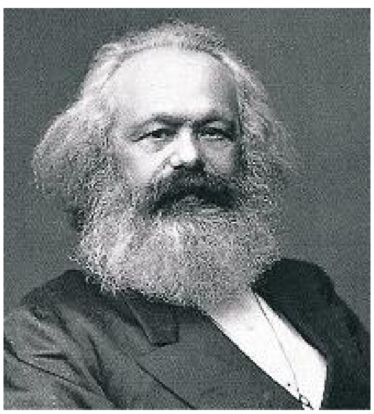

कार्ल मार्क्स का जन्म पश्चिमी जर्मनी के एक यहूदी परिवार में 5 मई 1818 को हुआ था। 1824 में उनके पूरे परिवार ने यहूदी धर्म त्यागकर ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया था। 1835 में मार्क्स को बॉन विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा के लिए भेजा गया। माता–पिता की इच्छा थी कि पुत्र को एक अच्छा वकील बनाये। मार्क्स बॉन विश्वविद्यालय से बर्लिन विश्वविद्यालय गये जहाँ उनको दर्शन में विशेष रुचि हुई और उन्होंने हींगल के दर्शन को पढ़ना प्रारम्भ किया। सन् 1841 में मार्क्स ने जेना विश्वविद्यालय से डाक्ट्रेट की उपाधि प्राप्त की। उनका शोध विषय था ऐपीक्यूरस तथा डैमोक्राईटस के भौतिकवाद का आलोचनात्मक विवेचन। डाक्ट्रेट की उपाधि प्राप्त करके उन्होंने अध्यापक के रूप में पद प्राप्त करने का प्रयास किया किन्तु बर्लिन के कुछ क्रांतिकारियों के साथ सम्पर्क में आ जाने के कारण इनकी विचारधारा को शिक्षा अधिकारियों ने पसंद नहीं किया। अतः इनको अध्यापन का कार्य नहीं मिल सका। 1843 में वह जर्मनी को त्याग कर फ्रांस पहुँचे वहां 1844 में मार्क्स की भेंट फेडरिक एन्जिल्स से हुई, दोनों को सांझे रूप से कम्युनिस्ट सिद्धान्त के प्रतिपादक के रूप में जाना जाता है। सन् 1845 में मार्क्स फ्रांस छोड़कर इंग्लैण्ड चले गये। 1883 में लन्दन में उन्होंने अपनी जीवन यात्रा समाप्त की। अपनी इन विपरीत परिस्थितियों के बावजूद भी मार्क्स ने ऐसी दार्शनिक खोज प्रस्तुत की जिसके कारण आज उनका नाम संसार में उच्चतम विचारकों में लिया जाता है।

कार्ल मार्क्स की कृतियाँ–

1. क्रिटीसिज्म ऑफ हेगेलियन फिलासफी ऑफ राईट।
2. ऑन द ज्यूइरा क्वेरयन
3. इॅकानोमिक एण्ड फिलासाफिकल मेनूस्क्रिप्ट 1844
4. द होली फैमिली
5. द पावर्टी ऑफ फिलासॉफी 1847
6. मेनीफेस्टो ऑफ द कम्यूनिस्ट पार्टी 1847
7. ए कन्ट्रीब्यूशन द क्रिटिक ऑफ पॉलिटिकल इकोनोमी 1859
8. द जर्मन आईडियोलोजी 1845–46
9. द गोया प्रोग्राम
10. सिविल वार इन फ्रांस
11. क्लास स्ट्रगल इन फ्रांस 1850
12. रिवाल्यूशन एण्ड काउण्टर रिवाल्यूशन
13. दास कैपिटल 1867

कार्ल मार्क्स का समाजशास्त्र में योगदान–

1. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद
2. इतिहास की आर्थिक व्याख्या
3. वर्ग संघर्ष
4. अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त
5. पूंजीवादी व्याख्या का विश्लेषण और भविष्य के सम्बन्ध में विचार
6. राज्य और शासन सम्बन्धी धारणा
7. प्रजातंत्र, धर्म और राष्ट्र के सम्बन्ध में धारणा
8. साम्यवाद
9. परिवर्तन का सिद्धान्त
10. अलगाव का सिद्धान्त

वर्ग संघर्ष–

मार्क्स का वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त उनके गहन अध्ययन तथा अनवरत श्रम का परिणाम था। मार्क्स ने अपने समाजवाद में अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र पर जो कुछ लिखा है उनका सम्पूर्ण सन्दर्भ वर्ग व्यवस्था के विश्लेषण पर आधारित है। उन्होंने अपनी पुस्तक "दास कैपिटल" की शुरूआत ही इस कथन से की, अभी तक अस्तित्व में रहे समाजों का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास रहा है अर्थात् मानव के अस्तित्व के बाद जितने भी समाज रहे हैं उन सभी समाजों में वर्ग रहे और उन वर्गों में संघर्ष भी रहा है। यह वर्ग मालिक–गुलाम, राजा–प्रजा, जमींदार–कृषक, पूंजीपति–श्रमिक के रूप में रहे हैं।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

रेमण्ड ऍरा ने मार्क्स की विचारधारा पर अपनी पुस्तक मेनकरेन्ट्स इन सोशियोलोजिकल थॉट में लिखा है कि मार्क्स का समाजशास्त्र वास्तव में वर्ग संघर्ष का समाजशास्त्र है। उनकी इतिहास की अवधारणा में वर्ग संघर्ष का प्रस्ताव केन्द्रीय प्रस्ताव है। ऍरा ने मार्क्स की वर्ग की अवधारणा के तीन मुख्य प्रस्ताव रखे हैं।

1. वर्गों का अस्तित्व उत्पादन पद्धतियों के विकास के साथ इतिहास की विविध दशाओं के साथ जुड़ा है यानि वर्ग उत्पादन के विकास के साथ बनते हैं।
2. वर्ग संघर्ष अनिवार्य रूप से सर्वहारा को अधिनायकवाद की ओर ले जाता है।
3. यह अधिनायकवाद जो केवल संक्रमण काल होता है वर्गों का उन्मूलन करता है और वर्गहीन समाज की स्थापना की ओर ले जाता है।

वर्ग व वर्ग चेतना–

वर्ग शब्द अंग्रेजी के Class शब्द का हिन्दी रूपान्तरण है जो लैटिन भाषा के Classis शब्द से बना है। इसका अभिप्रायः व्यक्तियों की एक श्रेणी अथवा एक समान व्यक्तियों के समूह से है।

वर्ग को परिभाषित करते हुए लेनिन लिखते हैं 'वर्ग लोगों के ऐसे बड़े समूह को कहते हैं जो सामाजिक उत्पादन की इतिहास द्वारा निर्धारित किसी पद्धति में अपने–अपने स्थान की दृष्टि से उत्पादन के साधनों के साथ अपने सम्बन्ध की दृष्टि से श्रम के सामाजिक संगठन में अपनी भूमिका की दृष्टि से और फलस्वरूप सामजिक सम्पदा के जितने हिस्से के वे मालिक होते हैं उसके परिणाम तथा उसे प्राप्त करने के तौर तरीकों की दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न होते हैं।

इस परिभाषा में लेनिन ने वर्ग की निम्नांकित विशेषताओं का उल्लेख किया है :

1. वर्ग लोगों के बहुत बड़े समूह को कहते हैं।
2. प्रत्येक वर्ग का सामाजिक उत्पादन के इतिहास द्वारा निर्धारित पद्धति में एक स्थान होता है।
3. सामाजिक समूह का उत्पादन के साधनों से सम्बन्ध होता है।
4. धर्म के सामाजिक संगठन में उनकी भूमिका होती है।
5. प्रत्येक वर्ग का सामाजिक सम्पदा प्राप्त करने का अपना तौर तरीका होता है।
6. मार्क्स कहते हैं कि इतिहास में अब तक जितनी भी सामाजिक व्यवस्थाएँ रही है उनमें सम्पत्ति का वितरण और समाज का वर्ग एवं श्रेणियों में विभाजन इस बात पर निर्भर रहा है समाज में क्या और कैसे उत्पादन हुआ तथा उपज का विनिमय कैसे हुआ ?

मार्क्स वर्गों का आधार सामाजिक या धार्मिक नहीं मानते, उनके अनुसार वर्गों का आधार आर्थिक ही रहा है। वे लिखते हैं, ''सामाजिक वर्ग ऐतिहासिक परिवर्तन की इकाइयाँ तथा आर्थिक व्यवस्था द्वारा समाज में निर्मित श्रेणियाँ दोनों ही हैं।'' मार्क्स के वर्ग सम्बन्धी विचारों से रेमण्ड ऍरा ने दो निष्कर्ष निकाले हैं–

1. एक सामाजिक वर्ग वह है जो उत्पादन की प्रक्रिया में एक निश्चित स्थान रखता है। उत्पादन प्रक्रिया में स्थान के दो अर्थ हैं एक उत्पादन की तकनीकी प्रक्रिया में स्थान दूसरा वैधानिक प्रक्रिया के स्थान जो कि तकनीकी प्रक्रिया पर थोपी हुई होती है। पूंजीपति जो कि उत्पादन साधनों का स्वामी होता है, श्रमिकों का संगठनकर्ता भी होता है वहीं तकनीकी प्रक्रिया का स्वामी भी होता है तथा अपनी वैधानिक स्थिति के कारण उत्पादकों से अतिरिक्त मूल्य भी प्राप्त करता है।
2. पूंजीवाद के विकास के साथ–साथ वर्ग सम्बन्ध भी सरल होते जाते हैं। वास्तव में जब आय के केवल दो स्त्रोत (श्रम एवं लाभ) होते हैं जो समाज में केवल दो ही बड़े वर्ग रह जाते हैं। श्रम शक्ति के मालिक श्रमिक वर्ग तथा पूंजीपति जो कि अतिरिक्त मूल्य को हड़पते हैं। औद्योगीकरण में भूमिकर पर आश्रित भूस्वामी वर्ग धीरे–धीरे समाप्त हो जाता है।

मार्क्स और एंजिल्स ने जर्मन आईडियोलोजी में वर्ग की व्याख्या की है। उनकी यह धारणा है कि पूंजीवादी समाज की बहुत बड़ी विशेषता वर्ग है। यहाँ मार्क्स ने वर्ग का विस्तृत विवरण दिया है। एक ही धन्धे को करने वाले लोग जिनकी आर्थिक अवस्था और काम की दशाएँ और इसी तरह शोषण के तरीके समान होते हैं वे ही वर्ग नहीं होते हैं वरन् वर्ग के लिए बहुत बड़ी अनिवार्यता वर्ग चेतना और वर्ग संगठन है। काम की दशाएँ कितनी हो अमानवीय हो मजदूर का जीवन कितना ही नारकीय हो लेकिन जब तक उसमें यह चेतना नहीं आती कि इस त्रासदी में वह अकेला ही नहीं है उसके गाँव और कस्बे के लोग ही नहीं है, प्रान्त और देश के अन्य कामगार ही नहीं वरन् सारी दुनिया के मजदूरों को चाहे वे किसी भी देश के हों, यही हालत है, तब तक वर्ग नहीं बनते। अतः वर्ग चेतना और वर्ग संगठन दो ऐसे आधार स्तम्भ है जिन पर वर्ग की संरचना खड़ी होती है।

वर्ग चेतना को और अधिक स्पष्ट करने के लिए मार्क्स व एंजिल्स ने दो महत्वपूर्ण अवधारणाएँ रखी है।

1. क्लास इन इट सेल्फ– अपने आप में वर्ग

जब किसी कार्य को करने वाले लोग संगठित हो जाते हैं और उनमें यह चेतना आ जाती है कि हम एक ही तरीके के कार्य या पेशे में हैं तो इस तरह के समूह अपने आप में वर्ग है। क्लास इन इट सेल्फ।

2. क्लास फार इट सेल्फ– अपने लिए वर्ग

जब किसी कार्य या व्यवसाय करने वाले अपने आप को उस वर्ग के लिए समर्पित करते हैं तथा वर्ग के लिए कुछ भी कर सकते हैं तो इसे अपने लिये वर्ग या क्लास फार इट

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

सेल्फ कहा जाता है।

मार्क्स क्लास इन इट सेल्फ से क्लास फार इट सेल्फ की प्रक्रिया को ही वर्ग चेतना कहते हैं।

समाज में वर्गों का निर्माण–

अति प्राचीन समय में कोई वर्ग व्यवस्था नहीं पाई जाती थी। सभी वस्तुएँ प्रकृति में सहज ही उपलब्ध थी जिनसे व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। प्रकृति द्वारा प्रदत्त जीवित रहने के साधनों का वितरण समान था। अतः वर्गों का जन्म नहीं हुआ और शोषण की समस्या भी नहीं थी। मार्क्स के अनुसार समाज में सर्व प्रथम वर्ग प्राचीन साम्यवादी युग के अन्तिम चरण में विकसित हुए। आर्थिक दृष्टि से वर्गों का विकास अतिरिक्त उत्पादन तथा वितरण में असमानता के कारण हुआ। इससे निजी सम्पत्ति की अवधारणा ने जन्म लिया। मार्क्स ने विभिन्न समाजों में वर्ग व्यवस्था का उल्लेख निम्न रूप में किया–

1. **आदिम साम्यवादी समाज में वर्ग–**
   यह इतिहास का प्रथम युग कहा जाता है। इस युग में उत्पादन के साधनों पर सबका समान स्वामित्व होता था। सब लोग मिलकर उत्पादन कार्य करते थे तथा उसका वितरण भी समान होता था। समाज में श्रम विभाजन लिंग भेद के आधार पर पाया जाता था। इस प्रकार इस युग में वर्ग व्यवस्था नहीं पनपी।
2. **दासत्व युग में वर्ग–**
   जब समाज में दासत्व युग का प्रारम्भ हुआ तो उस समय वर्ग का निर्माण होने लगा। उस समय मनुष्य कृषि कार्य करता था। समाज में निजी सम्पत्ति के विचारों का उदय हुआ और धर्म विभाजन पनपने लगा। इस युग में बल या शक्ति के आधार पर उत्पादन के साधनों पर कुछ लोगों का आधिपत्य हो गया तथा कुछ ने दासत्व स्वीकार किया। अर्थात् मालिक व दास जैसे वर्गों का जन्म हुआ। इस युग में दास पूर्णतया मालिकों की मेहरबानी पर निर्भर रहते तथा उनको मालिकों की प्रताड़नाओं को भी झेलना पड़ता था।
3. **सामन्ती समाज में वर्ग–**
   इस युग में स्पष्ट रूप से दो वर्गों का अस्तित्व देखा जा सकता है। एक सामन्त दूसरा अर्द्धदास किसान। सामन्तों के पास उत्पादन के साधन और विशेषतः भूमि थी, यहीं लोग सत्ताधारी भी थे। अर्द्धदास किसान सामन्तों के अधीन थे और उनसे खेती का कार्य करवाया जाता था। हालांकि इनकी स्थिति पूर्ण रूप से दासों जैसी नहीं थी किन्तु इन पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध थे। सामन्तों द्वारा किसानों का शोषण किया जाता था।
4. **पूंजीवादी समाज में वर्ग–**
   इस समाज की स्थापना मशीनों के आविष्कार तथा बड़े–बड़े उद्योग धंधों के कारण हुई। इस समाज में उत्पादन के साधनों पर पूंजीपतियों का अधिकार होता है तथा उत्पादन का कार्य श्रमिकों के द्वारा कराया जाता है। मार्क्स श्रमिक वर्ग को सर्वहारा वर्ग और पूंजीपति वर्ग को बर्जुआ वर्ग कहता है। सर्वहारा वर्ग के पास उत्पादन के साधनों का स्वामित्व नहीं होता है वरन् वे उत्पादन के साधन होते हैं जबकि पूँजीपति के पास उत्पादन के साधनों का स्वामित्व होता है और वे अधिक लाभ कमाने के लिए सर्वहारा वर्ग का शोषण करते हैं। इस प्रकार मार्क्स कहते हैं कि मानव समाज में हमेशा से ही दो वर्ग रहे हैं इन वर्गों का निर्माण उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के आधार पर होता है। जिनके पास उत्पादन के साधनों का स्वामित्व होता है वे अपने लाभ को अधिक करने के लिए दूसरे वर्ग का शारीरिक व आर्थिक शोषण करता है।

वर्ग संघर्ष–

वर्ग संघर्ष की अवधारणा मार्क्स के महत्वपूर्ण विचारों में से एक है। मार्क्स ने वर्ग संघर्ष की अवधारणा ऑगस्टिन थोरे से ली थी किन्तु इसकी पूर्ण विवेचना मार्क्स ने ही की। मार्क्स यह मानते हैं कि इतिहास के प्रत्येक युग और प्रत्येक समाज में सदैव ही दो विरोधी वर्ग रहे हैं। शोषक और शोषित वर्ग और यह दोनों वर्ग परस्पर संघर्षरत रहे हैं। इनमें संघर्ष से ही समाज के विकास की प्रक्रिया आगे बढ़ती रही है और समाज का एक युग या अवस्था समाप्त होकर उनका स्थान दूसरा युग या अवस्था लेती रही है अर्थात् समाज में विभिन्न वर्ग होते हैं और उनके अपने–अपने हित होते हैं जिन्हें लेकर उनमें विरोध और संघर्ष पाया जाता है। दोनों वर्गों के मध्य संघर्ष होता है उसका मुख्य कारण उत्पादन के साधनों का स्वामित्व है दोनों ही वर्ग उत्पादन के साधनों पर अपना अधिकार जमाते हुए संघर्ष करते हैं।

मार्क्स का मानना है कि वर्गों के निर्माण से ही संघर्ष प्रारम्भ नहीं होता है वरन् उसका एक चरण होता है अर्थात् सर्वप्रथम समाज में वर्ग अस्तित्व में आते हैं उसके उपरान्त वर्ग चेतना आती है उसका मुख्य कारण शोषण होता है। जब यह शोषण असहनीय हो जाता है तो वर्ग चेतना में भी तीव्रता से वृद्धि होती है और वर्ग में वर्ग चेतना की भावना के विकास के साथ ही संघर्ष प्रारम्भ होता है। यह संघर्ष अपने–अपने हितों में रखकर किया जाता है। संघर्ष भी पहले वार्तालाप विरोध का रूप लेते हुए अन्त में खूनी संघर्ष में बदलता है तथा उस खूनी संघर्ष के बाद में ही समाज में नई अवस्था आती है। पुनः नये वर्गों का निर्माण होता है फिर संघर्ष होता है। यह प्रक्रिया मार्क्स के अनुसार अनवरत चलती रहती है। मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था के बाद आधुनिक साम्यवादी युग आयेगा जिसमें समाज में न कोई वर्ग होता है न ही मानव से किसी प्रकार का भेदभाव। आधुनिक साम्यवाद में उत्पादन के साधनों के उत्पादन पर

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

सभी का बराबर आधिपत्य होगा। इसीलिए उन्होंने लिखा है कि ''दुनिया के मजदूरों एक हो जाओ तुम्हारे पास बेड़ियों को खोने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।''

कार्ल मार्क्स ने यह स्थापित करने का प्रयास किया कि वर्ग संघर्ष के माध्यम से समाज में वर्गहीन और राज्य विहीन समाज की स्थापना होगी। हालांकि मार्क्स का यह मात्र एक काल्पनिक सपना ही था क्योंकि समाज का इतिहास हमें यह बताता है कि कभी भी समाज राज्य विहीन व वर्ग विहीन नहीं रहा है। चूँकि मार्क्स का जीवन पूर्णतया संघर्षमय रहा था इसीलिए उन्होंने समाज में संघर्षवादी दृष्टिकोण को स्थापित करने का प्रयास किया।

इमाईल दुर्खीम
1858—1917

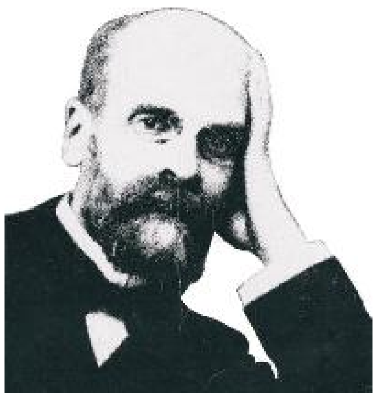

परिचय—

अब इमाईल दुर्खीम के बारे में जानेंगे। इस महान विचारक, दार्शनिक शिक्षा शास्त्री एवं समाजशास्त्री का जन्म 14 अप्रेल 1858 में फ्रांस के नगर एपीनाल में हुआ था। ये यहूदी थे। बचपन से दुर्खीम एक मेधावी प्रतिभा सम्पन्न एवं होनहार विद्यार्थी थे। प्रतिभा तो इन्हें विरासत में मिली थी क्योंकि इनके पूर्वज भी रेबीशास्त्रकार के रूप में विख्यात थे। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा एपीनाल के एक स्थानीय महाविद्यालय में हुई। स्नातक की उपाधि प्राप्त के पश्चात् आगामी अध्ययन के लिए आप पेरिस चले गये। उन दिनों पेरिस की इकोल अकादमी में प्रवेश पाना कोई सरल कार्य नहीं था। यहाँ पर इनको तीसरे प्रयास में सफलता मिली। इन्होंने यहाँ पर 1885 तक अध्ययन किया। इसके बाद दुर्खीम विशेष अध्ययन के लिए जर्मनी गए। वहाँ दुर्खीम अगस्त कॉम्ट व विल्हेमवुन्ट के लेखों से बहुत प्रभावित हुए।

जर्मन से लौटकर पुनः यह पेरिस आ गए तथा पुनः अध्ययन में लीन हो गए। सन् 1893 में श्रम विभाजन नामक विषय पर पेरिस विश्वविद्यालय से दुर्खीम ने डाक्ट्रेट की उपाधि प्राप्त की। आपने अपने जीवन काल में कई पुस्तकों का लेखन किया तथा 16 नवम्बर 1917 को दुर्खीम ने इस संसार का त्याग कर दिया।

दुर्खीम की प्रमुख कृतियाँ—

1. डिविजन ऑफ लेबर इन सोसायटी 1893
2. द रूल्स ऑफ सोशियोलोजिकल मेथड्स 1895
3. द स्यूसाइड 1897
4. द एलीमेन्ट्री फार्मस ऑफ रिलिजियस लाईफ 1912
5. सोशियोलोजी ऑफ एज्युकेशन 1922
6. सोशियोलोजी ऑफ फिलोसफी 1924
7. मोरल एज्युकेशन 1925
8. द सोशियोलोजियम 1928
9. द इवोल्युशन ऑफ पेडोगोलोजी इन फ्रांस 1938
10. लेकस दि सोशियोलोजी 1950
11. मोन्टेस्क्यू एण्ड रूसो 1953
12. प्रेगमेटिजम एण्ड सोशियोलोजी 1955

इन कृतियाँ में कुछ तो उनके जीवन काल में तथा कुछ उनकी मृत्यु के पश्चात् उनकी पत्नी लुईसड्रेफू ने प्रकाशित करवाई।

दुर्खीम की प्रमुख अवधारणाएँ, सिद्धान्त एवं समाजशास्त्रीय योगदान—

1. पद्धतिशास्त्र
2. समाज में धर्म विभाजन का सिद्धान्त
3. सामाजिक विकास का सिद्धान्त
4. आत्महत्या का सिद्धान्त
5. धर्म का सिद्धान्त
6. ज्ञान का समाजशास्त्र
7. मूल्यों का सिद्धान्त
8. नैतिकता का सिद्धान्त
9. सामूहिक चेतना की अवधारणा
10. सामूहिक प्रतिनिधान की अवधारणा
11. सामाजिक तथ्य की अवधारणा
12. सामाजिक एकता की अवधारणा
13. आदर्शहीनता की अवधारणा
14. अपराध दण्ड एवं कानून की अवधारणा
15. प्रकार्यवाद की अवधारणा

श्रम विभाजन—

दुर्खीम पहले विचारक थे जिन्होंने श्रम विभाजन की अवधारणा को आर्थिक आधार पर समझाते हुए उसे सामाजिक आधार पर समझाने का प्रयास किया। उन्होंने अपनी पहली पुस्तक समाज में श्रम विभाजन जिसका प्रकाशन 1893 में हुआ था समाज में श्रम विभाजन के कार्य कारक प्रभाव के आधार पर प्रकाश डाला है। दुर्खीम की पुस्तक श्रम विभाजन की केन्द्रीय समस्या समाज की सुदृढ़ता है। व्यक्ति व समाज के बीच सम्बन्धों के आधार पर ही समाज में श्रम विभाजन होता है। इस पुस्तक को इस आधार पर तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं।

अ. श्रम विभाजन में प्रकार्य—

इसके अन्तर्गत दुर्खीम ने सामाजिक एकता के लिए श्रम विभाजन को आधार माना है तथा उसके वैज्ञानिक अध्ययन के लिए कानून के स्वरूप, एकता के स्वरूप, मानवीय सम्बन्धों के स्वरूप, अपराध, दण्ड, सामाजिक उद्विकास आदि अनेक समस्याओं और अवधारणाओं की व्याख्या की है।

एक प्रकार्यवादी समाजशास्त्री के रूप में दुर्खीम का

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

श्रम विभाजन से तात्पर्य है कि सामाजिक कार्यों का विभाजन अर्थात् समाज में भिन्न–भिन्न प्रकार के कार्य होते हैं उन कार्यों को भिन्न–भिन्न व्यक्तियों द्वारा ही श्रम विभाजन है। जैसे भारतीय वर्ण व्यवस्था जिसमें ब्राह्मणों द्वारा अध्ययन अध्यापन, क्षत्रियों द्वारा देश की आन्तरिक व बाहरी सुरक्षा, वैश्यों द्वारा व्यापार व वाणिज्य तथा शुद्रों द्वारा उपर्युक्त तीनों वर्णों के सेवा सम्बन्धी कार्य करना सामाजिक श्रम विभाजन का उत्तम उदाहरण है।

दुर्खीम के अनुसार श्रम विभाजन का प्रकार्य भी महत्वपूर्ण है। इन्होंने प्रकार्य की व्याख्या में प्रकार्य के दो अर्थ बताये–

1. प्रकार्य अर्ध गति व्यवस्था अर्थात् क्रिया से है।
2. क्रिया के द्वारा पूर्व होने वाली आवश्यकता से है। दुर्खीम ने प्रकार्य शब्द का उपयोग दूसरे अर्थ में किया है। श्रम विभाजन के प्रकार्य से उसका तात्पर्य है कि श्रम विभाजन की प्रक्रिया समाज जीवन के लिए कौनसी भौतिक आवश्यकता की पूर्ति करती है। प्रकार्य का अर्थ उसने परिणाम या प्रभाव से नहीं लिया वरन् भूमिका के अर्थ में लिया है। प्रकार्य के अभाव में किसी भी समाज व शरीर के विभिन्न अंगों की आवश्यकता की पूर्ति नहीं हो पाती है इस अर्थ में श्रम विभाजन का प्रकार्य भी समाज में नैतिक कार्यों को उत्पन्न करना है।

सामाजिक एकता की अवधारणा–

सामाजिक एकता की अवधारणा समाजशास्त्रीय साहित्य में दुर्खीम का सराहनीय योगदान है। दुर्खीम के अनुसार किसी भी समाज का विकास उसकी एकता में निहित है। जब तक समाज के लोगों में एक दूसरे के प्रति लगाव नहीं होता है तब तक वे एक दूसरे के प्रति निकट आने की आवश्यकता महसूस नहीं करते किन्तु लगाव केवल समानता में ही नहीं होता है वरन् यह भिन्नता व असमानता में भी होता है जैसे भारत में जातीय, भाषायी, क्षेत्रीय, धार्मिक, सांस्कृतिक कई प्रकार की भिन्नताएँ होते हुए भी समानता यह है कि हम भारतीय समाज के अंग है। यह भिन्नता हमें साथ मिलकर कार्य करने के लिए बाध्य करती है। इस प्रकार दुर्खीम के अनुसार श्रम विभाजन में ही सामाजिक एकता छिपी हुई होती है।

सामाजिक एकता एक नैतिक घटना है। यह समाज के नैतिक आदर्शों में निहित है। यह कोई मूर्त ''दिखने वाली'' वस्तु नहीं है वरन् समाज के सदस्यों की मानसिक स्थिति में निवास करती है। यह सामूहिक चेतना की अभिव्यक्ति है। दुर्खीम का मानना है कि सामाजिक एकता की स्थिति एवं स्वरूप में जनसंख्या के आधार पर और श्रम विभाजन के स्वरूप के आधार पर परिवर्तन होते रहते हैं इसी आधार पर समाज में दो प्रकार की एकता के रूप में जन्म लेते हैं।

1. यान्त्रिक एकता

इस प्रकार की एकता सरल आदिम और प्राचीन समाजों में पायी जाती है। समूह के सदस्यों में पायी जाने वाली समानताएँ इस एकता का आधार है। इस प्रकार की एकता वाले समाजों में लोगों की परिस्थितियों एवं भूमिकाओं में विचारों, विश्वासों और जीवन शैलियों में मानसिकता, सामाजिक और नैतिकता में समानता पायी जाती है। इस प्रकार के समाजों का आकार बहुत छोटा होता है इसलिए लोगों की आवश्यकताएँ सीमित तथा समान होती है। उन पर परम्परा जनमत और धर्म का नियन्त्रण और दबाव होता है। इस प्रकार समाजों में व्यक्ति का व्यक्तित्व समूह के अस्तित्व में मिल जाता है। वह समूह के साथ यन्त्रवत् सोचता, कार्य करता एवं आज्ञाओं का पालन करता है। ऐसे समाजों में श्रम विभाजन व विरोधीकरण नगण्य होता है इसलिए इस प्रकार के समाजों को 'यान्त्रिक एकता' कहा गया हैं इस प्रकार के समाजों को 'समरूपता की एकता' वाले समाज भी कहा जाता है। ऐसे समाजों में दमनकारी कानून पाया जाता है अर्थात् आँख के बदले आँख या जान के बदले जान। ऐसे समाजों में अपराध को समाज के विरुद्ध माना जाता है इसीलिए दण्ड भी उसी अनुरूप पाया जाता है।

सावयवी एकता–

दुर्खीम के अनुसार यान्त्रिक एकता के ठीक विपरीत वाली एकता को सावयवी एकता कहा जाता है। इस प्रकार की एकता आधुनिक जटिल, विकसित और औद्योगिक समाजों में पाई जाती है। समूह के सदस्यों में पायी जाने वाली विभिन्नताएँ इस एकता का आधार होती है। इसीलिए ऐसे समाजों को विभिन्नता की एकता वाले समाज भी कहा जाता है। इस प्रकार की एकता वाले समाजों में श्रम विभाजन व विशेषीकरण की प्रधानता होने के कारण भिन्नताएँ अधिक पायी जाती है। यह भिन्नताएँ समाज में व्यक्तिगत, स्वतंत्रता को बढ़ावा देती है तथा सामूहिक चेतना की भावना को कमजोर करती है। विभिन्नता युक्त आधुनिक समाजों में लोगों की आवश्यकताओं की अधिकता होती है इसीलिए वे उनकी पूर्ति हेतु दूसरे लोगों पर अधिक निर्भर रहते हैं। श्रम विभाजन व विशेषीकरण की अधिकता के कारण व्यक्ति कम प्रकार का ही कार्य करता है और वह उसी में विशेष होता है। समाज के सदस्यों की यह पारस्परिक निर्भरता और विशेषीकरण से उत्पन्न असमानता उन्हें एक दूसरे के निकट आने के लिए बाध्य करती है जिससे समाज में एक विशेष प्रकार की एकता स्थापित होती है। इसी प्रकार की एकता को दुर्खीम सावयवी एकता कहते हैं। इसी प्रकार की एकता शारीरिक एकता के समान होती है जैसे शरीर के विभिन्न अंग एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं उसी प्रकार ऐसे समाज के भिन्न–भिन्न अंग भी एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं ऐसे समाजों में प्रतिकारी कानून पाये जाते हैं जिनमें व्यक्ति को सुधारने का मौका दिया जाता है।

ब. श्रम विभाजन के कारण–

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

अपनी पुस्तक के दूसरे खण्ड में दुर्खीम ने श्रम विभाजन के कारणों व दशाओं की व्याख्या की है। चूंकि श्रम विभाजन भी एक सामाजिक तथ्य है। अतः दुर्खीम ने इसमें कारकों की खोज भी सामाजिक जीवन की दशाओं एवं उनकी आवश्यकताओं में ही की है। दुर्खीम ने श्रम विभाजन के तीन प्रमुख कारण बताये हैं–

1. **जनसंख्या के आकार और घनत्व में वृद्धि**

दुर्खीम श्रम विभाजन का प्राथमिक कारण जनसंख्या का आकार व उसके घनत्व में वृद्धि को मानते हैं अर्थात् जैसे–जैसे समाज की जनसंख्या का आकार व घनत्व में वृद्धि होती है वैसे–वैसे श्रम विभाजन में भी वृद्धि होती है। प्राचीन समय में जनसंख्या का आकार व घनत्व कम था इसीलिए वहाँ श्रम विभाजन नगण्य सा था लेकिन जैसे–जैसे समाज की जनसंख्या का आकार व घनत्व में वृद्धि हुई वैसे–वैसे श्रम विभाजन व विशेषीकरण में भी वृद्धि हुई।

जनसंख्या वृद्धि के कारण खण्डात्मक समाज धीरे–धीरे समाप्त होने लगे और उनके स्थान पर निश्चित समाज जन्म लेने लगे जिसके कारण जनसंख्या का घनत्व भी बढ़ने लगा। दुर्खीम के अनुसार जनघनत्व भी दो प्रकार का होता है–

1. **भौतिक घनत्व–**
   इस प्रकार के जनघनत्व में व्यक्ति शारीरिक रूप से एक ही स्थान पर केन्द्रित होने लगते हैं। जैसे भारत के महानगर जहाँ पर कम स्थान पर अधिक लोग एक साथ निवास करते हैं।
2. **नैतिक घनत्व–**
   नैतिक घनत्व भौतिक घनत्व का ही परिणाम है। इसमें लोगों के सम्बन्धों में उनकी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं में वृद्धि होती है। लोगों के अन्तः क्रियाओं में वृद्धि से जटिलता उत्पन्न होती है जिसे गतिशील या नैतिक घनत्व कहते हैं। चूंकि जनसंख्या व भौतिक घनत्व में वृद्धि के कारण परस्परिक जागरूकता भी बढ़ती है जो नैतिक घनत्व को भी बढ़ाती है। नैतिक घनत्व को बढ़ाने का मुख्य कारण यातायात व दूरसंचार के साधनों में वृद्धि होना है।
3. **पैतृकता का घटता प्रभाव–**
   दुर्खीम का मानना था कि पैतृकता का जितना प्रभाव होता है परिवर्तन के अवसर भी उतने ही कम होते हैं। पैतृकता के आधार पर जब समाज में व्यवसायी अथवा कार्यों का विभाजन किया जाता है तो श्रम विभाजन को विकसित होने में बाधा उत्पन्न होती है लेकिन जब पैतृकता क्षीण होती है तो श्रम विभाजन भी उतना ही अधिक होता है उदाहरण के लिए प्राचीन समय में भारत में व्यवसाय के आधार पर जातियों का निर्माण होता था। व्यक्ति वही व्यवसाय करता था जो उसके पूर्वज करते थे ऐसी स्थिति में श्रम विभाजन कम मात्रा में पाया जाता था। लेकिन आधुनिक भारत में पैतृक व्यवसाय करना आवश्यक नहीं है इसीलिए श्रम विभाजन भी अधिक मात्रा में पाया जाता है। उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि दुर्खीम ने श्रम विभाजन के समाजशास्त्रीय कारणों को स्थापित किया तथा बताया कि जनसंख्या वृद्धि उसका मुख्य कारण हैं।

श्रम विभाजन के परिणाम–

दुर्खीम ने अपनी पुस्तक के तीसरे भाग में श्रम विभाजन के परिणामों पर चर्चा की। उनके अनुसार श्रम विभाजन के कारण समाज पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है जो निम्न है–

1. **प्रकार्यात्मक स्वतंत्रता एवं विशेषीकरण–**

श्रम विभाजन का एक प्रमुख परिणाम यह होता है कि इससे कार्यों के विभाजन के साथ–साथ कार्य करने की स्वतंत्रता और गतिशीलता में वृद्धि होती जाती है। इससे कार्यों के परिवर्तन के अवसर भी बढ़ जाते हैं अर्थात् श्रम विभाजन के परिणाम स्वरूप व्यक्ति एक ही प्रकार का कार्य करते हुए उस कार्य में विशेष विशेषज्ञ हो जाता है।

2. **सभ्यता का विकास–**

दुर्खीम के अनुसार श्रम विभाजन के कारण सभ्यता का भी विकास होता है अर्थात् जैसे–जैसे समाज में श्रम विभाजन का विकास होता है वैसे–वैसे सभ्यता का विकास होता है। अतः श्रम विभाजन का परिणाम सभ्यता का विकास भी है।

3. **सामाजिक प्रगति–**

श्रम विभाजन के कारण समाज में परिवर्तन होता है और यह परिवर्तन सामाजिक प्रगति को भी बढ़ाता है। परिवर्तन एक शाश्वत नियम है। समाज में श्रम विभाजन में भी परिवर्तन होता है उस कारण से सामाजिक प्रगति में भी परिवर्तन होता है।

4. **नवीन समूहों की उत्पत्ति और अन्तर्निर्भरता–**

दुर्खीम के अनुसार श्रम विभाजन का महत्वपूर्ण परिणाम यह भी है कि श्रम विभाजन के कारण न केवल समाज में नवीन समूहों का निर्माण होता है वरन् उनमें एक दूसरे पर निर्भरता भी बढ़ती है क्योंकि जो नवीन समूह समाज में निर्मित होते हैं वे एक विशेष प्रकार का ही कार्य करते हैं तथा उनकी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति समाज के दूसरे समूह द्वारा की जाती है। इसीलिए समाज में विभिन्न समूहों में अन्तर्निर्भरता भी बढ़ जाती है।

5. **व्यक्तिवादी विचारधारा–**

प्राचीन समाजों में श्रम विभाजन की मात्रा कम होती थी लेकिन सामूहिक चेतना अधिक माात्रा में होती थी जैसे समाज में श्रम विभाजन बढ़ता जाता है वैसे–वैसे सामूहिक चेतना में शिथिलता आती है जिसके कारण व्यक्तिवादी विचारधारा में वृद्धि होती है अर्थात् श्रम विभाजन के कारण व्यक्तिगत स्वतंत्रता व स्वार्थ में वृद्धि होती है। इस स्थिति में प्रदत्त प्रस्थिति के स्थान पर अर्जित प्रस्थिति का महत्व भी बढ़ जाता है।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

6. प्रतिकारी कानून एवं नैतिक दबाव–

श्रम विभाजन समाज की कानून व्यवस्था को भी बदल देता है। यान्त्रिक एकता वाले समाजों में जहाँ समरूपता पायी जाती है, दमनकारी कानून पाये जाते हैं किन्तु सावयवी एकता वाले समाजों, जहाँ पर विभिन्नता के कारण श्रम विभाजन अधिक होता है जिसके परिणामस्वरूप विशेषीकरण के कारण समाज में जटिलता में वृद्धि होती है ऐसे समाजों में व्यक्तिगत हितों की रक्षा के लिए प्रतिकारी कानून बनाये जाते हैं। श्रम विभाजन जहाँ एक तरफ व्यक्तिवाद को प्रोत्साहन देता है वहीं दूसरी तरफ सामूहिक हितों से सम्बन्धित नैतिकता को भी विकसित करता है जो व्यक्तिगत चेतना, स्वार्थ और स्वतंत्रता पर नियन्त्रण रखती है।

7. सावयवी सामाजिक एकता–

श्रम विभाजन के कारण सावयवी एकता स्थापित होती है जिसमें विभिन्न अंगों में परस्पर प्रकार्यात्मक निर्भरता एवं सहयोग पाया जाता है हालांकि यह विभिन्न अंग भिन्न–भिन्न प्रकार के कार्यों को सम्पादित करते हुए भी एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं।

दुर्खीम ने श्रम विभाजन की समाजशास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत करके सामाजिक अध्ययन को एक नई दिशा दी। श्रम विभाजन को आपने सामाजिक आधार पर समझाने का प्रयास किया। श्रम विभाजन को एक नैतिक आवश्यकता के रूप में प्रकट कर दुर्खीम ने इस बात पर बल दिया कि सामाजिक जीवन एक नैतिक आवश्यकता है। समाज का अस्तित्व नैतिकता पर निर्भर करता है। एकता समाज की आत्मा है जिसके अभाव में समाज निष्प्राण एवं निष्क्रिय हो जायेगा।

मैक्स वेबर 1864–1920

परिचय–

जर्मनी के महान् विचारक प्रसिद्ध राजनीतिक अर्थशास्त्री एवं समाजशास्त्री मैक्स वेबर का जन्म अप्रेल 1864 में जर्मनी के इरफूर्ट, थ्रीगिया नामक स्थान पर एक सम्पन्न परिवार में हुआ था। इनके पिता पश्चिमी जर्मनी के एक वस्त्र व्यापारी परिवार से सम्बन्धित थे। साथ ही वे जर्मनी के नेशनल लिबरल पार्टी के प्रतिष्ठित सदस्य रहे। वेबर की स्कूली शिक्षा 1882 में समाप्त हो गयी। फिर उन्होंने हाइडेलबर्ग विश्वविद्यालय में कानून की पढ़ाई प्रारम्भ कर दी। सैनिक शिक्षा समाप्ति के बाद आप बर्लिन विश्वविद्यालय में अग्रिम शिक्षा के लिये आ गये। यहाँ 1886 में उन्होंने कानून की उपाधि प्राप्त की।

सन् 1893 में मैक्स वेबर का विवाह मेरियन रिनटजर के साथ हुआ। विवाह के पश्चात् अपने माता–पिता का घर छोड़कर अपना अलग घर बसाया। उन्होंने कुछ वर्ष तक बर्लिन विश्वविद्यालय में कानून के प्रध्यापक के रूप में कार्य किया। 1894 में वेबर को फेबर्ग विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर के रूप में नियुक्ति मिली। 1897 में वेबर गम्भीर रूप से बीमार हो गये तथा चार वर्षों तक अस्वस्थ रहने के बाद 1901 में वेबर ने बौद्धिक दृष्टि से रचनात्मक काम पुनः प्रारम्भ किया। इन्होंने इटली, हालैण्ड, बेल्जियम तथा अमेरिका की यात्राएँ की। आप तीन महीने अमेरिका में रहने के दौरान वहाँ की सभ्यता व संस्कृति से बहुत प्रभावित हुए। इसी के प्रभाव के कारण इन्होंने प्रोटेस्टेण्ट इथिक्स तथा पूंजीवाद व नौकरशाही आदि विषयों पर गहन लेखन कार्य किया। 1918 में वियना विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर बन गये वहीं 14 जून 1920 में इनका देहान्त हो गया।

वेबर की प्रमुख कृतियाँ–

1. दी प्रोटेस्टेण्ट इथिक एण्ड दि स्प्रिट ऑफ कैपिटलिज्म 1904–05
2. धर्म का समाजशास्त्र 1922
3. दि हिन्दू सोशयल सिस्टम 1950
4. दि रिलिजन ऑफ चाइना 1951
5. दि एन्सिएण्ड जुडाइज्म 1952
6. दि थ्योरी ऑफ सोशल एण्ड एकानोमी आर्गेनाइजेशन 1927
7. ऐसेज इन सोशियोलोजी 1946
8. दि मैथोडोलॉजी ऑफ सोराल साइन्सेज 1946
9. दी सिटी 1913
10. जनरल इकोनॉमिक हिस्ट्री 1911
11. दि नेशनल एण्ड सोशल फाउण्डेशन ऑफ म्युजिक 1912

वेबर का प्रमुख योगदान–

1. सामाजिक क्रिया का सिद्धान्त।
2. नौकरशाही।
3. आदर्श प्रारूप की अवधारणा।
4. सत्ता की अवधारणा।
5. सामाजिक वर्ग और प्रस्थिति।
6. पद्धतिशास्त्र।
7. धर्म का समाजशास्त्र।

सामाजिक क्रिया–

मैक्स वेबर ने 'सामाजिक क्रिया' को समाजशास्त्र की विषयवस्तु मानते हुए उसे केन्द्रीय अध्ययन वस्तु माना है। वेबर ने सामाजिक क्रिया की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है। समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति को दर्शाने के लिए उन्होंने 'सामाजिक क्रिया सिद्धान्त' का सहारा लिया। उनका यह सिद्धान्त आदर्श प्रारूप का एक प्रकार है। इस सिद्धान्त को आपने अपनी पुस्तक 'सामाजिक और आर्थिक संगठन में प्रतिपादित किया।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

वेबर के अनुसार सामाजिक क्रिया सिद्धान्त को समझने से पद्धति हमें 'क्रिया' और 'व्यवहार' को समझना होगा। सामाजिक सम्बन्धों के निर्माण के लिए हमें विभिन्न लोगों से अन्तःक्रिया करना पड़ता है। इन अन्तः क्रियाओं से ही सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण होता है और सामाजिक सम्बन्धों से समाज की क्रिया के लिए चार आवश्यक तत्व है, वे हैं–

1. कर्त्ता
2. लक्ष्य
3. साधन
4. परिस्थिति

अर्थात् किसी भी क्रिया को करने के लिए एक से अधिक कर्त्ता होने चाहिए उन कर्त्ताओं का कोई लक्ष्य होना चाहिए। लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कर्त्ता के पास कोई साधन भी होने चाहिए तथा उपर्युक्त सभी के साथ सामाजिक परिस्थिति भी अनुकूल होनी चाहिए जिससे कर्त्ता लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए उचित साधनों का प्रयोग करते हुए किसी कार्य को सम्पन्न कर सके। समाजशास्त्रीय दृष्टि से सभी प्रकार की क्रियाएँ सामाजिक क्रियाएं नहीं होती हैं वरन् केवल वे क्रियाएँ ही जो अर्थपूर्ण होती है और जिनका सम्बन्ध व्यक्ति के भूतकाल, वर्तमान या भविष्य के व्यवहार से होता है, सामाजिक क्रियाएँ कहलाती है।

सामाजिक क्रिया को परिभाषित करते हुए वेबर लिखते हैं कि ''किसी क्रिया को सामाजिक क्रिया तभी कहा जा सकता है जबकि इस क्रिया को करने वाले व्यक्ति या व्यक्तियों के कारण यह क्रिया दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार द्वारा प्रभावित हो और उसी के अनुसार उसकी गतिविधि निर्धारित हो।'' इस परिभाषा से स्पष्ट है कि किसी भी क्रिया के सामाजिक क्रिया कहलाने के लिए आवश्यकता है कि हम उसमें व्यक्तियों के वैयक्तिक दृष्टिकोण को समझे। अर्थात् व्यक्ति या कर्ता उस व्यवहार का क्या अर्थ लगाता है। वेबर के अनुसार कोई भी व्यवहार या गतिविधि अपने आप में कुछ भी नहीं है, किन्तु यदि व्यवहार या क्रिया को करने में कर्ता किसी अर्थ को जोड़ता है तो वह क्रिया सामाजिक क्रिया बन जाती है। इसे हम इस गणितीय सूत्र के द्वारा भी समझ सकते हैं।

सामाजिक क्रिया = व्यवहार (गतिविधि) + कर्त्ता द्वारा दिया अर्थ

वेबर ने सामाजिक क्रिया को समझने के लिए उसके निर्वचन पर बल दिया है। इसीलिए उनके समाजशास्त्र को निर्वचनात्मक समाजशास्त्र कहा जाता है।

विशेषताएँ–

वेबर ने सामाजिक क्रिया की निम्न चार विशेषताएँ बतलाई है।

1. सामाजिक क्रिया दूसरे व्यक्तियों के भूतकाल, वर्तमान या भावी व्यवहार द्वारा प्रभावित होती है। सामाजिक क्रिया किसी न किसी सामाजिक व्यवहार से प्रभावित होती है। चाहे वह व्यवहार भूतकाल, वर्तमान या भावी किसी भी काल में किया गया हो। उदाहरणार्थ यदि कोई व्यक्ति भूतकाल में उसे दी गयी गाली का बदला लेने के लिए अपने दुश्मन के साथ मारपीट करता है तो उसकी यह क्रिया सामाजिक क्रिया कहलाएगी।
2. प्रत्येक प्रकार की क्रिया सामाजिक क्रिया नहीं है। समाज में घटित होने वाली सभी क्रियाएँ सामाजिक क्रिया नहीं होती है क्योंकि सामाजिक क्रिया की श्रेणी में वही क्रिया आएगी जिसमें एक से अधिक कर्ता एक दूसरे को अपने कार्य द्वारा प्रभावित करे। उदाहरणार्थ कोई व्यक्ति एकान्त में रहकर कार्य करता है तो उससे कोई और व्यक्ति प्रभावित नहीं होता है तो ऐसी क्रिया सामाजिक क्रिया की श्रेणी में नहीं आती है।
3. मनुष्य का प्रत्येक प्रकार का सम्पर्क सामाजिक सम्पर्क नहीं है।
   जब तक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से सम्पर्क में आने के बाद उसे प्रभावित करे तो वह सामाजिक क्रिया की श्रेणी में आएगा अन्यथा नहीं। उदाहरणार्थ यदि दो व्यक्ति आपस में टकरा कर बिना कुछ बोले और करे अपने कार्य में व्यस्त हो जाते हैं तो यह सामाजिक क्रिया नहीं कहलाएगी। यह सामाजिक क्रिया तभी कहलाएगी जब उनके बीच वाद–विवाद, बहस या मारपीट हो, क्योंकि तभी वे एक दूसरे को अपने व्यवहार से प्रभावित करते हैं।

सामाजिक क्रिया न तो अनेक व्यक्तियों द्वारा की जाने वाली एक सी क्रिया है और न ही उस क्रिया को कहते हैं जो कि केवल दूसरे व्यक्तियों द्वारा प्रभावित है।

दूसरे व्यक्तियों द्वारा एवं दूसरे व्यक्तियों के व्यवहारों द्वारा प्रभावित क्रिया में अन्तर है। जैसे कुछ व्यक्ति सड़क पर चल रहे हैं और अचानक वर्षा आ जाए और सभी अपना छाता निकाल ले तो यह सामाजिक क्रिया नहीं है क्योंकि क्रिया दूसरे व्यक्तियों से प्रभावित होकर नहीं वरन् वर्षा के कारण है। इसके ठीक विपरीत यदि किसी व्यक्ति के इशारे पर कुछ व्यक्ति नृत्य करते हैं तो उसे सामाजिक क्रिया कहेंगे क्योंकि यह किसी के कहने या इशारे करने पर की गई है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सामाजिक क्रिया समाजशास्त्र के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करती है। सामाजिक क्रिया के अध्ययन से हम यह ज्ञात कर सकते हैं कि व्यक्ति कोई भी क्रिया किन कारणों से कर रहा है और उसका समाज पर क्या प्रभाव पड़ रहा है। अर्थात् क्रियाओं के बीच कार्य कारण प्रभाव सम्बन्धों को ज्ञात किया जाता है।

सामाजिक क्रिया के प्रकार–

वेबर ने सामाजिक क्रिया के निष्पादन के आधार पर चार प्रकार की क्रियाओं का उल्लेख किया है–

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

1. तार्किक क्रिया—वेबर के अनुसार इस प्रकार की क्रिया में तर्क तथा विशिष्ट उद्देश्य को महत्वपूर्ण माना जाता है। इस प्रकार की क्रियाओं को करते समय व्यक्ति अपने लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए तर्क के आधार पर क्रिया करता है। इसीलिए वेबर इस प्रकार की क्रिया को 'लक्ष्य के प्रति अभिस्थापित' कहते हैं। उदाहरण के लिए जब कोई इन्जीनियर किसी नदी पर पुल बनाता है तो वह तर्क के आधार पर निश्चित करता है कि पुल किस स्थान पर बनाया जाए ताकि उस पुल से अधिक से अधिक लाभ मिल सके तो ऐसी क्रिया तार्किक क्रिया की श्रेणी में आती है।

2. मूल्यात्मक क्रिया—जब व्यक्ति समाज के मूल्यों से प्रभावित होकर क्रिया करता है तो ऐसी क्रिया को मूल्यात्मक क्रिया कहते हैं। वेबर इसे मूल्य के प्रति अभिस्थापित कहते हैं। इस प्रकार की क्रिया के पीछे तर्क का होना आवश्यक नहीं है वरन् नैतिकता व धर्म प्रतिमानों द्वारा निर्देशित होती है। उदाहरणार्थ जब कोई समुद्री जहाज डूब रहा होता है तो उस जहाज के कप्तान की नैतिकता होती है कि वह पहले जहाज में यात्रा करने वालों तथा उसके अधीनस्थ को बचाएगा। उसके उपरान्त स्वयं को। ऐसा करते समय वह मर जाना अच्छा समझता है न कि पहले खुद को बचाना। वह ऐसा इसीलिए करता है क्योंकि समाज के मूल्यों से वह बँधा हुआ है। अतः ऐसी क्रिया को मूल्यात्मक क्रिया कहा जाता है।

3. भावनात्मक क्रिया—इस प्रकार की क्रिया का सम्बन्ध व्यक्ति के भावनाओं से होता है। अर्थात् प्रेम, दया, घृणा, सहानुभूति तथा क्रोध आदि में आकर व्यक्ति कोई क्रिया करता है तो उसे भावनात्मक क्रिया कहा जाता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति का अपने से नियन्त्रण समाप्त हो जाता है तथा भावनाओं के अन्तर्गत वह ऐसी क्रिया करता है। उदाहरण के लिए व्यक्ति क्रोध में आकर किसी की हत्या कर दे तो ऐसी क्रिया भावनात्मक क्रिया की श्रेणी में आएगी।

4. परम्परात्मक क्रिया—इस प्रकार की क्रिया का सम्बन्ध प्राचीन काल से चली आ रही प्रथाओं, परम्पराओं आदि से होता है। अर्थात् जो सामाजिक क्रिया प्रचलित प्रथाओं, परम्पराओं आदि के प्रभाव से निर्देशित होती है तो उसे परम्परात्मक क्रिया कहा जाता है। उदाहरण के लिए मृत्युभोज जाति में विवाह आदि क्रिया को परम्परात्मक क्रिया कहते हैं।

सामाजिक क्रिया के उपर्युक्त वर्गीकरण से स्पष्ट है कि वेबर ने यह स्थापित करने का प्रयास किया कि व्यक्ति कोई भी कार्य करता है वह तर्क, मूल्य, भावों तथा परम्पराओं के वशीभूत होकर ही करता है। वेबर के अनुसार पश्चिमी देशों में तार्किक एवं पूर्व देशों में मूल्यात्मक, भावनात्मक व परम्परात्मक क्रियाएं होती है।

महत्वपूर्ण बिन्दु

- समाजशास्त्र की स्थापना 1838 में अगस्ट कॉम्ट ने की थी।
- यूरोप में बौद्धिक एवं औद्योगिक क्रान्ति के कारण ही सामाजिक विज्ञानों का विकास हुआ।
- कॉम्ट ने मानव चिन्तन की तीन अवस्थाओं धार्मिक, तात्त्विक एवं प्रत्यक्षवादी अथवा वैज्ञानिक बतायी है।
- प्रत्यक्षवाद "क्या है" का अध्ययन है।
- कॉम्ट के अनुसार समाजशास्त्र का विज्ञान बनना है तो उसे अवलोकन परीक्षण, तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक पद्धति का प्रयोग हो।
- कार्ल मार्क्स को संघर्षवादी एवं साम्यवादी विचारधारा का जनक माना जाता है।
- मार्क्स ने वर्ग निर्धारण का आधार उत्पादन के साधनों का स्वामित्व माना है।
- वर्ग संघर्ष तभी होगा जब वर्ग में वर्ग के लिए चेतना उत्पन्न होगी।
- मार्क्स के अनुसार समाज के इतिहास में हर समय में दो वर्ग रहे हैं।
- मार्क्स का मानना था कि पूंजीवादी के बाद आधुनिक साम्यवाद स्थापित होगा जो राज्य व वर्गविहीन होगा।
- इमाईल दुर्खीम को अगस्ट कॉम्ट का उत्तराधिकारी माना जाता है।
- दुर्खीम पहले समाजशास्त्री थे जिन्होंने श्रम विभाजन को सामाजिक आधार पर समझाया।
- दुर्खीम श्रम विभाजन का प्रमुख कारण जनसंख्या एवं उसका घनत्व मानते हैं।
- दुर्खीम ने दो प्रकार की एकता की चर्चा की यान्त्रिक एकता तथा सावयवी एकता।
- यान्त्रिक एकता वाले समाज में दमनकारी तथा सावयवी एकता वाले समाज में प्रतिकारी कानून पाया जाता है।
- मैक्स वेबर जर्मनी के रहने वाले थे।
- वेबर ने सामाजिक क्रिया को समाजशास्त्र की विषयवस्तु माना।
- वेबर के अनुसार सामाजिक क्रिया के लिए कर्त्ता, लक्ष्य, साधन तथा परिस्थिति का होना आवश्यक है।
- वेबर ने समाज में पायी जाने वाली चार प्रकार की तार्किक, मूल्यात्मक, भावनात्मक तथा परम्परागत सामाजिक क्रियाओं को बताया।
- वेबर के अनुसार सामाजिक सम्बन्धों के निर्माण के लिए सामाजिक क्रिया का होना आवश्यक है।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. अगस्त कॉम्ट ने समाजशास्त्र की स्थापना कब की ?
   (अ) 1830 (ब) 1838
   (स) 1842 (द) 1848
2. कॉम्ट के अनुसार चिन्तन की प्राथमिक अवस्था क्या है?
   (अ) प्रत्यक्षवादी (ब) तात्त्विक
   (स) धार्मिक (द) उपर्युक्त सभी
3. प्रत्यक्षवादी क्या है?
   (अ) समाज की धार्मिक स्थिति
   (ब) समाज की तात्त्विक स्थिति
   (स) समाज की परम्परागत स्थिति
   (द) समाज की वैज्ञानिक स्थिति
4. वेबर के अनुसार निम्न में से कौनसा कारण प्रत्यक्षवाद के अनुकूल है?
   (अ) प्रेतवाद (ब) बहुदेववाद
   (स) एकेश्वरवाद (द) अवलोकन
5. मार्क्स ने कौनसे सन् में डाक्ट्रेट की उपाधि प्राप्त की?
   (अ) 1840 (ब) 1841
   (स) 1842 (द) 1843
6. मार्क्स निम्न में से कौनसी विचारधारा के जनक माने जाते हैं?
   (अ) प्रजातांत्रिक (ब) राजतांत्रिक
   (स) समाजवादी (द) साम्यवादी
7. मार्क्स के अनुसार जिन लोगों के पास उत्पादन के साधनों का स्वामित्व नहीं होता है उसे क्या कहेंगे?
   (अ) पूंजीपति (ब) श्रमिक
   (स) राजा (द) जमींदार
8. ''दास कैपिटल'' पुस्तक के रचियता है–
   (अ) हींगल (ब) मार्क्स
   (स) वेबर (द) दुर्खीम
9. दुर्खीम ने किस पुस्तक पर डाक्ट्रेट की उपाधि प्राप्त की ?
   (अ) समाज में श्रम विभाजन
   (ब) आत्महत्या
   (स) नैतिक शिक्षा
   (द) समाजवाद
10. दुर्खीम ने श्रम विभाजन की व्याख्या किस आधार पर की ?
   (अ) आर्थिक (ब) सामाजिक
   (स) राजनीतिक (द) औद्योगिक
11. यान्त्रिक एकता है–
   (अ) समरूपता की एकता
   (ब) विभिन्नता की एकता
   (स) जटिलता की एकता
   (द) आधुनिक एकता
12. प्रकार्यात्मक स्वतंत्रता एवं विशेषीकरण किसका परिणाम है ?
   (अ) औद्योगिकरण (ब) पश्चिमीकरण
   (स) श्रम विभाजन (द) नगरीकरण
13. मैक्स वेबर किस देश के निवासी थे ?
   (अ) जर्मनी (ब) फ्रांस
   (स) अमेरिका (द) इंग्लैण्ड
14. वेबर के अनुसार सामाजिक क्रिया कर्ता के द्वारा किया गया वह व्यवहार है जो, है–
   (अ) अर्थपूर्ण (ब) उद्देश्यपूर्ण
   (स) लक्ष्यपूर्ण (द) साधनपूर्ण
15. निम्न में से कौनसी क्रिया भावनात्मक क्रिया कहलायेगी ?
   (अ) पुल निर्माण (ब) विवाह करना
   (स) चोरी करना (द) क्रोध में हत्या करना

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न

1. अगस्त कॉम्ट का जन्म फ्रांस के किस नगर में हुआ था ?
2. समाजशास्त्र के जनक कौन थे ?
3. पॉजिटिव फिलोसफी का प्रकाशन कब हुआ ?
4. धार्मिक व तात्त्विक अवस्था में किसका अभाव होता है?
5. रेमण्ड ऍरा की पुस्तक का क्या नाम है ?
6. वर्ग संघर्ष क्या है ?
7. मार्क्स के अनुसार वर्ग संघर्ष कब होता है ?
8. मार्क्स ने कितने प्रकार के समाज बताये हैं?
9. दुर्खीम का जन्म कब और कहाँ हुआ था?
10. दुर्खीम ने किस विषय पर डाक्ट्रेट की उपाधि प्राप्त की?
11. सावयवी एकता क्या है?
12. दमनकारी कानून कैसे समाजों में पाये जाते हैं?
13. मैक्स वेबर का देहान्त कब हुआ था?
14. सामाजिक क्रिया का गणितीय सूत्र लिखिए?
15. मूल्यात्मक क्रिया क्या है?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. अगस्त कॉम्ट के समाजशास्त्र के शाब्दिक अर्थ को समझाइये।
2. प्रेतवाद क्या है ?
3. अवलोकन को परिभाषित कीजिए।
4. प्रत्यक्षवाद क्या है ?

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

5. मार्क्स ने वर्ग को कैसे परिभाषित किया ?
6. वर्ग चेतना क्या है ?
7. पूंजीवाद समाज में कौनसे वर्ग है ?
8. अपने लिए वर्ग को समझाइये।
9. दुर्खीम ने समाज में श्रम विभाजन के कौन–कौनसे कारण बताये हैं?
10. यान्त्रिक एकता वाले समाज कौनसे समाज को इंगित करते हैं?
11. आधुनिक समाजों में कानून का क्या स्वरूप होता है ?
12. वेबर ने सामाजिक क्रिया को कैसे परिभाषित किया है?
13. सामाजिक क्रिया की कोई तीन विशेषताएँ बतलाइये।
14. तार्किक क्रिया को उदाहरण सहित समझाइये।
15. पूर्व देशों में वेबर के अनुसार कौनसी क्रियाएँ अधिक होती है ?

निबन्धात्मक प्रश्न

1. अगस्त कॉम्ट द्वारा दी गई चिन्तन की अवस्थाओं को समझाइए।
2. कार्ल मार्क्स के वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।
3. इमाईल दुर्खीम की श्रम विभाजन की व्याख्या क्या है ? समझाइए।
4. मैक्स वेबर की सामाजिक क्रिया सिद्धान्त को समझाइए।

उत्तरमाला–1. (ब) 2. (स) 3. (द) 4. (द) 5. (द) 6. (द) 7. (द) 8. (द) 9. (अ) 10. (ब) 11. (अ) 12. (स) 13. (अ) 14. (अ) 15. (द)

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

10. भारतीय समाजशास्त्री

अभी तक हमने जिन विचारकों के बारे में पढ़ा था वे सभी पश्चिमी देशों के थे। इस इकाई में हम उन विचारकों के बारें में जानेंगे जो भारतीय मूल के थे तथा जिन्होंने भारतीय समाज में रहकर भारतीय समाज के विभिन्न पहलुओं पर समाजशास्त्रीय अध्ययन किया।

गोविन्द सदाशिव घुर्ये (1893–1983)

गोविन्द सदाशिव घुर्ये का बौद्धिक एवं अकादमिक क्षेत्र में बड़ा नाम है। भारतीय समाजशास्त्र में इनका अपूर्व योगदान रहा है। इसीलिए इन्हें भारतीय समाजशास्त्र का जनक कहा जाता है। इन्होंने न केवल भारत में समाजशास्त्र को स्थापित किया वरन् ऐसे छात्रों को भी तैयार किया जिन्होंने देश में समाजशास्त्र के समाजशास्त्रीय शोध तथा सिद्धान्तों के द्वारा भारतीय समाजशास्त्र को मजबूती प्रदान की।

घुर्ये का जन्म 12 दिसम्बर 1893 में महाराष्ट्र के मालवा क्षेत्र के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ। वे अपने बाल्यकाल से ही प्रतिभाशाली थे। सन् 1918 में एम.ए. की परीक्षा मुम्बई के एलिफस्टन महाविद्यालय से प्रथम श्रेणी में प्राप्त की। इसके बाद इसी महाविद्यालय में प्राध्यापक के रूप में अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया। इसी दौरान इन्होंने 1919 में पैट्रिस गिडीज को मुम्बई विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र को विकसित करने का निमन्त्रण दिया। जब गिडिज ने मुम्बई में समाजशास्त्र की स्थापना की उसी दौरान घुर्ये अपने डाक्ट्रेट पद के लिए लन्दन में आ गये। जहां हैडन के निर्देशन में "रेस एण्ड कास्ट इन इण्डिया" नामक विषय पर डाक्ट्रेट की उपाधि प्राप्त की।

डाक्ट्रेट की उपाधि प्राप्त करने के पश्चात् उन्हें 1924 में मुम्बई विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र विभाग के रीडर एवं विभागाध्यक्ष पद पर नियुक्ति दी गई। 1934 में इसी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर पद पर नियुक्त हुए तथा 1959 तक लगातार प्रोफेसर पद को सुशोभित किया। सेवानिवृत्ति के बाद भी मुम्बई विश्वविद्यालय ने घुर्ये के लिए एक नया पद प्रोफेसर "एमरीटस" का सृजन किया गया।

घुर्ये की प्रमुख कृतियां

1. कास्ट एण्ड रेस इन इण्डिया 1932
2. सेक्स हेबिट्स ऑफ मिडिल क्लास पिपल 1938
3. दि एबओरिजनल्स सो–काल्ड एण्ड दियर फ्यूचर
4. कल्चर एण्ड सोसायटी 1945
5. आफ्टर ए सेन्चुरी एण्ड ए क्वार्टर 1960
6. कास्ट क्लास एण्ड ओक्युपेशन 1961
7. फैमिली एण्ड किन इन इण्डो यूरोपियन कल्चर 1962
8. सिटीज एण्ड सिविलाइजेशन 1962
9. दि शिड्युल्ड ट्राइब्ज 1963
10. दि महादेव कोलिज 1963
11. एनोटोमो ऑफ ए रूरल कम्युनिटी 1963
12. दि इण्डियन साधुज 1964
13. सोशियल टेन्शन्स इन इण्डिया 1968
14. आई एण्ड अदर एक्सप्लोरेशन्स 1973
15. विदर इण्डिया 1974
16. इण्डिया रिक्रियेट्स डेमोक्रेसी 1978
17. वैदिक इण्डिया 1979
18. दि बर्निंग केल्ड्न ऑफ दि नोर्थ ईस्ट इण्डिया

घुर्ये का योगदान–

1. भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता।
2. प्रजाति।
3. धर्म।
4. जाति एवं नातेदारी व्यवस्था।
5. आदिवासी अध्ययन।
6. ग्रामीण नगरीकरण।
7. भारतीय साधु।
8. सामाजिक तनाव।
9. भारतीय वेशभूषा।
10. संघर्ष और समन्वयता का समाजशास्त्र।

प्रजाति एवं जाति–

घुर्ये सभ्यता के विकास के अध्ययन में विशेषज्ञ थे। उनकी रुचि सभ्यताओं के तुलनात्मक अध्ययन में थी। ऐसा करने में भी उनके अध्ययन का केन्द्रीय बिन्दु भारतीय समाज ही था। भारतीय समाज में भी प्रजाति एवं जाति मुख्य थी। उन्होंने इसी बात को अपनी पुस्तक कास्ट एण्ड रेस इन इण्डिया में प्रस्तुत किया। उन्होंने प्राचीन विद्वानों द्वारा प्रस्तुत मानव जाति के अध्ययनों के आधार पर यह बताया कि भारत में इण्डो आर्यन प्रजाति 2500 ईसा पूर्व में आई थी। इस प्रजाति का धर्म वैदिक धर्म था। इस प्रजाति के लोग मुख्य रूप से ब्राह्मण थे जो गंगा नदी के मैदानी क्षेत्र में रहकर उन्होंने अपनी संस्कृति को विकसित किया। यह संस्कृति आगे चलकर हिन्दू संस्कृति के रूप में विकसित हुई।

घुर्ये प्रजाति की अवधारणा के सम्बन्ध रिजले से प्रभावित हुइ क्योंकि उसी समय प्रजाति के ऊपर रिजले की पुस्तक

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

प्रकाशित हो चुकी थी। उसी आधार पर ही रिजले ने भारत में जाति को शारीरिक लक्षणों में रक्त समूह, खोपड़ी का घनत्व, नाक की लम्बाई, चौड़ाई, आँखों की बनावट, त्वचा का रंग, कद आदि पर परिभाषित किया। लेकिन घुर्ये ने रिजले को अस्वीकार किया तथा यह स्थापित किया कि प्रजाति को जाति से नहीं जोड़ा जा सकता है।

जाति निर्धारण में शारीरिक लक्षणों, खोपड़ी का घनत्व, त्वचा का रंग आदि विभिन्नता जाति व्यवस्था के लिए उपयुक्त नहीं है, क्योंकि काली त्वचा वाला व्यक्ति किसी भी जाति का हो सकता है।

घुर्ये ने अपनी पुस्तक की शुरूआत तो प्रजाति से की लेकिन अन्त में वह प्रजाति के स्थान पर जाति पर आ गये जब उन्होंने उनकी एक अन्य महत्वपूर्ण पुस्तक जाति वर्ग व व्यवसाय में भारत में जाति व्यवस्था पर विस्तृत चर्चा की है। जाति जिसे अंग्रेजी में कास्ट कहते हैं। "कास्ट" शब्द की उत्पत्ति पुर्तगाली भाषा के कास्टा से हुई है। जिसका अर्थ मत विभेद तथा जाति से लिया जाता है। घुर्ये ने जाति व्यवस्था को अन्तर्विवाही समूह के रूप में परिभाषित किया है। अर्थात् कोई भी व्यक्ति अपनी जाति के अन्दर ही विवाह करता है। लेकिन अपनी गोत्र को छोड़कर घुर्ये ने जाति की छः प्रमुख विशेषताएँ बतलाई है जो निम्न है–

1. समाज का खण्डात्मक विभाजन

जाति व्यवस्था में भारतीय समाज को विभिन्न खण्डों में विभाजित कर दिया है। और प्रत्येक खण्ड के सदस्यों की स्थिति पद और कार्य निश्चित है। अर्थात् समाज विभिन्न जाति खण्डों में विभाजित होता है। और जातियाँ विभिन्न उपखण्डों में विभाजित होती है। उदाहरण के लिए भारत में चार प्रमुख वर्ण थे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र। ब्राह्मण वर्ण में भी कई उपखण्ड उन उपखण्ड में कई खण्ड बने होते हैं। इन खण्डों व उपखण्डों के आधार पर ही ब्राह्मणों के कार्यों का विभाजन होता है। अर्थात् कौन अध्ययन अध्यापन का कार्य, धर्मकाण्ड सम्बन्धित कार्य, पूजा अर्चना सम्बन्धित कार्य या भिक्षावृत्ति सम्बन्धित कार्यों का विभाजन होता है उसी अनुरूप उनकी समाज में प्रस्थिति प्राप्त होती है।

2. संस्तरण–

जाति व्यवस्था समाज का खण्डात्मक विभाजन करती है तो उसका तात्पर्य यह नहीं, वे सभी एक समाज है वरन् उनमें ऊँच–नीच का एक संस्तरण पाया जाता है। जाति व्यवस्था जन्म पर आधारित होती है इसलिए इस संस्तरण में स्थिरता एवं दृढ़ता देखी जा सकती है।

3. भोजन तथा सामाजिक सहवास पर प्रतिबन्ध–

घुर्ये के अनुसार जाति व्यवस्था में परस्पर जातियों में भोजन एवं व्यवहार से सम्बन्धित उनके निषेध पाये जाते हैं जातियों में ऐसे नियम हैं उसके सदस्य किन–किन जातियों के यहां कच्चा, पक्का तथा फलाहारी भोजन कर सकते हैं, किनके हाथ का भोजन कर सकते हैं, किनके यहां पानी पी सकते हैं, किनके साथ बैठकर बीड़ी–सिगरेट पी सकते हैं आदि।

4. नागरिक एवं धार्मिक निर्योग्यताएँ एवं विशेषाधिकार–

जाति व्यवस्था ने मनुष्य और मनुष्य के बीच जाति व्यवस्था के तथाकथित उच्च–निम्न के संस्तरणों को लादकर सामाजिक समानता के भाव को ठेस पहुँचाई है।

5. निश्चित व्यवसाय–

घुर्ये ने जाति की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह बतलाई है कि प्रत्येक जाति का अपना एक निश्चित व्यवसाय होता है जो पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होता रहता है। कई जातियों के नाम से ही उसके व्यवसाय का पता चलता है जाति व्यवस्था में यह नियम है कि व्यक्ति अपने जातिगत व्यवसाय को करते हुए ही अपना जीवन यापन कर सकता है। वह अपना व्यवसाय नहीं बदल सकता है।

6. विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध–

घुर्ये ने अपनी जाति की परिभाषा में ही जाति की इस विशेषता को उल्लेखित किया, जाति एक अन्तर्विवाही समूह है अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति अपनी ही जाति में विवाह करता है। हालांकि अपनी जाति में विवाह करते समय वह यह ध्यान रखता है जिस स्त्री पुरुष से वह विवाह कर रहा है वह उसी गोत्र का तो नहीं है। जिस गोत्र का वह है अर्थात् व्यक्ति अपनी गोत्र से बाहर तथा जाति के अन्दर ही विवाह करता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि घुर्ये ने जाति की विस्तृत व्याख्या की है। इसके साथ ही उन्होंने यह भी बताया कि जाति का निर्धारण जन्म से होता है इसलिए जाति एक प्रदत्त प्रस्थिति न कि अर्जित प्रस्थिति।

वर्तमान समय में जाति का निर्धारण तो जन्म से ही हो रहा है फिर भी इस व्यवस्था में कई परिवर्तन आ चुके हैं। जाति व्यवस्था में संस्तरण जैसा पहलु अब दिखाई नहीं देता है अब संस्तरण के स्थान पर जातिवाद आ गया है जिसको प्रत्येक जाति अपने आप को दूसरी जाति से श्रेष्ठ समझती है। इसी प्रकार व्यवसाय रूपी विशेषता में भी परिवर्तन आ गया है अब प्रत्येक व्यक्ति अपने परम्परागत व्यवसाय को छोड़कर नये–नये व्यवसाय कर अपनी आजीविका कमा रहा है। हमारे संविधान में भी यह प्रावधान है कि सरकार या राज्य किसी भी व्यक्ति के साथ धर्म जाति, लिंग आदि के आधार पर भेदभाव नहीं करेगा। अतः सभी जातियों को समान अधिकार है तथा किसी जाति की निर्योग्यता नहीं है। सभी जाति के व्यक्ति देश के किसी भी मन्दिर में जा सकते हैं उनको कोई रोक–टोक नहीं है। इसी प्रकार धीरे–धीरे व्यवहार सम्बन्धित प्रतिबन्ध भी समाप्त हो रहा है। व्यक्ति अपनी जाति को छोड़कर किसी भी जाति में विवाह करने के लिए स्वतंत्र है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि जाति व्यवस्था में वर्तमान में आमूल–चूल परिवर्तन हो रहा है इस व्यवस्था के

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

स्थान पर वर्ग व्यवस्था स्थापित हो रही है। इसमें विभिन्न जाति के व्यक्ति एक साथ व्यवसाय और भोजन करते हैं जिसका मुख्य कारण संविधान, नगरीयकरण, पश्चिमीकरण, शिक्षा का बढ़ावा, व्यक्तिगत स्वतंत्रता, लोकतंत्र, धार्मिक आन्दोलन, जाति पंचायतों का ह्रास, स्त्री शिक्षा का प्रसार आदि है।

डी.पी. मुकर्जी (1894–1961)

धुर्जति प्रसाद मुकर्जी जिन्हें प्यार से डी.पी. मुकर्जी कहते हैं, का जन्म 5 अक्टूबर 1894 को एक बंगाली मध्यवर्गीय परिवार में हुआ था। वे जाति से ब्राह्मण थे उनकी शिक्षा, दीक्षा कोलकाता में ही हुई थी। इतिहास उनका प्रिय विषय था। उन्होंने अर्थशास्त्र, इतिहास और राजनीतिशास्त्र में स्नातक उपाधि ली। 1920 में अर्थशास्त्र में स्नातकोत्तर उपाधि लेने के बाद वे इंग्लैण्ड चले गए और वहां अध्ययन प्रारम्भ किया, पर प्रथम विश्वयुद्ध होने के कारण उन्हें भारत लौटना पड़ा। मुकर्जी ने अपने शिक्षण कार्य को कोलकाता के बंगबासी महाविद्यालय से प्रारम्भ किया। बाद में नवस्थापित लखनऊ विश्वविद्यालय में 1922 में अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र के व्याख्याता पद पर चले गये। यहां पर व 32 वर्ष रहे जो काफी लम्बा समय था। लखनऊ विश्वविद्यालय के पहले प्रोफेसर राधाकमल मुकर्जी ही डी.पी. मुकर्जी को लखनऊ में लाये थे। 1954 में डी.पी. मुकर्जी प्रोफेसर पद से सेवानिवृत्त हो गये उसके बाद वे हेग के इन्टरनेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल स्टडीज में विजिटिंग प्रोफेसर रहे। उसके बाद उन्होंने अलीगढ़ विश्वविद्यालय में भी अर्थशास्त्र के प्रोफेसर पद पर कार्य किया।

प्रतिभा के धनी डी.पी. मुकर्जी ने न केवल समाजशास्त्र बल्कि अर्थशास्त्र, साहित्य, संगीत, कला में भी अपना योगदान दिया, लेकिन उनके योगदान से समाजशास्त्र को अधिक लाभ मिला। मार्क्सवादी विचारधारा से अत्यधिक प्रभावित हुए। इसीलिए वे अपने आप को मार्क्सवादी कहलाना अधिक पसंद करते थे। उन्होंने भारतीय समाज का विश्लेषण भी भौतिकवादी, मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य से ही किया था।

डी.पी. मुकर्जी की प्रमुख कृतियाँ–

1. व्यक्तित्व और सामाजिक विज्ञान।
2. समाजशास्त्र की मूल अवधारणाएं
3. आधुनिक भारतीय संस्कृति।
4. भारतीय युवकों की समस्याएं।
5. टैगोर एक अध्ययन।
6. भारतीय संगीत का परिचय।
7. भारतीय इतिहास पर एक अध्ययन।
8. विचार एवं प्रतिविचार 1946
9. विविधताएं 1958

इन पुस्तकों के अतिरिक्त भी डी.पी. मुकर्जी ने कई लेख व उपन्यास भी लिखे हैं।

डी.पी. मुकर्जी का प्रमुख योगदान–

1. व्यक्तित्व।
2. आधुनिक भारतीय संस्कृति।
3. परम्पराएं।
4. समाजशास्त्र की प्रकृति तथा पद्धति।
5. नये मध्यम वर्ग की भूमिका।
6. भारतीय इतिहास की रचना।
7. आधुनिकीकरण।
8. संगीत।

परम्परा एवं सामाजिक परिवर्तन–

डी.पी. मुकर्जी ने भारतीय समाजशास्त्र पर अपने विचार रखे जो बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। इन्होंने भारतीय समाजशास्त्र की विषय–वस्तु तथा अध्ययन पद्धति पर विचार किया है। इनके अनुसार भारतीय समाजशास्त्र के अन्तर्गत भारतीय परम्पराओं का अध्ययन व विश्लेषण को शामिल करना चाहिए क्योंकि परम्पराएं ही भारतीय समाजशास्त्र की विषय–वस्तु है और इन परम्पराओं का अध्ययन उनकी ऐतिहासिकता से होना चाहिए। मुकर्जी ने इस बात पर बल दिया कि समाजशास्त्र को रूपान्तरण की प्रक्रिया का विश्लेषण करके अंतिम रूप में मार्ग प्रदर्शित करना चाहिए। उनका मानना था कि भारतीय संस्कृति का विकास अनेक प्रजातियों एवं संस्कृतियों की लगातार चुनौतियों एवं उन सबके संश्लेषण के परिणामस्वरूप हुआ है। मानव तथा समाज के हिन्दू सिद्धान्त की व्याख्या करने के विचार से उन्होंने बड़े उत्साह के साथ परम्पराओं के अध्ययन का समर्थन किया। ऐसा करते समय उन परिर्वतनों का भी अध्ययन सम्मिलित है जो परम्परा में आंतरिक और बाह्य दबाव से उत्पन्न हुए हैं।

डी.पी. मुकर्जी का मानना था कि भारतीय समाजशास्त्रियों के लिए यह अच्छी बात है कि भारतीय समाज दूसरे समाजों की तुलना में कम परिवर्तित हुआ है हालांकि उनमें परिवर्तन तकनीकी परिवर्तन हुआ है। मुकर्जी भारतीय समाज के अध्ययन हेतु मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक अध्ययन के प्रयोग के पक्ष में थे। उनका मानना था कि अनुसंधान की दृष्टि से भारतीय समाज के संदर्भ में समाज व संस्कृति को समझने के लिए मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक उपागम श्रेष्ठ है। इस पद्धति के द्वारा भारत की सामाजिक वास्तविकता, विशिष्ट परम्पराओं, विशिष्ट प्रतीकों, विशिष्ट सांस्कृतिक प्रतिमानों एवं सामाजिक क्रियाओं को समझा जा सकता है।

मुकर्जी ने पश्चिमी परम्परा के आदर्श पर भारत में

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

समाजशास्त्र को ढालने के विषय में संदेह व्यक्त किया है। उनके अनुसार भारत में समाजशास्त्र की आवश्यकताओं एवं सिद्धांतों के एक पुंज (गुच्छा) के रूप में विशिष्टता रखनी चाहिए और उनकी रचना इस प्रकार से हो कि उनकी विशिष्ट व्याख्या हो सके। उनका यह भी मानना था कि भारतीय समाज विभिन्नता युक्त है इसलिए इसकी व्याख्या किसी सामान्य सिद्धान्त से नहीं हो सकती है। उन्होंने इस बात का भी घोर विरोध किया कि हमें पश्चिमी दृष्टिकोण से भारतीय समाज को समझने की कोशिश नहीं करनी चाहिए।

मुकर्जी ने 1955 में भारतीय समाजशास्त्रीय संगोष्ठी के देहरादून अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण के दौरान ''भारतीय परम्परा एवं सामाजिक परिवर्तन'' विषय पर अपने विचार रखे। उन्होंने लिखा है ''अतः हमारा प्रथम कर्त्तव्य उन सामाजिक परम्पराओं का अध्ययन करना है जिनमें हमने जन्म लिया है और जिनमें हमने जीवन व्यतीत किया है। इस कर्त्तव्य में आंतरिक और बाह्य दबावों से परम्पराओं में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन भी सम्मिलित है। बाद में दबाव अधिकतर आर्थिक है। जब तक आर्थिक शक्ति असामान्य रूप से मजबूत नहीं होती और केवल इसी के द्वारा उत्पादन प्रणालियों में परिवर्तन होता है तब तक परम्पराएं सामंजस्य करके जीवित रहती है।'' उनका मत था कि भारतीय समाजशास्त्रियों के लिए एक समाजशास्त्री होना पर्याप्त नहीं है वरन् उसे पहले एक भारतीय होना चाहिए। अपनी समाज व्यवस्था को समझने के लिए उसे जनरीतियों, रूढ़ियों एवं प्रथाओं में भाग लेना चाहिए। उसे भारत की निम्न और उच्च विधाओं का ज्ञान होना चाहिए। उच्च विधाओं के लिए उन्हें संस्कृत की उच्च एवं निम्न विधाओं के लिए स्थानीय भाषाओं का ज्ञान होना आवश्यक है।

परम्परा का अर्थ–

परम्परा जिसे अंग्रजी में Tradition कहते हैं। Tradition शब्द की उत्पत्ति Tradere शब्द से हुई है जिसका तात्पर्य है 'हस्तान्तरण करना'। अंग्रेजी के Tradition का संस्कृत भाषा में समानार्थक शब्द परम्परा है जिसका अर्थ है उत्तराधिकार। अर्थात् परम्परा का शाब्दिक अर्थ है समाज की प्रथाओं, रूढ़ियों, रीति–रिवाजों को अगली पीढ़ी को हस्तान्तरित करना। भारतीय समाज की प्राचीन परम्पराएं आज भी अस्तित्व में है हालांकि वे मौलिक रूप में नहीं है क्योंकि इतने समय बीत जाने के कारण उन परम्पराओं में बदलाव आया है। इस बदलाव का मुख्य कारण यह भी रहा है कि भारतीय समाज विभिन्न समाजों व संस्कृतियों के सम्पर्क में आया उस कारण भी भारतीय समाज की परम्पराओं में बदलाव आया है जैसे– मुगल व ब्रिटिश समाज मुख्य है।

परम्पराओं में परिवर्तन के सिद्धान्त

मुकर्जी ने भारतीय परम्पराओं में परिवर्तन के तीन सिद्धान्त बताए हैं– श्रुति, स्मृति और अनुभव। मुकर्जी का मानना था कि उच्च परम्पराएं मुख्य रूप से बौद्धिक थी जो श्रुतियों और स्मृतियों में केन्द्रित थी जिनमें वाद–विवाद, तर्क बुद्धि विचार के कारण परिवर्तन होता था। अर्थात् जो परम्पराएं श्रुति और स्मृति से निर्मित होती थी उनमें परिवर्तन बौद्धिकता के आधार पर होता था। अनुभव एक क्रान्तिकारी सिद्धान्त हैं। व्यक्तिगत अनुभव परिवर्तन का मूल कारण रहा, किन्तु वह शीघ्र ही सामूहिक अनुभव का रूप ग्रहण कर लेता है। मध्य युग से आधुनिक युग का सम्पूर्ण इतिहास अनुभव पर आधारित रहा है। यदि हम विभिन्न सम्प्रदायों और धार्मिक ग्रन्थों की उत्पत्ति ज्ञात करें तो यह पाएंगे कि उनका प्रारम्भ उनके जन्मदाता संतों के व्यक्तिगत अनुभव के कारण हुआ और बाद में वे सामूहिक अनुभव के रूप में फैल गए।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मुकर्जी ने श्रुति, स्मृति और अनुभव के आधार पर भारतीय समाज की परम्पराओं में परिवर्तन को दर्शाने का प्रयास किया है। इस सिद्धान्त से मुकर्जी ने यह स्थापित किया कि वर्तमान का अध्ययन अतीत के संदर्भ में ही हो सकता है। अतः आधुनिकीकरण को समझने से पूर्व परम्परा को समझना आवश्यक है। वे कहते हैं कि ''परम्पराएं कभी मरती नहीं है वरन् नवीन परिस्थितियों के साथ वे सामंजस्य एवं अनुकूलन कर लेती है। केवल तीव्र आर्थिक परिवर्तन ही परम्पराओं को नष्ट कर सकते हैं।''

आधुनिकीकरण के बारे में मुकर्जी लिखते हैं कि यह एक गतिशील तथ्य है, एक ऐतिहासिक प्रकिया है। परम्परा के अभाव में आधुनिकीकरण का कोई अर्थ नहीं है। यह सापेक्ष अवधारणा है और परम्परा से सम्बन्धित है उससे पृथक् और उसके विरूद्ध नहीं। परम्परा और आधुनिकता के अन्तर्खेल (Inter Play) से परम्परागत मूल्यों और सांस्कृतिक प्रतिमानों में जो फैलाव और मिश्रण होता है, वही आधुनिकीकरण है। परम्परा कोई स्थिर अवधारणा नहीं है वरन् एक गतिशील है। परम्परा आधुनिकता में बाधक तत्व नहीं वरन् उसे प्रेरित करने वाली दशा है।

परम्पराओं का द्वन्द्व–

डी.पी. मुकर्जी द्वन्द्वात्मक उपागम के समर्थक थे। द्वन्द्वात्मक उपागम यह मानता है कि किसी समाज का विकास द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया से होता है। प्रत्येक समाज में दो विरोधी शक्तियाँ अस्तित्व में रहती है, इनमें परस्पर संघर्ष होता है। इस संघर्ष का अंत एक नये समाज के रूप में होता है जो दोनों विरोधी शक्तियों का समन्वय होता है। मार्क्स इसे वाद–प्रतिवाद–संवाद के रूप में व्यक्त करता हैं। इसे त्रेत का नियम कहते हैं। किसी भी विषय का प्रारम्भ 'वाद' से होता है जो स्वयं विराधाभासों को जन्म देता है अर्थात् समाज में एक शक्ति मौजूद है तो दूसरी इसके विपरीत शक्ति भी होती है जिसे 'प्रतिवाद' कहते हैं। इन दोनों शक्तियों में संघर्ष होता रहता है। यह संघर्ष नई स्थिति को जन्म देता है जिसमें वाद और प्रतिवाद का समन्वय होता है। इस स्थिति को 'संवाद'

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

कहते हैं। संवाद कुछ समय के बाद वाद बनता है उसका प्रतिवाद उत्पन्न होता है फिर उन दोनों में संघर्ष होता है तथा पुनः उन दोनों में समन्वय होता है और एक नया संवाद स्थापित होता है। इस प्रकार समाज में विभिन्न परम्पराओं, प्रथाओं, रीति–रिवाजों आदि में भी वाद–प्रतिवाद संवाद की स्थिति होते हुए हर बार नवीन वाद स्थापित होता है इस प्रक्रिया से समाज विकास करता रहता है।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि डी.पी.मुकर्जी ने भारतीय समाज व उसके विकास को समझने के लिए परम्पराओं को महत्वपूर्ण माना है। उनके अनुसार इन परम्पराओं में श्रुति, स्मृति व अनुभव के कारण परिवर्तन होता है। साथ ही परिवर्तन के लिए परम्पराओं के मध्य होने वाला द्वन्द्व भी जिम्मेदार है।

ए.आर. देसाई (1915–1994)

अक्षय कुमार रमनलाल देसाई का जन्म 16 अप्रेल 1915 में गुजरात में नाड़ियाद कस्बे में हुआ था। यह कस्बा अहमदाबाद और वड़ोदरा के बीच स्थित था। वे जाति से नागर बाह्मण थे। इस जाति को गुजरात में समझदार जाति माना जाना था। देसाई के पिता रमनलाल वसन्तलाल देसाई उच्च कोटि के साहित्यकार थे। उनके उपन्यासों ने युवा पीढ़ी को ग्रामीण विकास कार्यों के लिए उत्साहित किया। रमनलाल जब वड़ोदरा में अधिकारी थे, उन्हें सहकारी कार्य के लिए राज्य में दौरे करने होते थे इसका लाभ उनके पुत्र अक्षय को भी मिला। दौरों के दौरान उन्होंने आम आदमी की दिक्कतों को निकटता से देखा।

देसाई ने फेबियन समाजवाद को अपने पिता से सीखा था। वड़ोदरा में उन्होंने विद्यार्थी आन्दोलनों में बड़ी सक्रियता से भाग लिया था। यहाँ उन्होंने अपनी स्कूली शिक्षा प्राप्त कर वड़ोदरा विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया लेकिन विद्यार्थी आन्दोलनों में सक्रिय होने के कारण उन्हें वड़ोदरा विश्वविद्यालय से निष्कासित कर दिया गया था। उन्होंने स्नातक की परीक्षा पास करने के उपरान्त कानून की डिग्री प्राप्त की। सन् 1946 में उन्होंने घुर्ये के मार्गदर्शन में डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त कर ली। मुम्बई विश्वविद्यालय में ही उन्होंने प्राध्यापक का कार्य आरम्भ किया। इसके बाद 1951 में वे मुम्बई विश्वविद्यालय में इसी पद पर नियुक्त हुए। आगे चलकर इसी विभाग के प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष बने। यहां से सेवानिवृत्त होने के बाद आई.सी.एस.एस.आर. (इंडियन काउंसिल ऑफ सोशल साईन्स एण्ड रिसर्च) ने उन्हें नेशनल फेलो के पद पर नियुक्त किया गया। 12 नवम्बर 1994 को इनका निधन वड़ोदरा में हुआ।

ए.आर.देसाई की कृतियाँ

1. सोशयल बैकग्राउण्ड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म 1946
2. रिसेन्ट ट्रेन्ड्स इन इंडियन नेशनलिज्म 1960
3. रूरल सोश्लोजी इन इंडियन 1969
4. स्लम्स एण्ड अरबेनाइजेशन (डि.पिल्लई के साथ)1970
5. स्टेट एण्ड सोसाइटी इन इंडिया 1975
6. पीजेन्ट् स्ट्रगल इन इंडिया 1979
7. इंडियाज पाथ ऑफ डेवलपमेंट 1984
8. अग्रेरियन स्ट्रगल्स इन इंडिया आफ्टर इंडिपेन्डेंस 1986

ए.आर.देसाई का योगदान

1. भारत में ग्राम।
2. भारतीय समाज का रूपान्तरण।
3. भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि।
4. किसान संघर्ष
5. राज्य और समाज
6. गंदी बस्तियाँ और नगरीकरण
7. राष्ट्रीय आन्दोलन

राज्य–

ए.आर. देसाई ने राज्य की अवधारणा पर चर्चा अपनी पुस्तक 'भारतीय समाज में राज्य व समाज' जिसका प्रकाशन 1975 में हुआ था, में किया। देसाई मार्क्सवादी उपागम ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से प्रभावित थे इसलिए उन्होंने राज्य को भी इसी उपागम से समझने का प्रयास किया उनका मानना था कि भारतीय समाज को पूँजीवादी बनाने का उत्तरदायित्व ब्रिटिश उपनिवेशवाद का है। आजादी के बाद भी देश को औद्योगिक बनाने के लिए राज्य ने पूँजीपतियों को पूरा प्रोत्साहन दिया।

वे यह स्वीकार करते हैं कि भारतीय राज्य कई दृष्टियों से 'पूँजीवादी राज्य' है। यह स्वयं तो सर्वहारा का शोषण करता ही है, साथ ही पूँजीपतियों के हितों की रक्षा करने में अग्रणी है। राज्य और बुर्जूआ (पूँजीपतियों) वर्ग दोनों की साजिश है कि सर्वहारा (श्रमिक) वर्ग की हालत में कोई सुधार न हो पाए। गाँवों में जो परिवर्तन का दौर चला रखा है वह केवल प्रभुत्व वर्गों के लिए ही है। इससे राज्य और बुर्जूआ वर्ग अधिक शक्तिशाली हो रहे हैं। राष्ट्रवाद के अपने अध्ययन में देसाई ने ग्रामीण सामाजिक संरचना भारत में परिवर्तन की सामाजिक तथा आर्थिक नीतियों तथा राज्य और समाज की संरचना का विश्लेषण किया।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

राज्य भी एक वर्ग है

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भी राज्य एक पूँजीपति वर्ग की तरह काम कर रहा है। वह पूँजीपतियों का हमदर्द है और उसकी प्रकृति एक वर्ग की प्रकृति की तरह है। वर्ग पूँजीपति है,सामंत है और कभी–कभी वह समाजवादी दिखाई देता है। देसाई अपनी पुस्तकों में बार–बार इस तथ्य को दोहराते हैं कि ब्रिटिश उपनिवेशवाद में राज्य पूँजीवादी था और स्वतंत्र भारत में भी यह बराबर पूँजीवादी रहा है। इस अवधि में इसने अपने पूँजीपतियों के साथ तालमेल बैठाकर अपने लक्ष्य की पूर्ति की है। इस तरह भारत में उत्पादन प्रक्रिया में राज्य का बहुत बड़ा हिस्सा है। देसाई के इस कथन से कई मार्क्सवादी और गैर–मार्क्सवादी विद्वान असहमत हैं। मार्क्सवादियों का कहना है कि उत्पादन के इस विवाद में राज्य तटस्थ हैं। राज्य पूँजीवाद को लेकर अपनी एक निजी नीति रखते हैं। ये विद्वान राज्य को या तो आधुनिक या परम्परागत मानकर छोड़ देते हैं। गैर–मार्क्सवादियों का मानना है कि राज्य पूँजीवादी वर्ग की तरह है।

रजनी कोठारी जो उदारवादी राजनीति के विद्वान रहे हैं, जो गैर–मार्क्सवादी है कहते हैं कि भारतीय राज्य एक पूँजीवादी राज्य नहीं है। लेकिन इस राज्य की पूँजीवाद के विकास में बहुत बड़ी भूमिका रही है। भारत में देखा जाए तो राज्य और पूँजीवाद का सम्बन्ध परस्पर विरोधी रहा है। इस तरह ए.आर. देसाई की मान्यता के ठीक विपरीत, रजनी कोठारी ने यह स्थापित किया कि प्रारम्भ में भारतीय राज्य पूँजीपति की गिरफ्त से दूर थे। राज्य का लक्ष्य समाज में समानता लाने का रहा है।

कोठारी का मानना था कि आपात स्थिति के बाद राज्य की प्रकृति बदल गई क्योंकि पूँजीपति वर्ग बहुत विस्तृत हो गया है। अब राज्य हाशिये पर आ गया है। ऐसी स्थिति में भारत में राज्य की प्रकृति को पूँजीवादी कहते हैं। ए.आर. देसाई की दृष्टि में राज्य पिछड़े वर्गों का शोषण करता है। संविधान ने लोगों को जो मौलिक अधिकार दे रखे हैं, लोग उनका उपयोग नहीं कर पाते हैं। राज्य कई विधियों द्वारा हिंसा के माध्यम से लोगो को अपने नियंत्रण में लाता है और उन पर दबाव डालता है। ए.आर. देसाई का मानना है कि भारत में राज्य की इस पूँजीवादी सोच के कारण ही गंदी बस्तियों, आर्थिक असमानता, किसान संघर्ष आदि को बढ़ावा मिला है। जिस कारण भारत विकास के पथ पर आगे नहीं बढ़ सका अर्थात् देसाई ने भी भारतीय समाज में राज्य की अवधारणा का विश्लेषण मार्क्सवादी उपागम से ही किया तथा यह स्थापित करने का प्रयास किया कि राज्य पूँजीपतियों के अधीन रहकर ही समाज के अन्य वर्गों का शोषण करता है।

एम.एन श्रीनिवास (1916–1999)

मैसूर नरसिम्हाचार श्रीनिवास का जन्म 16 नवम्बर 1916 मैसूर के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनकी दीक्षा ब्राह्मण परम्पराओं–ब्राह्मणत्व के प्रशिक्षण में हुई थी। उन्होंने घुर्ये के सान्निध्य में एम.ए. किया। उन्होंने एम.ए. के शोध प्रबंध में "मैसूर में विवाह और परिवार" को अपने अध्ययन का विषय बनाया। इस शोध में श्रीनिवास ने कन्नड़ भाषा बोलने वाली जातियों के विवाह और परिवार की जानकारी दी है। उन्होंने मुम्बई विश्वविद्यालय में ही "दक्षिण भारत के कुर्ग लोगों" के विषय पर डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। इसी विषय पर आपने अपनी पुस्तक–रिलिजन एण्ड सोसाइटी अमांग दि कुर्ग ऑफ साउथ इंडिया–का प्रकाशन 1952 में करवाया। यह पुस्तक काफी लोकप्रिय हुई। इस पुस्तक के कारण ही आपको ब्रिटेन जाने का अवसर प्राप्त हुआ। जहां जाकर उन्हें ब्रिटिश अकादमी की फेलोशिप मिल गई। उन्होंने ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से डी.फिल की उपाधि प्राप्त की। उन्होंने ऑक्सफोर्ड से आने के बाद वड़ोदरा विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र विभाग की स्थापना की। इसके बाद उन्होंने दिल्ली विश्वविद्यालय में भी समाजशास्त्र विभाग की स्थापना का प्रयास किया। बाद में उन्होंने बैंगलौर के इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल एण्ड इकोनोमिक चेंज में काम करना प्रारम्भ किया। उनको प्रोफेसर रहना पसन्द था। और वे वहीं पर इस पद पर रहे। यहीं पर 30 नवम्बर 1999 को उनका निधन हो गया। उन्होंने भारतीय समाजशास्त्र में वृहत समाजशास्त्रीय स्पष्टीकरणों, सूक्ष्म मानवशास्त्रीय अन्तर्दृष्टियों, समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य तथा मानवशास्त्रीय अन्तर्दृष्टियों की लघु स्तर के समुदायों को समझने के लिए सैद्धान्तिक तथा पद्धतिशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य का प्रयोग किया।

एम.एन. श्रीनिवास की कृतियां–

1. मैसूर में विवाह और परिवार 1942
2. दक्षिण भारत के कुर्ग में धर्म व समाज 1952
3. भारतीय गांव 1955
4. आधुनिक भारत में जाति और अन्य लेख 1962
5. आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन 1966
6. दि रिमेम्बर्ड विलेज 1976
7. भारत : सामाजिक संरचना 1980
8. प्रभु जाति और अन्य लेख 1987
9. दि कोहिजिवे रोल ऑफ संस्कृताईजेशन 1989

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

10. ऑन लिविंग इन ए रिवोल्यूशन एण्ड अदर ऐसेज 1972
11. विलेज, कास्ट, जेन्डर एण्ड मेथड़ 1996
12. इण्डियन सोसायटी थ्रू पसर्नल राइटिंग्ज 1996

एम. एन. श्रीनिवास का योगदान–

1. सामाजिक परिवर्तन : संस्कृतिकरण, पश्चिमीकरण, ब्राह्मणीकरण
2. धर्म और समाज
3. गांव
4. जाति
5. प्रभु जाति
6. आधुनिक भारत
7. विवाह और परिवार
8. **भारतीय सामाजिक संरचना–**

गांव– श्रीनिवास के अध्ययन का मुख्य केन्द्र भारतीय गांव था। गांव के अध्ययन की प्रेरणा श्रीनिवास को 1945–46 में रैडक्लिफ ब्राउन से मिली थी। उनकी पुस्तक रिमेम्बर्ड विलेज में आपने कर्नाटक में गांव रामपुरा के बारे में विस्तृत चर्चा की थी। इस पुस्तक की एक बड़ी रोचक कहानी है जब 1970 में श्रीनिवास ने कर्नाटक के गांव रामपुरा का अध्ययन कर वहां के तथ्यों के दस्तावेजों को पिट्सबर्ग विश्वविद्यालय में जमा करवाया उसी दौरान एक दुर्घटना के कारण वे सभी दस्तावेज जलकर राख हो गये थे। इस घटना से श्रीनिवास मायूस हो गये। उनके मित्र सोलटोक्स ने उन्हें हिम्मत दी और उन्हें इस बात के लिए प्रेरित किया कि वे अपने स्मरण के आधार पर उस गांव के बारे में लिखे। इस प्रेरणा से प्रेरित होकर ही ''रिमेम्बर्ड विलेज'' (स्मरण रखा गया गांव) नामक पुस्तक का प्रकाशन 1976 में करवाया। समाजशास्त्र ने रिमेम्बर्ड विलेज को एक शास्त्रीय ग्रन्थ माना है। यह पुस्तक पूर्ण रूप से क्षेत्रीय कार्य के आधार पर लिखी हुई थी। इस पुस्तक के कुल ग्यारह अध्याय हैं।

पहले अध्याय में उन्होंने बताया है कि इस पुस्तक को लिखने का विचार उनके मस्तिष्क में कैसे आया। गांव का चयन किसी तर्क विधि द्वारा नहीं किया गया। वास्तव में वे रामपुरा गांव से भावनात्मक रूप से जुड़े थे। इसीलिए इनका मन इस गांव का अध्ययन के लिए हुआ।

पुस्तक के दूसरे अध्याय में आपने रामपुरा गांव का परिचय दिया है साथ ही गांव के लोगों के साथ किस प्रकार सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करके तथ्यों को संग्रहित किया। इसका ब्यौरा इस अध्याय में है। इस अध्याय में श्रीनिवास ने गांव की आर्थिक स्थिति विशेष रूप से किसानों की आर्थिक स्थिति का विवरण दिया है।

पुस्तक के तीसरे अध्याय में श्रीनिवास ने गांव की सामाजिक संरचना के बारे में चर्चा की है। इसमें आपने यह स्थापित करने का प्रयास किया कि गांव की सामाजिक संरचना आर्थिक व्यवस्था से संचालित होती है।

चौथे अध्याय में गांव की कृषि के बारे में बताते हैं क्योंकि कृषि ही इस गांव के अधिकतर लोगों का मुख्य व्यवसाय है अर्थात् गांव के लोगों की आजीविका का मुख्य साधन कृषि के इर्द–गिर्द ही घुमता है।

पाँचवें अध्याय में गांव में परिवार व्यवस्था के बारे में बताते हैं कि किस प्रकार परिवार व्यवस्था संचालित होती है पुरुष और स्त्री किस भाँति अपने काम का बंटवारा करते हैं। पुरुष घर के बाहर कार्य तथा स्त्री घर के अन्दर का कार्य करती है।

छठा अध्याय श्रीनिवास की पुस्तक का केन्द्रीय अध्याय है। इस अध्याय में आप जाति व्यवस्था का विश्लेषण करते हैं। इन्होंने यह स्थापित किया कि विभिन्न जातियां जजमानी व्यवस्था के कारण एक दूसरे पर निर्भर रहती है। एक जाति का दूसरी जाति से किस प्रकार के सम्बन्ध है।

सातवे अध्याय में इन्होंने जातियों के बीच गुटबाजी के बारे में चर्चा की तथा यह स्थापित किया कि किस जातियों के मध्य संघर्ष होता है।

आठवें अध्याय में श्रीनिवास ने रामपुरा में यांत्रिक परिवर्तन के दौर के प्रभाव का अध्ययन किया। यांत्रिक परिवर्तन के कारण कृषि व्यवसाय में ट्रेक्टर, सिंचाई पम्पों व अन्य प्रकार के उपकरणों का प्रयोग हुआ जिससे किसानों की आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ।

नौवें अध्याय में रामपुरा की सामाजिक स्तरीकरण व्यवस्था को बताते हैं मित्रता का वर्णन करते हैं, लोगों के आपसी झगड़ों, अफवाहों और चौपाल पर होने वाली गप्पों का मजा लेते हैं।

दसवें अध्याय में श्रीनिवास गांव में धर्म की चर्चा करते हैं। उन्होंने वैदिक धर्म का उल्लेख नहीं किया वरन् लोग दिन–प्रतिदिन के व्यवहार में कैसे पूजा–उपासना, कौनसी देवी–देवताओं की आरती करते हैं।

अपनी पुस्तक के अन्तिम अध्याय में वे यह बताते हैं कि उस गांव को जब उन्होंने छोड़ा तो किस प्रकार भावनात्मक रूप से गांव से जुडे थे। किस प्रकार उनको गांव वालों ने विदाई दी थी।

इस पुस्तक में आपने गांव को भारतीय समाज की एक महत्वपूर्ण इकाई के रूप में स्थापित किया। उनकी मान्यता थी कि यदि हमें भारतीय समाज को समझना है तो हमें भारतीय गांव के अध्ययन पर ही अधिक बल देना होगा तभी हम भारतीय समाज को उसकी पूर्णता के रूप में समझ सकते हैं। उनका मानना था कि तकनीकी प्रगति के कारण गांवों में भी सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक व आर्थिक परिवर्तन हो रहे हैं। इन परिवर्तनों के कारण गांवों की जाति व्यवस्था, परिवार व्यवस्था तथा विवाह रूपी संस्थाओं में तो परिवर्तन हो ही रहा है व्यक्ति के व्यक्ति से सम्बन्धों में भी परिवर्तन हो रहा है।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

आर. के मुकर्जी (1889–1968)

राधाकमल मुकर्जी का जन्म 7 सितम्बर 1889 को बंगाल के मुर्शिदाबाद जिले के बरहामपुर में बंगाली ब्राह्मण परिवार में हुआ था। बरहामपुर पश्चिम बंगाल में ग्रामीण परिवेश का एक कस्बा था। उनके पिता नामी वकील थे। साथ ही वे बड़े विद्वान भी थे जिनकी रुचि इतिहास में थी। मुकर्जी की प्रारम्भिक शिक्षा बरहामपुर में हुई। वे बरहामपुर के कृष्णनाथ महाविद्यालय के बी.ए. के छात्र रहे। बाद में उन्होंने प्रेजीडेन्सी महाविद्यालय कोलकाता से इतिहास तथा अंग्रेजी साहित्य में आनर्स किया। यहीं पर इनका सम्पर्क एच.एम. पेरीवाल, अरविन्द घोष के भाई एम. घोष और भाषाविद हरिनाथ डे जैसे विद्वानों से हुआ। इन विद्वानों का मुकर्जी पर बहुत प्रभाव पड़ा। 1910 में बरहामपुर महाविद्यालय में अर्थशास्त्र के शिक्षक बने यहीं पर इन्होंने ''फाउण्डेशन ऑफ इण्डियन इकोनोमी'' पुस्तक लिखी। 1917 से 1921 तक कोलकाता विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, दर्शनशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र विषयों को पढ़ाया। यहीं पर इन्होंने ''ग्रामीण समुदाय में सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन'' पर डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की।

वर्ष 1921 में मुकर्जी लखनऊ विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र व समाजशास्त्र विभाग में अध्यक्ष पद पर नियुक्त किये गये। यहां इन्होंने लम्बे समय तक अर्थशास्त्र व समाजशास्त्र विभाग में कई शोध कार्य करवाये तथा लगभग 30 वर्ष तक यहां अपनी सेवाएँ दी। 1945 से 1947 तक वे ग्वालियर राज्य के आर्थिक सलाहकार रहे। 1955 से 1957 तक ये लखनऊ विश्वविद्यालय के कुलपति रहे। 1958 में वे लखनऊ विश्वविद्यालय के इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशयोलॉजी एण्ड ह्यूमन रिलेशन्स के निदेशक रहे। यहां इस पद पर कार्य करते हुए अगस्त 1968 में इनका निधन हो गया।

राधाकमल मुकर्जी की कृतियां–

1. दी फाउण्डेशन ऑफ इण्डियन इकॉनोमिक्स 1916
2. दी रूरल इकॉनोमी ऑफ इण्डिया 1926
3. रिजनल सोशयोलॉजी 1926
4. दी लेण्ड प्रोबल्म ऑफ इण्डिया 1927
5. इन्ट्रोडेक्शन ऑफ सोशयल साईकोलॉजी 1928
6. फील्ड एण्ड फारमर ऑफ ओउध 1929
7. दी थ्री वेस : दी वेस ऑफ ट्राससेंडालिस्ट रिलिजन एज ए सोशयल नार्म 1929
8. सोशयोलॉजी ऑफ मैसटीसीजल 1931
9. रिजनल बैलेन्स ऑफ मेन 1938
10. मेन एण्ड हीस हेबेटेशन 1940
11. इण्डियन वार्किंग क्लास 1945
12. दी सोशयल स्ट्रक्चर ऑफ वेल्यूस 1949
13. इन्टर कास्ट टेंशन 1951
14. ए जनरल थ्योरी ऑफ सोसायटी 1956
15. दी फिलोसॉफी ऑफ सोशयल साईन्स 1960
16. सोशयल प्रोफाईल ऑफ ए मैटोपॉलिस 1963
17. दी डाईमेन्शनस ऑफ ह्यूमन वेल्यूस 1964
18. दी डेसटीनी ऑफ सिविलाईजेशन 1964
19. दी वेस ऑफ ह्यूमेनीजम : ईस्ट एण्ड वेस्ट 1968

मुकर्जी का समाजशास्त्रीय योगदान–

1. भारतीय संस्कृति
2. समाज का सिद्धान्त
3. सार्वभौमिक सभ्यता का सिद्धान्त
4. आर्थिक क्रियाकलाप और सामाजिक व्यवहार
5. व्यक्तित्व, समाज और मूल्य
6. समुदायों का समुदाय
7. नगरीय सामाजिक समस्या
8. सामाजिक परिस्थितिकी

सामाजिक मूल्य–

डॉ. राधाकमल मुकर्जी सामाजिक मूल्य के विचार अपनी पुस्तकों The Structure of Social Values तथा Dimenisions of Human Values में व्यक्त किये। समाजशास्त्र में मूल्यों की अवधारणा के कारण ही मुकर्जी का नाम देश व विदेशों में विख्यात हुआ। इन्होंने अपनी पुस्तकों में मूल्यों की उत्पत्ति एवं उद्‌विकास, मूल्यों के मनोवैज्ञानिक नियमों, मूल्यों की सुरक्षा तथा मूल्यों के विभिन्न आयामों का उल्लेख किया है जिसके अन्तर्गत आपने जीव विज्ञान, मनोविज्ञान, दर्शनशास्त्र तथा तत्व मीमांसा आदि में पायी जाने वाली मूल्यों की व्याख्या प्रस्तुत की है। मुकर्जी ने मूल्यों को समझने के लिए एक अन्तः वैज्ञानिक उपागम का समर्थन किया। इनका मत है कि जब तक मूल्यों के बारे में कोई सार्वभौमिक सामान्य विचारधारा स्थापित नहीं कर ली जाती तब तक मानव समाज की वास्तविक प्रगति सम्भव नहीं है।

डॉ. मुकर्जी के योगदान के कारण ही भारत में मूल्यों का अध्ययन करने के लिए समाजशास्त्र की एक शाखा के रूप में ''मूल्यों का समाजशास्त्र'' का विकास हुआ। इसके अन्तर्गत मूल्यों व समाज का अध्ययन किया जाता है। मुकर्जी का मानना था कि विश्व के प्रत्येक समाज के अपने कुछ आदर्श होते हैं और उन्हीं आदर्शों के आधार पर समाज की प्रगति का मूल्यांकन किया जाता है।

अर्थ एवं परिभाषा–

मुकर्जी मूल्यों के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि मूल्य मानव समूहों और व्यक्तियों के द्वारा प्राकृतिक व

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

सामाजिक संसार से तालमेल करने के साधन है। मूल्य ऐसे प्रतिमानों को कहते हैं जो व्यक्तियों की विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु दिशा–निर्देश करते हैं। मूल्यों को सामाजिक अस्तित्व का केन्द्रीय तत्व भी कहा जाता है क्योंकि मूल्य है तो समाज है समाज है तो व्यक्ति। इसीलिए व्यक्ति इनकी रक्षा के लिए सदैव तत्पर रहता है। मूल्य एक प्रकार से सामूहिक लक्ष्य होते हैं जिनके प्रति सदस्यों की स्वाभाविक आस्था होती है। वे मूल्यों को 'समाज द्वारा स्वीकृति प्राप्त आकांक्षाएँ और लक्ष्य' मानते हैं।

मुकर्जी मूल्यों को परिभाषित करते हुए लिखते हैं 'मूल्य समाज द्वारा मान्यता प्राप्त इच्छाएं तथा लक्ष्य है जिनका आन्तरीकरण सीखने या समाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से होता है और जो प्राकृतिक अधिमान्यताएं मानक तथा अभिलाषाएं बन जाते हैं।'

सामाजिक मूल्यों की विशेषताएं–

मुकर्जी ने मूल्यों की जो परिभाषा दी है उसी के आधार पर मूल्यों की निम्न विशेषताएं है–

1. सामाजिक मूल्य सामूहिक होते हैं।
2. सामाजिक मूल्य सामाजिक मापक होते हैं।
3. सामाजिक मूल्यों के बारे में एकमतता पायी जाती है।
4. सामाजिक मूल्यों के पीछे भावनाएं होती हैं।
5. सामाजिक मूल्य गतिशील होते हैं।
6. सामाजिक मूल्यों में विभिन्नता पायी जाती है।
7. सामाजिक मूल्य सामाजिक कल्याण एवं सामाजिक आवश्यकताओं के लिए महत्वपूर्ण माने जाते हैं।
8. सामाजिक मूल्य सार्वभौमिक होते हैं।

मूल्यों का उद्‌भव–

मुकर्जी का मानना था कि सभी मूल्य की प्रकृति सामाजिक होती है इसीलिए मूल्यों की उत्पत्ति एक सामाजिक संरचना विशेष के सदस्यों के बीच होने वाली अन्तःक्रियाओं के परिणाम स्वरूप धीरे–धीरे होती है। मानव को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्यावरण से सन्तुलन बनाये रखना आवश्यक होता है। साथ ऐसा करते समय उसे जीवन निर्वाह के लिए अनेक समस्याओं का सामना करना पडता है। इसी दौरान उसे अनेक सामाजिक अनुभव भी होते हैं जो कि सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करते हैं। सामाजिक व्यवस्था का निर्माण सामाजिक मूल्यों पर निर्भर करता है। मुकर्जी कहते हैं कि मूल्यों की उत्पति और विकास सामूहिक सम्बन्धों की सरंचना में होता है। अतः जब भी संस्कृति में परिवर्तन होता है तब नये मूल्यों का जन्म होता है। वे लिखते हैं कि मानव मूल्यों की खोज करने वाला एवं मूल्यों का निर्माण करने वाला 'प्राणी' हैं।

मुकर्जी का मत है कि सामूहिक परिस्थितियां मूल्यों की उत्पत्ति में सहायक होती है। मानव सामाजिक जीवन में सक्रिय होता है तो उसके मन में आदर्शों एवं नैतिक तथ्यों के प्रति अधिक चेतना होती है। अतः सामूहिक अन्तःक्रिया के परिणाम स्वरूप जिन अनुभवों के आधार पर सामाजिक जीवन से जुडी अनेक चीजों का विकास होता है उनके आधार पर समूह में मूल्यों का निर्माण होता है। उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर मुकर्जी ने मूल्यों के उद्‌भव के तीन आधार बताये हैं–

1 लक्ष्य।
2 आदर्श।
3 मान्यताएं।

प्रत्येक व्यक्ति का अपना जीवन व्यतीत करने का लक्ष्य होता है लेकिन जीवन व्यतीत करने के लिए उसे मूल्यों का निर्माण करना होता है। इसी प्रकार जब वह मूल्यों को स्वीकार करता है तो वह मूल्य उसके लिए आदर्श बन जाते हैं और वह उसी के अनुरूप व्यवहार करता है। आदर्शों की स्थापना के बाद मूल्य सामूहिक मान्यताओं का रूप लेते हैं।

मूल्यों का सोपान या स्तर–

मुकर्जी का मत था कि सभी मूल्य समान स्तर के नहीं होते हैं वरन् उनमें एक स्तर देखने को मिलता है। मूल्यों का यह स्तर सामाजिक संगठन के स्तरों पर निर्भर करता है। मुकर्जी ने चार प्रकार के सामाजिक संगठनों के स्तर का वर्णन किया है–

1. भीड़–

भीड़ सामाजिक संगठन की पहली अवस्था है। यह अस्थायी समूह है जो आदिम प्रकार के सम्बन्धों तथा व्यवहारों को दर्शाती है। भीड़ में विवेक की उपेक्षा भावनाओं का आधिपत्य होता है इसमें नैतिकता का अभाव होता है और अनुकरण की प्रवृत्ति अधिक होती है। अर्थात् भीड़ भेड़ चाल पर निर्भर करती है। इस स्तर में सामाजिक मूल्य, मानदण्डों एवं आदर्शों का पूर्णतः अभाव पाया जाता है।

2. स्वार्थ समूह–

सामाजिक संगठन का दूसरा स्तर स्वार्थ समूह होता है इसका निर्माण कुछ विशिष्ट उद्‌देश्यों की प्राप्ति के लिए होता है इस कारण इसमें लोगों में मिल जुलकर कार्य करने की प्रवृत्ति विकसित होती है। जैसे श्रमिक संघ, व्यापार संघ, राजनीतिक दल, क्लब आदि इस प्रकार संगठन के अपने ही विशेष मूल्य होते हैं।

3. समाज या समुदाय–

यह सामाजिक संगठन का विस्तृत, तार्किक एवं नैतिक आधारों पर निर्मित होता है। समाज में व्यक्ति अन्य सदस्यों के हितों को ध्यान में रखकर सहयोगी व्यवहार करता है। इस प्रकार के संगठन में समानता और न्याय के मूल्य अधिक व्यक्त होते हैं और उन्हें स्वीकार भी किया जाता है।

4. सामूहिकता–

मानव संगठन का सर्वोत्तम संगठन सामूहिकता है। यह सामाजिक संगठन का सुदृढ़ और सार्वभौमिक रूप है जो उच्च

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

चेतन, अनुशासन, बौद्धिकता, विवेक एवं नैतिकता का परिणाम होता हैं इसमें मनुष्य सार्वभौमिक सामाजिक मूल्यों जैसे प्रेम, समानता, बन्धुत्व, सहयोग, सामाजिक उत्तरदायित्व आदि को स्वीकार करता है। इसमें लोगों में विश्व बन्धुत्व की भावना का विकास होता है।

मूल्यों के नियम–

मुकर्जी ने सामाजिक मूल्यों के निम्न नियम बताये हैं–

1. समाज में नियन्त्रण एवं समर्थन के कारण मानवीय प्रेरणाएं मूल्यों में परिवर्तित हो जाती है।
2. मौलिक मूल्यों की संतुष्टि हो जाने पर मानव में उन मूल्यों के प्रति उदासीनता पैदा हो जाती है। ऐसी स्थिति में समाज एवं संस्कृति में नवीन इच्छाएं, साधन एवं लक्ष्य ढूंढ़े जाते हैं जो नवीन मूल्यों को जन्म देते हैं।
3. मूल्यों के परस्पर अन्तःक्रिया के कारण वे परस्पर आपस में घुल–मिलकर अनेक प्रकार के सम्मिलन "Combinations" को उत्पन्न करते हैं।
4. कई मूल्यों में प्रस्पिर्धा के कारण उनमें संस्तरण (स्तर) उत्पन्न होता है।
5. मूल्यों में संघर्ष होने पर व्यक्ति अपने आदर्शों के आधार पर श्रेष्ठ मूल्यों का चयन करता है।
6. समाज व संस्कृति मानवीय मूल्यों को मौलिक प्रतिमान प्रदान करते हैं।
7. मूल्यों में वैयक्तिकता, विभिन्नता और अनूठापन पाया जाता है जिसका चयन व्यक्ति अपनी बुद्धि आवश्यकता, आदत, क्षमता आदि के आधार पर करता है।
8. सामाजिक पर्यावरण, समूह, संस्था आदि में परिवर्तन के साथ–साथ मानवीय मूल्यों में भी परिवर्तन होते हैं।
9. मनुष्य के आदर्श मूल्यों, बौद्धिक कलात्मक एवं धार्मिक की जड़ मानव की अन्तर्दृष्टि, परानुभूति और सहयोग में निहित होती है।

मूल्यों के प्रकार–

मुकर्जी ने मूल्यों के निम्न प्रकार बताये हैं–

1. तात्कालिक मूल्य–

समाज की तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले सामाजिक मूल्यों को तात्कालिक मूल्य कहते हैं।

2. विशिष्ट सामाजिक मूल्य–

व्यक्ति समाज की विशिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए जिन मूल्यों का निर्धारण करता है उनको विशिष्ट सामाजिक मूल्य कहते हैं।

3. सार्वलौकिक मूल्य–

ऐसे मूल्य जो समाज व व्यक्ति के जीवन को प्रभावित करते हैं और जिनका विकास सार्वलौकिक रूप से मान्य कुछ लक्ष्यों तथा आदर्शों के अनुसार होता है, वे सार्वलौकिक मूल्य कहलाते हैं।

4. अन्तर्निहित मूल्य–

जो मूल्य समाज और व्यक्ति के आन्तरिक जीवन में समाहित रहते हैं उनको अन्तर्निहित मूल्य कहते हैं।

5. आदर्शात्मक मूल्य–

जिन सामाजिक मूल्यों का विकास किसी आदर्श प्राप्ति के साधनों के रूप में होता है उन्हें मुकर्जी आदर्शात्मक मूल्य कहते हैं।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि मुकर्जी ने समाजशास्त्र की विषयवस्तु सामाजिक मूल्यों को माना है। उनका मत था कि किसी भी समाज व्यवस्था को समझना है तो हमें उस समाज के मूल्यों को समझना होगा। जिस समाज में जितने अधिक मूल्य होंगे वह समाज उतना ही अधिक विकसित होगा। उन्होंने भारतीय समाज में सामाजिक, ऐतिहासिक व सांस्कृतिक अन्तर्निर्भरता को परखने के लिए सरंचनात्मक प्रकार्यात्मक तथा तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग किया। मुकर्जी द्वारा स्थापित मूल्यों का सिद्धान्त आज भी प्रासंगिक है।

महत्वपूर्ण बिन्दु–

- भारत में समाजशास्त्र की स्थापना मुम्बई विश्वविद्यालय में सन् 1919 में हुई।
- जी.एस. घुर्ये भारत के पहले समाजशास्त्री थे।
- जी.एस. घुर्ये ने भारतीय जाति व्यवस्था पर अध्ययन किया।
- डी.पी. मुकर्जी अपने आप को मार्क्सवादी कहना पसन्द करते थे।
- मुकर्जी ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर भारतीय परम्पराओं का अध्ययन किया।
- परम्पराओं में द्वन्द्व वाद प्रतिवाद संवाद के रूप में ही होता है।
- अक्षय कुमार रमणलाल देसाई का जन्म गुजरात के वडोदरा में 16 अप्रेल 1915 में हुआ था।
- वे एक क्रान्तिकारी विचारधारा के समर्थक थे।
- देसाई ने राज्य को पूंजीपतियों का हितेषी बताया।
- एम.एन. श्रीनिवास का पूरा नाम मैसूर नरसिम्हाचार श्रीनिवास था।
- श्रीनिवास ने कर्नाटक के रामपुरा गांव के बारे में अपनी स्मरण शक्ति के आधार पर लिखा था।
- श्रीनिवास ने यह स्थापित करने का प्रयास किया कि औद्योगिकरण व यांत्रिक उपकरणों के कारण गांव की आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थिति में परिवर्तन हुआ है।
- राधाकमल मुकर्जी का जन्म 7 दिसम्बर 1889 में बंगाल के मुर्शिदाबाद जिले के बरहामपुर कस्बे में हुआ।
- उन्होंने मूल्यों के समाजशास्त्र को स्थापित किया।
- उनका मूल्यों का सिद्धान्त संरचनात्मक प्रकार्यात्मक पद्धति द्वारा स्थापित किया गया है।

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

अभ्यासार्थ प्रश्न

बहुचयनात्मक प्रश्न

1. मुम्बई विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र के प्रथम प्रोफेसर कौन थे ?
   (अ) जी.एस. घुर्ये (ब) पैट्रिस गिडीज
   (स) एम.एन. श्रीनिवास (द) ए.आर. देसाई
2. घुर्ये कब मुम्बई विश्वविद्यालय में प्रोफेसर बने ?
   (अ) 1920 (ब) 1922
   (स) 1924 (द) 1934
3. घुर्ये ने जाति की कितनी विशेषताएं बतलाई ?
   (अ) 4 (ब) 6
   (स) 8 (द) 10
4. डी.पी. मुकर्जी ने किसे समाजशास्त्र की विषयवस्तु माना है ?
   (अ) परम्परा (ब) द्वन्द्व
   (स) संस्कृति (द) आधुनिकीकरण
5. मुकर्जी ने परम्पराओं को समझाने के लिए कौनसी पद्धति का प्रयोग किया ?
   (अ) प्रकार्यात्मक (ब) संरचनात्मक
   (स) मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक
   (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं
6. परम्परा का तात्पर्य है–
   (अ) संस्कृति का हस्तान्तरण
   (ब) भौतिक वस्तुओं का हस्तान्तरण
   (स) व्यापार का हस्तान्तरण
   (द) कोई नहीं
7. ए.आर. देसाई ने किस समाजशास्त्र के सान्निध्य में डाक्ट्रेट की उपाधि प्राप्त की ?
   (अ) गिडिज (ब) घुर्ये
   (स) आर.के. मुकर्जी (द) डी.पी. मुकर्जी
8. देसाई ने राज्य को क्या माना ?
   (अ) वर्ग (ब) सरकार
   (स) संस्था (द) राजनीतिक दल
9. देसाई के अनुसार राज्य किसका हितेषी है ?
   (अ) कृषक वर्ग (ब) श्रमिक वर्ग
   (स) दलित वर्ग (द) पूंजीपति वर्ग
10. एम.एन. श्रीनिवास ने किस विषय पर डाक्ट्रेट की उपाधि प्राप्त की ?
    (अ) रामपुरा गांव
    (ब) दक्षिण भारत के ब्राह्मण
    (स) दक्षिण भारत के कुर्ग
    (द) दक्षिण भारत के दलित
11 श्रीनिवास की पुस्तक रिमेम्बर्ड विलेज कैसे लिखी ?
    (अ) तथ्यों के आधार पर (ब) पाठीय परिप्रेक्ष्य पर
    (स) क्षेत्रीय परिप्रेक्ष्य पर (द) स्मरण शक्ति पर
12. श्रीनिवास ने अपने गांव के अध्ययन में किस कारण से जाति व्यवस्था में जातियाँ एक दूसरे पर निर्भर रहती है? बताया।
    (अ) जजमानी व्यवस्था (ब) जातीय संघर्ष
    (स) आपसी सहयोग (द) कोई नहीं
13. लखनऊ विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र की स्थापना किसने की थी ?
    (अ) डी.पी. मुकर्जी (ब) आर.के मुकर्जी
    (स) एम.एन.श्रीनिवास (द) ए.आर. देसाई
14. आर.के. मुकर्जी ने किसे समाजशास्त्र की विषयवस्तु माना?
    (अ) परम्परा (ब) गांव
    (स) जाति (द) मूल्य
15. भारत में मूल्यों का समाजशास्त्र के जनक कहे जाते हैं?
    (अ) आर.के मुकर्जी (ब) डी.पी. मुकर्जी
    (स) एम.एन. श्रीनिवास (द) जी.एस. घुर्ये

अतिलघूत्तरात्मक प्रश्न–

1. जाति का अध्ययन जी.एस. घुर्ये ने कौनसी पुस्तक में किया ?
2. जाति एक अन्तर्विवाही समूह है। सही/गलत
3. किस समाजशास्त्री के प्रजाति के विचार से घुर्ये प्रभावित हुए ?
4. डी.पी. मुकर्जी ने भारतीय समाज का विश्लेषण किस परिप्रेक्ष्य से किया ?
5. डी.पी. मुकर्जी के अनुसार परम्पराओं में परिवर्तन किस आधार पर होता है ?
6. किन आधारों पर डी.पी. मुकर्जी ने भारतीय समाज में परम्पराओं में परिवर्तन को दर्शाया है।
7. आई.सी. एस.एस.आर. का पूर्ण रूप लिखिये।
8. ए.आर. देसाई की प्रथम पुस्तक का नाम बताइये ?
9. देसाई के अनुसार भारत में पूंजीवाद कब विकसित हुआ?
10. एम.एन. श्रीनिवास को किसने रामपुरा गांव पर पुस्तक स्मरण के आधार पर लिखने के लिये प्रोत्साहित किया।
11. रामपुरा गांव के व्यक्तियों का मुख्य व्यवसाय क्या था?
12. एम.एन. श्रीनिवास ने किसे भारतीय समाज का केन्द्रीय तत्व माना ?
13. आर.के मुकर्जी ने किस विश्वविद्यालय में लम्बे समय अपनी सेवाएं दी ?
14. आर.के मुकर्जी की सामाजिक मूल्यों पर प्रमुख पुस्तक कौनसी है ?
15. आर.के. मुकर्जी के अनुसार किस सामाजिक संगठन में

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

Downloaded from https:// www.studiestoday.com

सामाजिक मूल्यों का अभाव पाया जाता है ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न–

1. घुर्ये ने जाति को कैसे परिभाषित किया ?
2. घुर्ये द्वारा दी गई जाति की विशेषताओं को बताइये ?
3. घुर्ये ने प्रजाति को किस रूप में समझाया है ?
4. डी.पी. मुकर्जी के परम्पराओं के परिवर्तन के सिद्धान्त की विवेचना कीजिये।
5. मुकर्जी के अनुसार परम्पराओं में द्वन्द्व कैसे होता है ?
6. क्यों मुकर्जी ने परम्पराओं को भारतीय समाजशास्त्र की विषयवस्तु माना है ?
7. राज्य क्या है ?
8. क्या राज्य एक वर्ग है ?
9. रजनी कोठारी ने किन आधारों पर ए.आर. देसाई के राज्य की अवधारणा की आलोचना की है?
10. गांव को एम.एन. श्रीनिवास ने कैसे परिभाषित किया ?
11. गांव की विशेषताएँ बताइये ?
12. भारतीय गांवों में परिवर्तन के कारणों को बताइये ?
13. सामाजिक मूल्य को परिभाषित कीजिये ?
14. सामाजिक मूल्यों के क्या नियम होते हैं ?
15. सामाजिक मूल्यों के सोपानों का वर्णन कीजिए।

निबन्धात्मक प्रश्न–

1. जी.एस. घुर्ये के जाति सम्बन्धी विचार पर एक लेख लिखिये ?
2. डी.पी. मुकर्जी की परम्पराओं की अवधारणा पर प्रकाश डालिये ?
3. ए.आर. देसाई की राज्य की अवधारणा का समाज में भूमिका को समझाइये ?
4. 'स्मरण रखा गया गांव' नामक पुस्तक की विवेचना कीजिये?
5. आर.के. मुकर्जी के सामाजिक मूल्यों के सिद्धान्त का विश्लेषण कीजिये ?

उत्तरमाला–1. (ब) 2. (द) 3. (ब) 4. (अ) 5. (स) 6. (अ) 7. (ब) 8. (अ) 9. (द) 10. (स) 11. (द) 12. (अ) 13. (ब) 14. (द) 15. (अ)

Downloaded from https:// www.studiestoday.com